मीरा की प्रेम-साधना

[परिवर्त्तित एवं प्रवर्द्धित तृतीय सस्करण]

प्रणेता

भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव', एम्० ए०

शिक्षोपनिर्देशक, बिहार सरकार, पटना

[भूतपूर्व म० संपादक 'कल्याण', गीता प्रेस, गोरखपुर

अध्यक्ष हिन्दी विभाग, जैन कालेज, आरा

प्रिन्सिपल सच्चिदानन्द सिन्हा कालेज, औरंगाबाद]

प्रकाशक

श्रीअजन्ता प्रेस (प्राइवेट) लिमिटेड

पटना-४

परिवर्त्तित एवं प्रवर्द्धित तृतीय संस्करण
मूल्य ६)
जुलाई, १९५७ ई०

मुद्रक
श्री राजेश्वर झा
श्रीअजन्ता प्रेस (प्राइवेट) लिमिटेड, पटना-४

श्री श्रीमातृचरणकमलेषु

तृतीय संस्करण में

आज 'मीरा की प्रेम-साधना' का तीसरा सस्करण पाठको की सेवा मे प्रस्तुत करते मुझे अपूर्व आह्लाद हो रहा है। इस बीच गगा का बहुत-सा जल पुल के नीचे से बह चुका है और बहुत-सी पुरानी बाते 'पुरानी' होकर अतीत के गर्भ में विलीन हो गयी है पर यह आश्चर्य है कि मीरा मेरे लिए नित्य नई होती जा रही है ऊषा की भाँति। जितनी बार उसे देखता हूँ और देखने की लालसा बनी ही रहती है, जितना निकट आता गया और निकट आने की लालसा बढती गई है। लगता है, उसे कभी छू न पाऊँगा, पा न पाऊँगा। इसीलिए उसके बारे में सब-कुछ कहकर भी ऐसा अनुभव होता रहा है कि कहने की बात तो कही ही न जा सकी, मन की-मन मे ही रह गई। अजीब विवशता है, पर है बड़ी भारी, बडी मीठी, सर्वथा स्वसवेद्य।

इस सस्करण मे दो नये अध्याय और जुडे है। इधर मीरा पर विद्वानो का ध्यान गया है और बहुत-कुछ लिखा गया है, लिखा जा रहा है। परन्तु लगता है हम अपनी 'पडिताई' में मीरा के साथ अन्याय करते चले जा रहे हैं। उसके प्रेम-प्रवण हृदय पर पाडित्य की शल्य-चिकित्सा भयावह है, साहित्य, साधना. शील, सौन्दर्य, प्रेम, अन्त प्रेरणा, भावमाधुर्य किसी भी दृष्टि से। परन्तु आज का विद्वान् अपनी विद्वत्ता के घाट सब-कुछ उतारने पर अमादा है, परिणाम चाहे जो हो। परिणाम जो भी हो इसकी परवा न करना साहित्य-स्रष्टा और समालोचक का धर्म है, परन्तु अपने समालोच्य या वर्ण्य विषय के साथ अन्याय न होने पावे इतना तो हर हृदय रखनेवाले सुधी को सोचना ही पड़ेगा। जो वस्तु जैसी है उसे उसी रूप में भावपूर्ण ग्रहण करना साहित्य के पिपासु को शोभा देता है परन्तु, वह वैसी क्यो है ऐसी क्यो नहीं इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए मीरा क्यो आने लगी? सचमुच मीरा भाव-भक्ति से नि सृत अपने गीतो की पडिताऊ व्याख्या और समालोचना देखकर असीसती होगी विद्वान् समालोचको और धुरंधर पंडितो को। वह देखती होगी ये लोग कहाँ उसे खीचे लिये जा रहे है। परन्तु

इसका एक शुक्ल पक्ष भी तो है और वह यह कि सब की अपनी-अपनी पूजा की स्वतंत्र शैली है और जो कुछ भी चढाया जा रहा है—तुलसीदल है या विल्वपत्र—सब उपासना के प्रकार के भीतर ही है ।

इस बार यह सस्करण कुछ सज-धज कर नयनाभिराम और मनभावन ढग से प्रकाशित हो रहा है इसका सारा श्रेय श्रीअजन्ता प्रेस (प्राइवेट) लिमिटेड के सुयोग्य एव सुरुचिसम्पन्न अधिकारी श्री प० जयनाथ मिश्रजी को है, जिनकी प्रेरणा और प्रोत्साहन से ही यह अनुष्ठान सविधि सम्पन्न हुआ । प्यारे की यह वस्तु प्यारे के हाथो में सौप कर मै निश्चिन्त हूँ । जैसा कुछ हूँ उसका हूँ, जो कुछ है उसका है । यह भाव अपने-आप मे इतना आत्मसात् कर लेनेवाला है कि अन्य किसी विचार के लिए अवकाश ही नही छोडता । यही 'उस'की कृपा की महिमा है ।

इस सस्करण के मुद्रण के समय मै अपने कार्यालय के कार्यभार से इतना दबा हुआ था कि प्रूफ संशोधन के लिए समय निकालना कठिन था । इस विवश परिस्थिति में श्री शीलभद्र साहित्यरत्न ने इस कार्य मे मेरी अत्यधिक सहायता प्रदान की है । यदि उनका हार्दिक सहयोग न मिला होता तो पुस्तक अशुद्धियो से इतनी मुक्त न होती जितना पाठक इसे पा रहे है । इस सहयोग के लिए मै श्री शीलभद्र साहित्यरत्न का सदा आभारी रहूँगा ।

२।६ बेली रोड, पटना
आषाढ शुक्ला पूर्णिमा, २०१४ वि०

विनीत
माधव

लेखक

प्रकाशकीय वक्तव्य

इस ग्रथ के लेखक श्री माधव जी काशी विश्वविद्यालय से अँगरेजी और हिंदी में एम्० ए० कर चुकने के बाद देश की स्वतत्रता आन्दोलन, विशेषत: करबन्दी आन्दोलन में तीन वर्ष और फलत जेल में डेढ वर्ष रह चुकने के बाद काशी के 'सनातनधर्म' के प्रधान सम्पादक रहते हुए पूज्य मालवीय जी महाराज के चरणो का सानिध्य लाभ किया। इनके जीवन-निर्माण मे पूज्य मालवीय जी महाराज का विशेष हाथ रहा है। कुछ दिनो तक ये प्रयाग के 'चाँद' और 'भविष्य' के भी प्रधान सम्पादक रहे परन्तु इनके जीवन को वास्तविक रससिचन का अवसर मिला जब गीता प्रेस, गोरखपुर में 'कल्याण' तथा 'कल्याण कल्पतरु' (अँगरेजी मासिक पत्रिका) मे सयुक्त सम्पादक के रूप मे पूरे ग्यारह वर्ष सेवा करने का इन्हे शुभ संयोग मिला। 'कल्याण' के अनन्तर आरा जैन कालेज मे ये छह वर्षो तक हिन्दी विभाग के अध्यक्ष पद पर रहे और तदुपरान्त सच्चिदानन्द सिन्हा कालेज औरगाबाद के प्रिंसिपल पद पर पूरे सात साल। पिछले कुछ वर्ष से ये बिहार सरकार के शिक्षा विभाग में समाजशिक्षा के उपनिर्देशक तथा समाजशिक्षा बोर्ड के सचिव पद पर काम कर रहे है इनकी प्रमुख कृतियाँ है—

१. सत साहित्य, २. मीरा की प्रेम-साधना, ३ धूप-दीप, ४. मेरे जनम-मरण के साथी, ५ सत वाणी, ६. हँसता जीवन, और ७. रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना।

सतो और भक्तो के साहित्य में माधवजी का हृदय विशेष रमता है।

ये काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कोर्ट के तथा बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के सदस्य है और अखिलभारतीय समाज-शिक्षा परिषद् के सयुक्त सचिव है।

निवेदन

•मीरा की प्रेम-साधना का सौन्दर्य मेरे हृदय-मदिर का एक हँसता हुआ स्निग्ध प्रकाश है। इसकी सहायता से मैं जो कुछ देख सका हूँ उसी को आपके सम्मुख ला रखने की विनम्र चेष्टा इस छोटी-सी पुस्तक का उद्देश्य समझा जाना चाहिये। इस उद्देश्य मे मुझे सफलता कहाँ तक मिली है, यह बताना मेरा काम नही है। मैं तो अपने को इतने ही से धन्य समझूंगा कि मेरे इस प्रथम प्रयास को आप सहृदयतापूर्वक स्वीकार कर लने की कृपा करें।

अपने आदरणीय आचार्य ध्रुवजी तथा शुक्लजी को मै धन्यवाद कैसे दूँ? मेरे प्रति इन दोनो गुरुवरो के हृदय मे जो अमूल्य वात्सल्य स्नेह भरा रहता है, धन्यवाद के शब्द लिखकर, उसका मूल्य कैसे निर्धारित कर दूँ? इन्होने अपनी-अपनी ओर से 'परिचय' और 'प्रस्तावना' लिखकर मेरी इस छोटी-सी पुस्तक की महत्ता बढा दी है। इसके लिये मेरा हृदय कृतज्ञ है, पर वाणी तो मूक ही रहेगी।

हाँ, यह आवश्यक है कि इस पुस्तक में जो कुछ भल-चूक हो, मेरी या छापे की, उसके लिए मै अपने पाठको और आलोचको से नम्रतापूर्वक क्षमा माँग लूँ। बस।

असी सङ्गम, काशी
१—१—३४

माधव

द्वितीय संस्करण की भूमिका

लगभग बारह वर्ष पूर्व 'मीरा की प्रेम साधना' का प्रथम सस्करण प्रकाशित हुआ और साहि य तथा साधना के क्षेत्र में इसका बड़े उल्लास के साथ स्वागत हुआ। सबने बड प्रेम से इसे अपनाया। देश और विदेश के विख्यात विद्वानों तथा मनीषियो ने, प्रमुख पत्र-पत्रिकाओ ने मुक्तकठ से इसकी प्रशसा की और उनमें से कइयो ने निजी तौर पर पत्र लिखकर मुझे प्रोत्साहित किया। उन पत्रो और सम्मतियो को प्रकाशित कर मे पुस्तक का कलेवर बढाना नही चाहता।

मीरा के साथ मेरे अन्तर्जीवन की एक दिव्य समरसता है जो भावयोग के कारण बड़ी ही मीठी, प्यारी पर साथ ही परम रहस्यमय एवं गोपनीय है। ऐसा प्रतीत होता है कि मीरा के साथ मेरे किसी अतीत जीवन का अत्यन्त अतरंग सम्बन्ध रहा है। 'मीरा' नाम सुनते ही वह सुध हरी हो आती है। यह मादक मिठास मुझे बेहाल, बेचैन पर फिर भी 'रस' में सराबोर किए रहती हैं। परिणाम यह है कि चलता जा रहा हूँ और 'तलाश' जारी है। खोजने का अनुपम आनन्द अपने आप मे इतना नशीला होता है कि वह किसी और चाह को स्थान नही देना चाहता। इस 'खोज' मे खो जाना ही शायद साधना का चरम सौंदर्य है। अस्तु

इस बार, इस परिवर्तित और प्रवर्धित सस्करण मे कई और नये अध्याय लिखे गये और पुराने अध्यायो को भी नये सिरे से लिखा। सौ सवा-सौ और पद इस संग्रह में सकलित किये गये और उनके फुटनोट मे काफी

विस्तार हुआ। पर सच तो यह है कि मीरा पर लिखते हुए कभी भी मेरा जी न भरा, मालूम होता है बाहर ही बाहर चक्कर काटकर रह जाता हूँ और 'हृदय की बात' लिखने को रह गई। रसज्ञ पाठक मेरी बेबसी समझेंगे।

पुस्तक बडी ही अस्तव्यस्तता की अवस्था मे छपी है, अतएव इसमे छापे की बहुत भूलें रह गयी है—जिनके लिए मै पाठको से क्षमाप्रार्थी हूँ।

विन्ध्याचल
विजयादशमी, १९२७

विनीत
माधव

विषय-सूची

पद-सूची

[अकारादि क्रमानुसार]

विषय-प्रवेश

नित्य, निरजन, निर्विकल्प, अकल, अनीह, अव्यक्त ब्रह्म की भावना मनुष्य ने व्यक्त, सगुण ईश्वर के रूप में की परन्तु उसका जी न भरा, हृदय न जुडाया। वैदिक युग मे विष्णु, रुद्र, अग्नि, वरुणादि देवताओ की उपासना मे केवल 'भय' (Terror) और आश्चर्य (Wonder) ही प्रेरक-शक्ति का काम कर रहा था और भगवान् के शील, शक्ति एव सौन्दर्य-गुणों मे केवल शक्ति की ही स्वीकृति मानव ने की थी। भगवान् और मनुष्य के बीच यह भयमूलक, आश्चर्य-परक सबध कितने दिन चल सकता? पग-पग पर हम डर रहे थे कि कही हमने भूल की कि चट उधर से प्रतिकार का खड्ग चला। प्राय सभी देवताओ की उपासना इसलिए होती थी कि कहो वे असतुष्ट होकर हमारा कोई अनिष्ट न कर बैठे। इस भावना मे हृदय की कोमल वृत्तियों को आलबन मिलना तो सर्वथा असभव ही था। इन्द्र द्वेष की साक्षात् मूर्त्ति थे। यज्ञ मे विघ्न उपस्थित करना तथा तपोनिष्ठ योगियों को अप्सराओ द्वारा तपोभ्रष्ट एव योगस्खलित करना—यही उनका काम था। जहाँ हम भय से बराबर काँपते ही रहे वहाँ हम प्रेम कैसे करते? जो वस्तु शुद्ध स्नेह का पात्र नही वह उपासना के लिए कैसे ली जा सकती? जो ईश्वर हमारे पिता, माता, स्वामी, सुहृद, सखा, पुत्र अथवा भर्त्ता के रूप मे न हुआ वह हमारे हृदय के सिंहासन पर कैसे बैठ पाता?

ज्ञानाधिकरण उपनिषदो ने भी ब्रह्म और आत्मा की एकता स्थापित करते हुए उपासना के लिये कुछ व्यक्त प्रतीको को ग्रहण किया। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एव आनन्दमय कोषों मे से होती हुई आत्मा ब्रह्मानद की परम भावना में तल्लीन हो जाती है। रूप, रस, गध, शब्द, स्पर्शादि से परे रहता हुआ भी 'वह' इनमे ओत-प्रोत है। यही नही है,

इसमे 'भी' है—यही भावना उपनिषदो की है। ज्ञान की यही चरम सीमा है जहाँ अनुभूति की पराकाष्ठा और सवेदन की तीव्रता में वाणी मौन हो जाती है, हृदय रसमग्न हो जाता है। 'स मोदते मोदनीय हि लब्ध्वा।' ज्ञान का यह पथ जन-साधारण के लिए एक प्रकार बन्द-सा ही था। यह 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्ग पथस्तत् कवयोर्वदन्ति'—छुरे की धार की तरह तेज है—पग-पग पर भय बना हुआ रहता है, ऐसी ही भावना हमारी बनी रही क्योकि इस मार्ग में 'बटमारो' की कोई इति ही नही है। अस्तु, सोऽहं की अखण्ड वृत्ति हमारी कल्पना से परे की वस्तु बनी रही। क्रमश साधना का साधारणीकरण होता चला, उपासना का सुगम एवं सर्व-सुलभ पथ खोजा जाने लगा जहाँ हमारी रागात्मिका वृत्तियो के प्रश्रय एव प्रसार का भी समुचित अवसर मिल सके, साथ ही साथ हमारे आध्यात्मिक विकास का भी। प्रेम-साधना का भूखा-प्यासा, मात्र प्रेम के लिए तडपता हुआ हृदय अपने प्रेम का एक आश्रय खोज रहा था, आधार ढूँढ रहा था। ईश्वर को पकडने का हमारा यह प्रयास कितना सात्विक, कितना निश्छल था! माना कि उत्तर काल के नारायणोपनिषद्, कृष्णोपनिषद्, रामतापनी उपनिषद् आदि ग्रथो मे व्यक्त उपासना की ही विशेष पुष्टि हुई, परतु शुद्ध ज्ञानमार्ग के भीतर वासुदेव, नारायण, राम और कृष्ण भी हमारे देवकी-पुत्र, राधिका-वल्लभ, गोपी-जीवन, कौशल्यानन्दन न होकर ब्रह्म के ही व्यक्त रूप में ग्रहण किये गये और अत मे ब्रह्म ही में उनका लय हो गया। इसी लिए उपनिषदो में विमल भक्ति का लहलहाता हुआ रूप पूरी तरह निखर कर हमारे सामने नही आ पाया।

बौद्ध-धर्म की भावना ज्ञान-वैराग्य-प्रधान तथा निवृत्ति-मूलक थी। अत-एव उपासना का पौधा उसमें पनप न सका। इसके अभाव मे धीरे-धीरे उसके अनुयायी वैराग्य के मार्ग से भी च्युत हो चले। ज्ञान के दुरत्यय मार्ग मे कुछ चुने हुए ही लोग चल सकते है। जनसाधारण के लिये यह मार्ग न कभी प्रशस्त हुआ और न हो ही सकता है। बुद्धिजीवी अपने हृदय को टिकाये रखने का कोई आधार न पाकर पुन वही लौट आये जहाँ से चले थे। कहने के लिये तो बौद्ध-धर्म के ह्रास एव भारतवर्ष से उसके उन्मूलन का मुख्य कारण इसकी वेद-विमुखता एवं नास्तिकता ही मानी जा सकती है परन्तु ज्ञानसाधनो से विमुख 'भिक्खुओ' ने बौद्ध-विहारो और मठो को कामवासना का लीलास्थल बना दिया था और वे तत्र-मत्र, रसायन, हठयोग और अष्ट सिद्धियो के जंजाल मे उलझ गये थे। वस्तुतः बौद्धधर्म के अध.-

पतन एव उन्मूलन का मुख्य कारण यही हुआ। तत्त्वज्ञान के स्थान पर जब चञ्चकता आ जाती है तो धर्म की आत्मा खोखली हो जाती है और कुछ ही समय में वह धर्म अपना अस्तित्व और प्रभाव खो बैठता है।

जगद्गुरु स्वामी शकराचार्यजी ने मृतप्राय हिन्दू जाति को ज्ञान की घूँटी फिर एक बार पिलाई। साधना की चरम सीमा ब्रह्मात्मैक्य स्वीकार करते हुए तथा तत्त्वत· 'सर्व खल्विद ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन' को ज्ञान का परम साध्य मानते हुए भी स्वामी शकराचार्य ने शिव, विष्णु, वासुदेव की परब्रह्म-रूप मे उपासना स्वीकार की, जैसा उनके रचे हुए स्तोत्रो से प्रकट होता है।

स्वामी रामानुज का विशिष्टाद्वैत भी अद्वैतोन्मुखी था। उसमें भी ब्रह्मवाद की अतिम लहरो की हलचल स्पष्टत परिलक्षित हो रही थी। इस विशिष्टाद्वैत मे मानव-हृदय की साधना-वृत्ति को कुछ सहारा तो अवश्य मिला और भगवान् के साथ हम दृढता-पूर्वक दास्यभाव मे बँध तो अवश्य गये, परन्तु अन्तरतम की वृत्तियाँ प्यासी ही रह गई। हृदय की भूख तो कुछ अवश्य मिटी, परन्तु प्यास ज्यो-की त्यो बनी रही। 'प्रपत्ति' का आधार वस्तुत: बहुत बडा आधार था। पर भक्ति ज्ञान में लीन हो जानेवाली ही कही गई, साधन-मात्र ही समझी गई, स्वय भक्ति ही अपना लक्ष्य अथवा साध्य न हुई।

नर रूप मे अवतारी विष्णु के दो रूप हुए—राम और कृष्ण। स्वामी रामानुज के शिष्य स्वामी रामनदजी ने श्रीसीताराम की उपासना का मार्ग प्रशस्त किया और महामत्र 'ॐ रामाय नम' तथा 'रामनाम' को पुन प्रतिष्ठापित किया। इन्ही की शिष्य-परपरा में कबीर, रैदास, पीपा आदि निर्गुणिये भक्त हुए। इन्ही सन्त रैदास की शिष्या मीरा बाई हुई जिन्होने वल्लभ सप्रदाय के प्रभाव मे अथवा हृदय की अन्तरतम प्रेरणा मे राम के स्थान में श्रीकृष्ण को ही अपना परमाराध्य प्राणेश्वर माना। राम की उपासना में दास्य-भाव की ही विशेष परितुष्टि हो सकती है अत यहाँ सौदर्य की अपेक्षा शील एव शक्ति ने ही हमारा ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट किया। राम मे हमने अपना इष्ट तो पा लिया, परतु राम केवल प्रेम के ही पात्र न थे। उनकी शक्ति के सामने हम सिर नवाते थे। राम हमसे सटे हुए भी हमसे इतने ऊँचे है कि हमारा मस्तक उनके चरणो मे श्रद्धा एव भक्ति से झुक जाता है, केवल प्यार ही करे, उन्हे कसकर हृदय से लगा ले, अपने प्रगाढ आलिगन मे बाँध ले—ऐसा नही होता।

राम का 'रामत्व' रावण के 'रावणत्व' के विरोध मे, शबरी, अहल्या, गणिका, गिद्ध आदि के तारने मे, सुग्रीव, विभीषण, हनुमान आदि की

स्नेह-मैत्री मे तथा कैकेयी के प्रति श्रद्धा और स्नेह का भाव रखने में ही अधिक प्रफुल्लित हुआ है। जनकपुर की फुलवारी मे 'भयेउ विलोचन चारु अचचल' के चित्र को कितने झटके से हटा लिया गया है! वन जाते समय राम के रूप पर ग्राम-बधुओ के हृदय लुटाने का मनोरम दृश्य भी कितने सयम के साथ दबा दिया गया है! रूप-रस के प्यासे मानव-हृदय की रसनिष्पत्ति मे कितना बडा झटका इन दृश्यो से लगता है! हम लुभाए से, टकटकी बाँधे राम के इस मधुर रूप की ओर देखने ही लगते है, उस परम छवि को आँखो के वातायन से हृदय के मदिर मे पूरी तरह ला भी नही पाते कि राम अपने कर्त्तव्य के कठोर पथ मे चल देते है; उनका वह सुन्दर रूप हमारी ललचाई आँखो से ओझल हो जाता है, और हमारे 'कहो साँवरो सो सखि रावरो को है?' का कोई उत्तर नही मिलता। हरिदर्शन की प्यासी आँखे तडफडा कर रह जाती है। लोक-मर्य्यादा, सयम, साधुओं के परित्राण एव दुष्कृतो के विनाश की भावना ही राम मे पूर्णत प्रतिष्ठापित हुई है, पावन ही मगल है, श्रेय ही प्रेय है, कर्त्तव्य ही प्रेम है—यही राम के लोकोत्तर चरित का आदर्श है। हम राम के सेवक तो हो जाते है, परतु स्वामी का चरित्र इतना उन्नत, इतना पावन एव उच्च है कि सखा होने के लिए हमारा हृदय प्रवृत्त ही नही हो पाता। जीवन का एक बहुत बड़ा अभाव रह ही जाता है। भगवान् राम का चरणामृत तो हमे प्राप्त हो जाता है परन्तु भक्त का प्रेमी हृदय तो भगवान् के अधरामृत के लिये व्याकुल था,—वह अपने स्वामी को केवल स्वामी के रूप में ही पाकर कैसे संतुष्ट होता? वह तो उसे अपनी दोनो भुजाओ में बाँध कर उसका अधरामृत पान करना चाहता था। इस प्रकार, जी की कलक बनी ही रही।

दास्य मे 'दूरत्व' का जो भाव हमारे भीतर घर किये हुए है उसको कुछ प्रवाह मिलना अनिवार्य्य था। सख्य, वात्सल्य एव माधुर्य भाव मे दूरत्व का क्रमश लोप हो जाता है; यहाँ तक कि परम भाव में तो 'दो का एक' तथा 'एक ही का दो' स्पष्टत स्थापित हो जाता है। इस प्रकार, हृदय की सभी वृत्तियो के रमने का पूरा-पूरा अवकाश एव क्षेत्र कृष्ण मे मिला। तुष्टि तथा अभिलाषा के सभी उपादान कृष्ण मे विद्यमान है। शाल और शक्ति की पराकाष्ठा दिखाते हुए भी सौंदर्य की ही ओर हमारा ध्यान विशेष खिचा। यशोदा के आँगन मे किलकारियाँ छोडते हुए, 'घुटुरन चलत रेनु तन मडित मुख दधि लेप किए'—रूप पर सहज ही हमारा हृदय निछावर हो गया।

अवस्था बढती है और अवस्था के साथ नटखटी भी । गोप
गोचारण मे सजल-श्यामल मेघो के पीछे दौडते, सखाओं से दाँव ल...
की तान पर स्वयं नाचते तथा गोपियो को नचाते हुए कृष्ण का वह मोहक
रूप हमारे सम्मुख उपस्थित होता है जो विश्व मे सचमुच अद्वितीय है,
एकदम निराला है ।

वल्लभ, मध्व, निम्बार्क, हित हरिवंश तथा चैतन्य को इसी मधुर
मनोहर श्यामल किशोर त्रिभुवनमोहन रूप ने आकृष्ट किया—जिसकी प्रेम-
दार्शनिकता को जयदेव और विद्यापति तथा चण्डीदास ने अपने प्रणय-गीतों
में परम भाव की माधुर्य-रति को अंकित किया । श्री चैतन्यदेव ने प्रेम का
जो स्रोत बहाया, जयदेव तथा विद्यापति और चडीदास ने अपने प्रेमोन्माद-
पूर्ण सुललित गीतो मे जिसे गाया, वही दिव्य प्रेम-सगीत-धारा नवद्वीप से
मिथिला की अमराइयो मे होती हुई ब्रज मे अपने प्राण-वल्लभ की सुमधुर
झाँकी से अनुप्रणित होकर राजस्थान मे पहुँची । गीत-काव्य का यह प्रवाह
सर्वथा निराला है । प्रेम और आनद का यह उमडता हुआ, उछलता हुआ
स्रोत मीरा के हृदय मे जा मिला । मीरा ने प्रेम के पथ मे सर्वात्म समर्पण
कर, श्रीगिरिधर गोपाल को अपना प्राण-वल्लभ प्रियतम पति मान कर,
अपने जीवन को, अपने जीवन की सभी आकाक्षा एव अभिलाषा को श्रीकृष्णा-
र्पण कर दिया । 'पिया की सेज' सूली के ऊपर होते हुए भी वह महामिलन
के आनदमधु को छक कर पी सकी और अपन प्राणप्यारे को पिला भी सकी ।

परम भाव की इस परपरा मे श्रीकृष्ण की प्रेममयी मूर्त्ति को ही लेकर
प्रेम-तत्त्व की बडे विस्तार के साथ व्यजना हुई है और इसी हेतु भगवान्
श्रीकृष्ण का यह मोहक रूप मानव-हृदय को अनादि काल से आकृष्ट करता
आया है । मेरे परम श्रद्धेय गुरुदेव परम वैष्णव साधु श्रीकृष्णप्रेम जी (काशी
हिन्दू विश्वविद्यालय के अग्रेजी विभाग के भूतपूर्व प्रोफेसर रोनाल्ड निक्सन)
ने भी अपने जीवन को भगवान् श्रीकृष्ण के चरणो मे सर्वभावेन समर्पित
करते हुए कविवर कीट्स (Keats) के शब्दो मे कुछ परिवर्त्तन कर अपनी
प्रेम-भावना की अनन्यता को बडे ही सुदर अथच मधुर शब्दो में व्यक्त
किया है—

> "Krishna is God, God Krishna, that is all
> Ye know on earth and all ye need to know."

अर्थात् कृष्ण ही भगवान् हैं और भगवान् स्वय श्रीकृष्ण हैं—इतना ही
हम जानते हैं और इतना ही जानने की आवश्यकता भी है ।

शरद ज्योत्स्ना से पुलकित मधु-यामिनी मे जब समस्त चर-अचर इस मधु-वर्षा मे आनन्दविभोर थे, समीर मन्थर गति से धीरे-धीरे बह रहा था, यमुना तट पर खडे होकर, ललित त्रिभगी वेश मे मदनमोहन श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण अपनी मुरली की टेर से सहस्र सहस्र गोपियो को आकृष्ट करते है। 'नाम समेत कृत सकेत वादयते मृदु वेणुम्' गोपियाँ जो जैसी है वैसी ही मुरली की जादूभरी ध्वनि सुन कर श्रीकृष्ण से मिलने के लिए विह्वल होकर दौडती है। जड और चेतन को पागल बना देनेवाली रहस्यमयी, सकेतभरी शरद् की चाँदनी छिटकी हुई है। ज्योत्स्ना-प्लावित अर्ध रात्रि मे यमुना के सैकत पुलिन पर रास का समारोह होता है। बीच मे राधा और कृष्ण की युगल जोडी है; चारो ओर गोपियाँ और प्रत्येक 'गोपी' के साथ कृष्ण। परम भाव का उत्कृष्ट, उत्फुल्ल मधु-मदिर मादक लास्य!!

× × ×

हम भागते जा रहे है, 'वह' हमारा पीछा करता आ रहा है। हम आवरण मे रहना ही पसद करते है, 'वह' हमे अनावृत कर छोड़ने पर ही तुला हुआ है। आखिर, उसके ही हठ की जीत होती है और अत मे 'वह' हमारे आवरण को हटाकर ही चैन लेता है। यही 'चीरहरण' है। ठीक इसी भाव को परम भावुक आत्मदर्शी अग्रेज कवि टाम्सन् (Francis Thompson) ने अपनी सुविख्यात कविता 'स्वर्ग के अहेरी' (Hound of Heaven) मे व्यक्त किया है—'वह' हमारा पीछा करता आ रहा है—हम भागते जा रहे है, 'उस' के चरणो की चाप स्पष्ट सुनाई पड रही है—

'I fled Him down the nights
and down the days
I fled Him down the arch of Time'

परतु अत मे 'वह' हमे 'ग्रस' लेता है और बोल उठता है—

'Ah! fondest, blindest, weakest
I am He whom thou seekest
Thou drivest love from thee who drivest Me

अरे ओ भोले मानव! तू कहाँ भागा जा रहा है? मै अब तुझे छोडने का नही। अरे ओ पागल, ओ अधे, ओ दुर्बल प्राणी! मै वही हूँ जिसे तू खोज रहा था—मुझसे अब भाग कर तू कहाँ जायेगा? मै तुझे अपनाकर ही चैन लूँगा, आत्मसात् कर लूँगा। जितना हम 'उस' के लिए व्याकुल नही

है उतना व्याकुल 'वह' है हमारे लिए। भय हमें यह है कि 'उसे' पाकर हमारा 'अह' रह कहाँ सकेगा; हम अपने 'मै' को कैसे बनाये रख सकेंगे? परतु 'वह' तो हमारे हृदय का बन्दी बनने के लिए व्याकुल है। उसकी इस तीव्र उत्सुकता की कोई सीमा नही। जिसने उसे पाने की तनिक भी चेष्टा की, आतुर विह्वल हृदय से एक बार भी प्रेमपूर्वक उसे पुकारा कि वह उसके हाथ आ गया! हमारा उसका अनत और अविच्छिन्न मिलन हो रहा है। प्रत्येक वस्तु एव क्रिया मे 'वह' और मेरा 'मै' मिल रहे है। यह पृथ्वी, ये असख्य नक्षत्र यह अनन्त सागर ये दिशाएँ हमारे इस' महामिलन' की साक्षी है। अब हम 'उसे' जाने भी कैसे दे?

"I have caught Thee by my hand
I will not let Thee go"

मैंने तुझे अब पकड लिया है—अब तुझे जाने न दूँगा। हमारे इस महा-मिलन का माधुर्य्य विरह मे अत्यधिक प्रस्फुटित एव उच्छ्वसित हो उठता है। प्रतिपल विरह की उद्दीपना मे हमारा हृदय अपने 'प्राणाराम' के लिए आहे भरता है, तूफान मे समुद्र की भाँति। आहो के उस सघन कुज के भीतर प्रेम की अल्हड मृगछौनी उल्लसित साधो पर चौकडी भरती रहती है। यह विरह ही प्रेम की सजीवनी है। रास की फाँस मे गापियो को डालकर, मिलन-माधुरी का कुकुम राधा के हृदय पर छिडक कर नटवर छोडकर चले गये। गोपियाँ तडपती रह गई, राधा कुहुँकती रह गई! वह 'निठुर' न लौटा—न लौटा! 'जोग' की आँधी लाकर उद्धव ने धुँधुआती विरह-ज्वाला को धधका दिया! प्रेम की बंसी में गोपियो के हृदय को उलझाने की यह निष्ठुर क्रीडा! विरह की यह ज्वाला ही, वेदना का यह उद्दीप्त शृगार ही भक्तो का प्राण है, जिसमे अहर्निश जलते-तपते हुए भी वे इससे बाहर आना नही चाहते। दर्द-ये-दिल का यह अहवाल दुनियाँ क्या समझे, समझने ही क्यों जाय?

"हे री मैं तो दरद-दिवाणीं,
मेरा दरद न जाणे कोय
सूली ऊपर सेज पिया की
मिलणो किस बिध होय?"

शृंगार के मनोभाव

सुनु सखि पिउ मँह जिउ बसै,
जिउ मँह बसै कि पीउ ?

—कबीर

"Love is ever young, and it ever renews itself in fresh rosy colours; and hence Sree Krishna is the Eternal Masculine and Sree Radha is the Eternal Feminine in the enjoyment of Eternal Youth."

—विजयकृष्ण गोस्वामी

शृङ्गार विश्व का आदि रस है। सृष्टि का विकास शृङ्गार का विलासमात्र है। ब्रह्म की 'एकोऽहं बहुस्याम्' की अतृप्त पिपासा के अन्तस में शृङ्गार का ही मधु छलका है। वाणी एव मन से अप्राप्य उस 'परम रूप' को स्वय अपनी छवि की परछाही देखने की उत्कण्ठा जगी और प्रकृति का महारास प्रारम्भ हुआ, विश्व का रगमंच नाच उठा। आदि पुरुष की यह आदि वासना ही सृष्टि का मूल कारण है। 'एक' से 'बहु' हो जाने की वही वासना चर-अचर जीवमात्र में किलक रही है। मानव-हृदय की ही नही, सभी जीवधारियो की यह एक अव्यक्त, अतृप्त लालसा है। अपने अधूरेपन का अनुभव करते हुए वह अपने अभाव की पूर्ति के लिए व्याकुल रहता है। इस अभाव की पूर्त्ति नाना रूप से करने की चेष्टा होती है। सुधाशु अपने रूप-लावण्य की पराकाष्ठा पर आकर समुद्र का हृदय डावाँडोल कर देता है, आन्दोलित, उद्वेलित कर डालता है। पूर्णिमा की अर्द्ध रात्रि में समुद्र के अन्त.स्तल में जो हलचल उठती है, जो तूफान खड़ा होता है, चन्द्र-किरणो को चूमकर चाँद को अपने हृदय के हृदय मे

बन्द कर लेने की जो तीव्र उत्कठा उस विक्षुब्ध समुद्र के अतल हृदयतल मे व्याप्त है, वह अखिल चराचर की मूल वासना का एक चिरन्तन प्रतीक एव प्रमाण है।

'तद्यथा प्रियया स्त्रिया सपरिष्वक्तो न बाह्य किचन वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुष: प्राज्ञानेनात्मना सपरिष्वक्तो न बाह्य किचन वेद नान्तरम्। तद्वा अस्य एतदाप्तकाम आत्मकाम अकाम रूपम्—बृहदारण्यक ४. ३ २९।

जिस प्रकार पत्नी के प्रगाढ परिरम्भन मे पति अपनी बाह्य और आन्तरिक सज्ञा खो देता है उसी प्रकार परम प्रियतम परमात्मा के आलिंगन-रस को पाकर आत्मा अपने आपको खो बैठती है।

बाल उषा की कोमल अरुण किरणें कमल का द्वार खोल देती हैं। मलयानिल सारी वसुन्धरा मे एक विचित्र उन्माद उडेलता हुआ समस्त जीवधारियो के हृदय मे एक गहरी व्यथा की टीस जगा जाता है और कोकिला के आग भरे मीठे गीत में विश्व-वेदना अपना सगीत छेड देती है। मजरियो से झुकी हुई अमराइयो एव फूलो से लदी हुई लता-बल्लरियो मे मधुमास के नीरव सगीत को कौन नही सुनता ? कोकिला की प्रथम कूक में उसके आग भरे, दर्द भरे दिल की अतुल व्यथा में वसुधा का अभाव भरा शृङ्गार परिलक्षित हो रहा है।

जहँ देखों तहँ एक ही साजन का दीदार।

बार बार देख कर भी जी नही भरता, हृदय नही अघाता। आँखे जितना देखती है उतनी ही और देखने की इच्छा बढती ही जाती है—

तदेव रम्यं रुचिर नवं नवं
तदेव शश्वन्मनसा महोत्सवम्।

एक अपरिचित 'अतिथि' के लिये अल्हड शकुन्तला के हृदय मे 'अनुराग' उत्पन्न हो जाना प्रकृति की आदिम वासना की सजीव साध है। कण्व के आश्रम मे अपनी सहेलियो के साथ शकुन्तला पौधो के आलबाल मे जल ढाल रही है। आश्रम मे वृद्ध मुनि कण्व के अतिरिक्त माता गौतमी एव दो सखियाँ प्रियवदा तथा अनसूया हैं। सयम के कठोर परिवेष्ठन में शकुन्तला का सहज अज्ञात यौवन मर्यादा की चादर ओढे अगडाई ले रहा है। उस अज्ञात यौवन की पावन अथ च मादक सुरभि से समस्त वातावरण मँह-मँह करता है। तपोवन के उस पवित्र, वातावरण मे भी साधना के कठोर नियमन के भीतर लावण्य की ललित लीला अलक्ष्य रूप में लक्षित हो रही है। वेणी मे गूँथे हुए फूलो की सुरभि तथा रूप-माधुरी के आकर्षण से एक ढीठ

भौरा शकुन्तला का पीछा कर रहा है। उसके आघात से रक्षा करने के बहाने आश्रम-मृग का पीछा करते हुए मृगया-विहारी दुष्यन्त आश्रम की उस एक मात्र अबोध 'इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी' हरिणी पर अपने विषय-वुझे बाण छोड़ता है। शकुन्तला का सरल निश्छल हृदय इस अचानक आघात के लिये तैयार नही था। वह इस ढीठ 'भौरे' से अपने को बचाने मे सर्वथा असमर्थ थी। दुष्यन्त के बाण सीधे शकुन्तला के हृदय में प्रवेश कर गये। चिर सचित साधना एव सयम का बाँध सहसा एक झटके में टूट गया। दुर्वासा का अभिशाप तो ऋषि-कन्या की अनन्य साधना एव अखड प्रेम तथा नि शेष आत्मसमर्पण को और भी अधिक तेजोमय, दीप्ति-मय कर देता है। लोक-सग्रह की दृष्टि से शकुन्तला का यह एकान्तिक प्रेम एव तज्जन्य स्खलन भले ही 'अशिष्ट' कहा जाय, परन्तु आश्रम की एकमात्र शृङ्गार उस भोली कन्या के दर्द भरे, चोट खाये हृदय की व्यथा को सहानु-भूति एव सहृदयता से देखनेवालो को तो अग्निशर्मा दुर्वासा पर क्रोध आए बिना न रहेगा। क्रोध की मूर्त्ति उस तपस्वी ब्राह्मण को क्या पता कि प्रेम की मीठी आँच कैसी होती है और उसमें तडपते हुए हृदय की कैसी एकान्त तन्मयता होती है, कैसी मीठी बेचैनी होती है। यह तो वही जान सकता है जिसने प्रेम के बाण को प्यार मे नहला कर अपने हृदय मे छिपा लिया है और जो अपने इस 'घाव' को हरा बनाये रखने के लिये ही आत्मसमर्पण की चिर स्निग्ध आराधना मे, प्राणधन की सुन्दर सुमधुर स्मृति मे अपने आपको सर्वथा मिटा देता है, नि शेष कर देता है। क्रोधावतार दुर्वासा इस आशा मे थे कि आश्रम-कन्या सदा की भाँति उठकर उनका स्वागत-सत्कार करेगी, परन्तु वह तो आज अपने प्राणधन की मधुर स्मृति मे बेहोश थी, उसे क्या पता था कि दुर्वासा कहाँ आये कहाँ गये।

"जाके लगै सोई पै जानै प्रेम-बान अनियारो।"

मिथिलेश-नन्दिनी सीता सखियो के साथ पार्वती जी की पूजा करने के हेतु जनकपुर की फुलवारी में जाती है। राम भी पूजा के लिये पुष्प लाने गये है। बार-बार सीता की आँखे राम की अतुल छवि की ओर आकृष्ट हो जाती है; 'भयेउ विलोचन चारु अचञ्चल'। निर्निमेष नेत्रों से वह एकटक राम की ओर देखने लगती है। 'प्रीति पुरातन' का स्मरण हो आता है, और वह सारी सुध-बुध खो देती है। रोमाच, वैवर्ण्य एव प्रस्वेद तो फिर स्वाभाविक ही है, और वह अपने अन्तस्तल की एक मात्र साध जगज्जननी पार्वती के चरणो मे किस सकेत भरी भाषा मे व्यक्त कर रही है—

'मोर मनोरथ जानहुँ नीके, बसहु सदा उरपुर सब ही के ।'

करील कुञ्जो की सघन छाया के नीचे राधा के पाँय पलोटते हुए तथा 'देहि मे पदपल्लवमुदारम्' की याचना करते हुए रसिकशेखर श्रीकृष्ण को हमने बहुधा देखा है । हमने उन्हे 'राधे, राधे' की टेर लगाते कुज-कुज भरमते-भटकते देखा है और राधारानी के न मिलने पर आँसुओ की जमुना बहाते भी देखा है, परन्तु वही प्रेमी जब अपनी प्राणाधिका राधिका को पाकर अपने आप पर गर्वित हो जाता है और सहसा बशीनिनाद के आवाहन एव परस्पर प्रणय-सलाप के अनन्तर अन्तर्धान हो जाता है तो उस राधारानी और सहस्र-सहस्र गोप-कुमारियो के हृदय की अतृप्त लालसा उन कुजो मे आग बिखेरने लगती है ।

नदी जैसे स्वाभाविक ही समुद्र की ओर दौडती है वैसे ही जीव-जीव के हृदय मे आनन्द-लिप्सा भी प्रति क्षण बढती ही रहती है । समुद्र जैसे आनदोन्मत्त हो नदी में प्रविष्ट होकर नदी को भी तरगपूर्ण और आनन्दमय कर देता है वैसे ही 'वे' आनन्दसिन्धु भी करते है । निजानन्द सभोग लिये 'उन' की स्पृहा का कभी अन्त नही होता । उनके पुकारने का न आदि है न अन्त । वे सभी समय सब को बुला रहे है । जिस प्रकार पति-पत्नी की भाषा मधुर होने के साथ अस्फुट होती है उसी प्रकार प्रेमी और प्रियतम का परस्पर सलाप भी अस्फुट और मधुर होता है ।

मूर्ख लोगो ने मजनूँ से नादानी से पूछा कि लैला मे क्या सुन्दरता है, वह तो कुछ भी सुन्दर नही है, काली कलूटी है । उससे उत्तम लाखो प्रेमिकाये शहर में चाँद के समान सुन्दर और हाव-भाव में उससे सर्वथा श्रेष्ठ हैं । तुम इन सबमें से जिसको चाहो चुन लो । मजनूँ ने उत्तर दिया कि सूरत तो एक पात्र है और यौवन उसमे भरी हुई सुरा । ईश्वर मुझको उसी के प्याले से सुरा का पान कराता है—तुम लोग पात्र को देखते हो परन्तु वह सुरा तुम्हे नही दिखायी देती । प्रणय—जिसे 'आध्यात्मिक परिणय' कह सकते है, स्थूल दृष्टि से देखने-जानने-समझने की चीज नही है, इसे तो वही जानता है जो 'भुक्तभोगी' है और जिसके हृदय की आँखे खुली है ।

भग्न-मनोरथा महासती पार्वती ने मन्मथमथन भगवान् महादेव को शृगार-मडन एव असमय वसत के विविध उपकरणो से जीतना चाहा था । वसन्त ऋतु के समय न मालूम किस नैसर्गिक नियम के अनुसार सभी नर-नारियो के हृदय मे, प्राण मे आनन्दोल्लास का एक प्रबल वेग आ उपस्थित होता है । उस समय विश्व-प्रकृति के अन्दर भी इस आनन्द की उत्तेजना

दिखायी देती है। समस्त दिशाएँ निर्मल एवं स्निग्ध मलय समीर के हिलोर से नरनारियो के हृत्पिण्ड के ताल-ताल मे उनके मनको भी नचाने लगती है। एक अनिर्वचनीय आनन्द से उन्हे मतवाला कर देती है। शाखा-प्रशाखा में नवीन मजरी, वृक्षावलियो में नूतन किसलय, नवकुसुम कलिकाओ की शोभा और उसके साथ-साथ सुगध का सचार प्राणो मे एक अपूर्व स्पन्दन की जागृति करा देता है—मानो किसी के साथ मिलने की, किसी का अग-सग प्राप्त करने की आकाक्षा से समस्त चित्त उत्क्षिप्त हो उठता है। प्रेमी और प्रेमिका की चित्त-कलियाँ किसी के सकेत से मानो विकसित हो उठती है, कोई मानो उसका बिलकुल अपना-सा है जिसे पाने की आशा मे चित्त उन्मत्त हो उठता है। अकाल बसन्त के आगमन से भँवरा और भँवरी एक ही कुसुम पात्र में मधुपान करने लगे, कृष्णसार मृग अपनी सींग से अपनी प्रणयिनी हरिणी का शरीर खुजलाने लगा और वह स्पर्श-सुख मे विभोर हो गयी।

सब के हृदय मदन अभिलाखा
लता निहारि नवहिं तरुसाखा।
नदी उमँगि अंबुधि कहुँ धाई
संगम करहिं तलाब तलाई॥

बालक मदन शिव को विचलित तो कर सका, पर स्वय भस्मीभूत हो गया। उसके पश्चात् पार्वती ने जो घोर तपश्चर्या की, वही शृङ्गार के मनोभाव का सहज रूप है। वह कहती है—

महादेव अवगुन सदन विष्णु सकल गुन धाम।
जेहि के मन रम जाहि सन, ताहि ताहि सन काम॥

उसके मन में 'प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता'—सौन्दर्य वह जो प्यारे को रिझा सके—रम गया था। वह अपने इष्ट-साधन की आराधना मे अपने आपको सर्वतोभाव से समर्पित कर देती है। फिर सप्तर्षियो द्वारा जो उसके प्रेम की परीक्षा ली गयी है वह तो मनुष्य जाति का स्त्री-जाति के प्रति सहज आशका एवं अविश्वास का दयनीय दृष्टान्त है। 'कुमार-सभव' में स्वय महादेव पार्वती की परीक्षा के लिए एक नैष्ठिक ब्रह्मचारी के छद्मवेश में आये है। नारी सदैव अपने प्राणधन की होकर रही है, जन्म-जन्मान्तर से वह उसी 'एक' का आधार लेकर जन्म और मृत्यु के द्वार लाँघती चली आयी है परन्तु कुटिल मानव उसके इस सर्वोत्तम निःशेष आत्मदान के दिव्य सौन्दर्य को अब तक भी नही समझ सका; अब तक भी

वह समर्पित नारी को पूर्णत , एकान्तत: अपना नही सका और युग-युग की नारी-साधना पर अब भी पुरुष ने अविश्वास एव आशका की काली चादर डाल रखी है ।

प्यार का मधु पिलाकर प्रणय के प्रगाढ परिरभन का रसास्वाद लेकर दुष्यन्त शकुन्तला को तो भूल गया और अपने राज-पाट मे मदमत्त हो गया परन्तु शकुन्तला अपने अधरो पर के उस हृदयहीन के स्नेह-चुम्बनो के दाग को कैसे मिटा पाती ? उन्हे मिटा कर वह कहाँ जाती, कैसे जीती ? और तो और, वह उस प्रणय-मिलन की उद्दाम वासना का पूर्णत: शिकार हो चुकी थी, वह आपन्नसत्वा, आसन्नप्रसवा हो चुकी थी और इसीलिये राज्योन्माद में प्रमत्त दुष्यन्त के तीव्र प्रत्याख्यान की चोट खाकर वह निराश नही होती, साधना से विमुख नही होती, अपने को विस्मृत नही कर बैठती अपितु अभिशाप की तपोमय ज्वाला मे जलती हुई वह मरीचि के आश्रम मे दुष्यत की प्रीति-प्राप्ति के लिये आराधना करती है । अकारण लाछिता होकर भी निर्वासिता सीता वाल्मीकि के आश्रम मे अपने हृदय-धन की 'मूर्ति' को हृदय मे अहर्निश पूजती रहती है । राम को तो लोक-मर्यादा का भार निभाना था, परन्तु अकारण लाञ्छिता होकर जगलो में 'दोहद' का मनोरजन कराने के अभिप्राय से उस सती को लक्ष्मण द्वारा छोड आने का भीषण कलङ्क मानव जाति का एक ऐसा कलङ्क है जिसे 'ह्वाइट-वाश' किया नही जा सकता। वह लाञ्छन, वह कलङ्क मनुष्य जाति पर सदा के लिये बज्रलेप-सा लगा हुआ है । रास की फाँस मे गोपियो को डाल कर लीलामय कृष्ण ने कुब्जा से स्नेह जोडा और बेचारे उद्धव गोपियो को 'जोग' की सीख देने की की व्यर्थ चेष्टा करते रहे । उन विरहिणी गोपियो के आँसुओ से आज भी हमारा ब्रज आर्द्र है । उनके आँसू आज तक नही पुँछ पाये ।

हम समस्त प्राणी उसी विरहिणी राधा के रूप मे है जिसे कभी एक क्षण के लिये प्राणवल्लभ कृष्ण ने रास का आनन्द दिया और अनेक प्रकार से अपना लीला-कुतूहल पूरा किया; परतु अब वे हमे 'नग्न' छोड कर चले गये है । हमारे हृदय मे वशी का टेर, नूपुरो की 'रुनझुन' कालिन्दी-कूल एव करीलकुञ्ज तथा वंशीवट अभी भी व्याप्त है । रह रहकर हमारा मन न जाने कैसा-कैसा करने लगता है । हम सभी उस एक 'कृष्ण' के विरह में क्षुब्ध एव कातर है, वही हमारे हृदय की निधि एव प्राणो का सर्वस्व है । मीरा के शब्दो मे कृष्ण के सिवा अन्य कोई पुरुप है ही नही । हम सभी इन विरहिणी गोपियो के रूप मे, तप परायणा अपर्णा पार्वती एव

अभिशप्त शकुन्तला के रूप में अपने प्राणवल्लभ की खोज में 'अभिसार 'कर रहे हैं। आत्मा का यह कृष्णाभिसार ही शृङ्गार का प्राण है जब हम अन्तस के प्रकाश मे उसके पथ में चल पडते हैं—

In that happy night,
In secret, seen of none
Seeing naught myself
Without other light or guide
Save that which in my heart was burning
O guiding night,
O night more lovely than the dawn,
O night that hast united
The lover with her Beloved
And changed her into Love !

यही प्रणयी के साथ प्रणयधन प्रियतम का एकान्त मधुर मिलन है। इस मिलन से उस प्रियतम की शोभा और भी बढ जाती है। यदि प्रेमी नही होता, यदि ये प्रणय-तपस्विनियाँ नही होतीं, यदि इनके प्राणो मे अभिसार की इतनी चाह न होती तो उस अपार आनन्द का सभोग कौन करता ? इसी आनन्द-मधु मे छक कर प्रेमी और प्राणधन दोनो बेसुध हैं—कोई किसी से कुछ प्रश्न नही करता—

I will draw near to thee in silence and uncover thy feet that it may please thee to unite me to Thyself Make myself thy bride and I will rejoice in nothing till I am in thy arms

विश्व के अणु-अणु में उसी की मधुर छवि छलक रही है। परतु हम उसे सर्वाङ्ग रूपेण पाना चाहते हैं। उसके बिना हमारा जीवन अधूरा है, अपूर्ण है, नीरस है, अकारथ है। उसे पाये बिना हमे क्षण भर भी कल नही, हम अरुणा-शुकवसना उषा, नीलनभ मे अँगडाई लेती हुई सध्या, तारों के गजरे पहनी निशा का सुस्निग्ध रूप-लावण्य देखते हैं और हमारे हृदय मे ये सभी हमारे प्रियतम के मधुर मिलन की स्मति उद्दीप्त करते है, उत्कठा जगाते हैं। एक-एक अणु-परमाणु मे मिलन की मधुर लीला हो रही है। यह सब कुछ हमारे प्राणधन के प्रणय में सराबोर है। इसी से तो यह जगत इतना सुन्दर है। इसी से इस आकाश और समुद्र मे इतना आनन्द उमड रहा है। इसी से शैल-सलिल और अनल अनिल मे उस परम प्रेमी के रूप और आनन्द का बाजार लग रहा है।

"मधुरं मधुरं बपुरस्य विभो—
मधुर मधुरं मधुरं मधुरम ।"

मधुर-रस का स्वरूप और उसकी व्यापकता

मधुर-रस के सम्बन्ध मे उपनिषदो मे यत्र-तत्र सकेत रूप मे उल्लेख मिलता है। पुराणो में श्रीमद्भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त्त में इसका बडा ही भव्य एव दिव्य वर्णन है और यह नि सकोच स्वीकार करना होगा कि श्रीमद्-भागवत, पद्मपुराण और ब्रह्मवैवर्त ही मधुर-रस के आकर ग्रथो मे मुख्य एव शिरोमणि है। बृहद् गौतमीय तत्र, ब्रह्म-सहिता, समोहन तत्र आदि ग्रथो मे भी इस तत्व की विशद् व्याख्या है। कतिपय अन्य सहिताओ मे भी मधुर-रस की विवृति है; परन्तु भक्ति का जैसा साङ्गोपाङ्ग मार्मिक, वैज्ञानिक, सूक्ष्माति सूक्ष्म विवेचन गौडीय वैष्णव सप्रदाय मे हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। गौडीय वैष्णवो ने इसका पुखानुपुख विचार किया है। अस्तु, यहाँ श्रीरूपगोस्वामी के 'हरिभक्ति-रसामृत-सिंधु' तथा 'उज्ज्वल नीलमणि' के आधार पर मधुर-रस के सात्विक स्वरूप एव रहस्य का आकलन प्रस्तुत किया जा रहा है।

जड़ जगत् चिज्जगत् का प्रतिफलन—यह जड जगत् चिज्जगत् का प्रतिफलन है। इसमें गूढ तत्व यह है कि प्रतिफलित प्रतीति स्वभावतः विपर्यय-धर्म को प्राप्त कर लेती है, अर्थात् आदर्श जहाँ सर्वोत्तम होता है, प्रतिफलन सर्वाधम, आदर्श जहाँ अत्यन्त निम्न कोटि का होता है, प्रतिफलन अत्यन्त उच्चकोटि का। दर्पण मे जैसे प्रतिविम्ब उलटा पडता है, वही दशा यहाँ भी है। चिज्जगत् का परम दिव्य अपूर्व रस जड जगत् मे विपर्यस्त होकर स्थूल रूप धारण कर लेता है। वस्तुत परम तत्व रसरूप है। उसकी अद्भुत विविधता है। इस जगत् मे उसकी जो परछाँई है, उसी का अवलम्बन करके आगे बढा जाय तो उस अतीन्द्रिय रस का अनुभव हो सकता है[1]।

---

१ द्रष्टव्य—जैव धर्म, अध्याय ३१

चिज्जगत् के रस और जड़ जगत् के व्यापार—चिज्जगत् के अत्यन्त निम्नभाग मे है शान्तरस, उसके ऊपर दास्य-रस, उसके ऊपर सख्य-रस, उसके ऊपर वात्सल्य-रस और सबसे ऊपर है मधुर-रस। इस जड जगत् में विपर्यस्त प्रतिफलन के द्वारा मधुर रस सबसे नीचे है। उसके ऊपर है वात्सल्य-रस, उसके ऊपर सख्य-रस, उसके ऊपर दास्य-रस और सबसे ऊपर शान्त रस। दिव्य मधुर-रस की जो स्थिति और क्रिया है, वह इस जड जगत् में नितात तुच्छ और लज्जास्पद है। चिज्जगत् में पुरुष और प्रकृति का सम्मेलन अत्यन्त पवित्र एव तत्वमूलक है। चिज्जगत् में एकमात्र भगवान ही भोक्ता है। शेष समस्त चित्सत्वगण प्रकृति रूप में उनके भोग्य हैं। इस जड जगत् मे कोई जीव भोक्ता है और कोई भोग्या—इस प्रकार मूलतत्व के विरोध में यह सारा व्यापार लज्जाजनक एव घृणास्पद हो जाता है। तत्वत: जीव जीव का भोक्ता हो नही सकता। समस्त जीव भोग्य है, एकमात्र भगवान ही भोक्ता है। कहाँ जीव जीव का उपभोग और कहाँ भगवान और जीव का उपभोग! परन्तु इस हेय के भीतर से भी एक अत्यन्त उपादेय तत्व उपलब्ध हो जाता है। कैसे, इसका विवेचन आगे करेंगे।

मधुर-रस का आश्रय और विषय—भगवान ही मधुर-रस के विषय हैं और उनकी वल्लभाएँ इस रस का आश्रय है। दोनों मिलकर रस के आलम्बन है। मधुर-रस के विषय भगवान है परम सुन्दर, परम मधुर, नवजलधर वर्ण, सर्व सल्लक्षणयुक्त, बलिष्ठ, नवयौवनशाली, प्रियभाषी, विदग्ध, कृतज्ञ, प्रेमवश्य, रमणीजन-मनोहारी नित्य-नूतन, अतुल्यकेलि, सौदर्यशाली, प्रियतम, वशीवादनशील श्रीकृष्ण। उनके चरणो की नखद्युति कोटि-कोटि कदर्पो का दर्प चूर्ण कर देती है और उनके कटाक्ष से सब का चित्त विमोहित हो जाता है।

नायक-चूड़ामणि श्रीकृष्ण का गोपियो के साथ जो लीला-विलास है, वही है मधुर-रस की आत्मा। इसका स्थायी भाव है दोनो की प्रियता या मधुरा रति[1] जो दोनो को दोनो से सयोग की प्रेरणा देती

---

[1]—मिथो हरेर्मृगाक्ष्याश्च सभोगस्यादिकारणम्।
मधुरापरपर्याया प्रियताख्योदिता रतिः॥
—उज्ज्वल नीलमणि

श्रीकृष्ण की द्विविध लीलाओं में ऐश्वर्य की अपेक्षा माधुर्य की लीला श्रेष्ठ है।

— दे० जीवगोस्वामी का 'प्रीति संदर्भ' पृ० ७०४–७१५।

रहती है। युक्त विभावो-अनुभावो आदि के द्वारा जब यह रति भक्तो के हृदय मे रसास्वादन की स्थिति तक पहुँचती है, तब इसे भक्ति-रस-राज 'मधुर-रस' कहते है।[1] कृष्ण का कान्तत्वेन स्फुरण ही मुख्यत: इस रस का आधार है, पर कान्त को दोनो ही भाव मे लिया जा सकता है—पतिरूप में, उपपति रूप में। शृङ्गार रस का तो उपपति रूप मे ही परमोत्कर्ष माना जाता है। शृङ्गार का चिद्व्यापार एक रहस्यमणि की माला की तरह है तो उसमें परकीय मधुर रस को उस मणिमाला मे कौस्तुभ विशेष मानना चाहिये। जैसे शान्त से दास्य में, दास्य से सख्य मे, सख्य से वात्सल्य में और वात्सल्य से मधुर मे इसका अधिकाधिक उत्कर्ष होता चला जाता है, उसी प्रकार स्वकीय की अपेक्षा परकीय मे रस अपने चरमोत्कर्ष पर आ जाता है।[2]

परकीया भाव की रसात्मक उत्कृष्टता—श्रीकृष्ण का अवतार ही रसास्वादन के लिए हुआ।[3] परकीया या तो कन्यका हो सकती है या प्रौढा।

१—स्वाद्यंता हृदि भक्तानां आनीता।
—उ० नी० म०।

२—अत्रैव परमोत्कर्षः शृङ्गारस्य प्रतिष्ठित'।
—उ० नी० म०।

परकीया भाव के सम्बन्ध में विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते कि 'यन्तः गोकुले स्वीयापि चित्रादि शङ्कया परकीया इव।' जीव गोस्वामी ने अपने 'प्रीति-संदर्भ, (पृ० ६७६-६८६) में विस्तार से इस विषय पर प्रकाश डाला है। वे कहते कि श्रीकृष्ण का गोपियो के साथ विहार 'प्राकृत काम' नहीं है प्रत्युत शुद्ध प्रेम है और प्रकट लीला में ही स्वकीय-परकीय का प्रश्न उठता है। 'वस्तुतः परम स्वीयापि प्रकटलीलाया परकीयामाना: श्री व्रजदेव्यः।'

३—न कृष्णे रसनिर्यासस्वादार्थं अवतारिणि।
—उ० नी० म०

'श्रीकृष्ण-संदर्भ' में जीव गोस्वामी ने व्रजलीला की रहस्यमय परम दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की है। उनका कहना है कि मथुरा और द्वारका की गोपियाँ श्रीकृष्ण की 'स्वरूपा शक्ति' है। गोपियों का परकीया भाव वस्तुतः है नहीं, वह प्रकट वृन्दावन-लीला में आभास मात्र है। इतना ही नहीं, उनका कहना है कि व्रज-सुन्दरियों का कभी अपने पतियों के साथ संगम हुआ ही नहीं 'न जातु व्रजदेवीनां पतिभिः सह संगमः।
—उज्ज्वल नीलमणि

लोकदृष्ट्या यह भाव गर्हित हो सकता है, पर यह परकीया-भाव ही वैष्णवों का परमादर्श हुआ और इसी का आधार लेकर आत्माएँ अपने आप को सर्वभावेन श्रीकृष्ण को समर्पित करती रही हैं।[1] श्रीकृष्ण के इसी भाव को लेकर वैष्णव शास्त्रो ने द्वारका में उन्हे पूर्ण, मथुरा मे पूर्णतर तथा ब्रज मे पूर्णतम माना है। नायक-नायिका परस्पर अत्यन्त 'पर' होकर जब राग की तीव्रता द्वारा मिलते है, तब एक अद्भुत आनन्द-रस का संचार होता है; यही है परकीय रस। गोपियों और श्रीकृष्ण का प्रेम अपनी सघनता, प्रच्छन्न कामना तथा विवाह के अव्यक्तत्व के कारण ही परकीया भाव की उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त हुआ।

नित्य गोलोक और नित्य चिन्मयी लीला—यह लक्ष्य करने की बात है कि श्रीकृष्ण की चिन्मयी लीला नित्य है। उस नित्य गोलोक की नित्य चिन्मयी लीला मे कृष्ण-कृपा से दिव्य देह से प्रवेश का विषय आगे यथास्थान आयगा। यहाँ इतना ही निवेदन करना अपेक्षित है कि श्रीकृष्ण त्रिपाद-विभूति चिज्जगत् है और जड जगत् मे एक-पाद-विभूति है। एक पाद-विभूति चतुर्दश लोकात्मक मायिक विश्व है। मायिक विश्व एव चिज्जगत् के बीच 'विरजा' नदी है और विरजा के पार है चिज्जगत्। ज्योतिर्मय ब्रह्मधाम इस चिज्जगत् को वेष्टन प्राकार की तरह घेरे हुए है। उसे भेद करने पर परव्योम सव्योम रूप वैकुठ दीखता है। वैकुठ प्रबल है। यहाँ के राजराजेश्वर है अनन्त-चिद्विभूतिपरिसेवित नारायण। वैकुठ है भगवान् का स्वकीय रस। श्री, भू आदि शक्तिगण स्वकीय स्त्री रूप मे उनकी सेवा उस लोक मे करती रहती है। वैकुठ के ऊपर है गोलोक। वैकुठ में स्वकीया पुरवनितागण यथास्थान सेवा मे तत्पर रहती है और गोलोक मे व्रज-वनितागण निज रस में कृष्ण-सेवा करती रहती है।

1—Even if orthodox Poetics deprecates love to a married woman, she is according to Vaisnava's idea, the highest type of heroine and forms the central theme of the later Parakiya doctrine of the school in which the love of the mistress for her lover becomes the universally accepted symbol of the soul's passionate devotion to God

S. K. De : Vaisnava Faiths & Movements, P. 54

ब्रजसुन्दरियों के प्रकार भेद—इन ब्रजवनिताओं के कई भेद है और इनका प्रकार भेद काव्यशास्त्र के अनुसार किया गया है—स्वकीया, और परकीया। इनमे से प्रत्येक के तीन भेद है— मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा। इनमें 'मान' के आधार पर मध्या और प्रगल्भा के भेद है—धीरा, अधीरा, धीराधीरा। नायक के साथ इनके सम्बन्ध के आधार पर पुन. इनके आठ भेद है—१ अभिसारिका, २ वासकसज्जा ३ उत्कठिता ४ खडिता ५ विप्रलब्धा ६ कलहान्तरिता, ७ प्रोषितभर्तृका और ८ स्वाधीनभर्तृका। नायक के प्रति प्रेम के आधार पर पुन उत्तमा, मध्यमा, और कनिष्ठा—ये तीन भेद है।

सखी-भेद—यह तो हुआ सामान्य शास्त्र के आधार पर किया हुआ विभाजन; परन्तु भक्तिशास्त्र के आधार पर किया हुआ विभाजन सर्वथैव नूतन है और भक्तिरसराज मधुर-रस मे वही गृहीत है—

नित्यसिद्धाओं मे श्री राधा वृन्दावनेश्वरी, श्री कृष्ण की नित्य सहचरी, परम प्रियतमा ह्लादिनी महाशक्ति है। राधा की सखियाँ पाँच प्रकार की है—सखी, नित्यसखी, प्राण सखी, प्रिय सखी और परम प्रेष्ठ सखी।

ब्रज रस—यह एक बात ध्यान मे रहे कि कोटि-कोटि मुक्त पुरुषो मे एक भगवद्भक्त दुर्लभ है। जो लोग अष्टाङ्ग योग या ब्रह्मज्ञान के द्वारा मुक्ति पा जाते है, वे ब्रह्मधाम मे ही आत्मानुभूति का आनन्द लेते रहते है। जो भगवान् के ऐश्वर्यपरायण भक्त है, वे लोग भी गोलोक मे नही जाते। वे बैकुंठ मे अपने भावानुसार भगवान् की ऐश्वर्य-मूर्ति की सेवा करते रहते है। जो लोग ब्रजरस से भगवान् का भजन करते है, वे ही गोलोक देख पाते है। गोलोक मे शुद्ध चित् प्रतीति है। गोलोक स्वप्रकाश वस्तु है। भक्तो के हृदय मे गोलोक प्रकाशित होता है।

नायक भेद—नायक के चार भेद— १-अनुकूल, २-दक्षिण, ३-शठ और ४-धृष्ट । इनमें से प्रत्येक के चार-चार भेद—धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्रशान्त और धीरोद्धत।

सहायक भेद—नायक के सहायको के पाँच भेद है—चेट, विट, विदूषक, पीठमर्दक और प्रियनर्मसखा । दूती के दो प्रकार—स्वय और आप्त । विभिन्न चेष्टाओ और सकेतो से, जैसे भ्रू-विलास, अधर-दशन आदि द्वारा जो नायक को नायिका की ओर आकृष्ट करती है, वही स्वय दूती है । आप्त दूती वह है, जो नायक का पत्र आदि ले जाती है । उनके तीन-तीन भेद है—अमितार्था, विसृष्टार्था और पत्र-हारिका । इनमें शिल्पकारी, दैवज्ञा, लिंगिनी, परिचारिका, धात्रेयी, सखी, बनदेवी आदि कई भेद है । सकेत वाच्य भी हो सकता है, व्यड्ग्य भी; साक्षात् भी हो सकता है अथवा व्यपदेशेन भी।

परकीया में रस की उत्कृष्टता क्यों ?—ऊपर कहा जा चुका है कि श्रीकृष्ण द्वारकापुरी मे पति भाव से और ब्रजपुरी मे उपपति भाव से लीला करते है । सकल ब्रजवासिनी ललनाएँ ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण की परकीया है । कारण कि परकीया के अतिरिक्त मधुर रस का अत्यन्त उत्कृष्ट विकास हो नहीं सकता। थोड़ा इसे विस्तार से समझना आवश्यक प्रतीत होता है । स्त्रियो में जो वामता, दुर्लभता, निबन्धन, निवारणादि प्रतिबंधकता है वही है कदर्प का परम आयुध । जहाँ निषेध विशेष है और ललना दुर्लभ है, वही नागर का हृदय अतिशय आसक्त होता है । नन्दनन्दन श्रीकृष्ण गोप है । वे गोपी के सिवा किसी से रमण करते नही । गोपीगण जिस भाव से श्रीकृष्ण का भजन सेवन करती थी, शृङ्गार रसाधिकारी साधक भी उसी
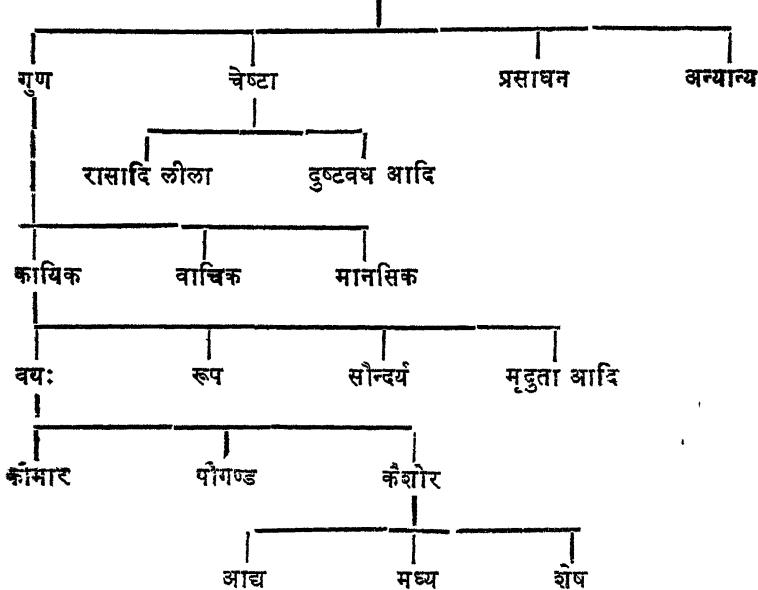
भाव से कृष्ण का भजन करते हैं। भावनामार्ग से अपने को ब्रजवासी मानकर किसी सौभाग्यवती ब्रजवासिनी की परिचारिका भाव से उसके निर्देश पर राधा-कृष्ण की सेवा करनेका विधान है। अपने को परोढा जाने बिना रसोदय होगा नही। यह परोढाभिमान ही ब्रजगोपीत्व धर्म है। श्री रूपगोस्वामी लिखते हैं—
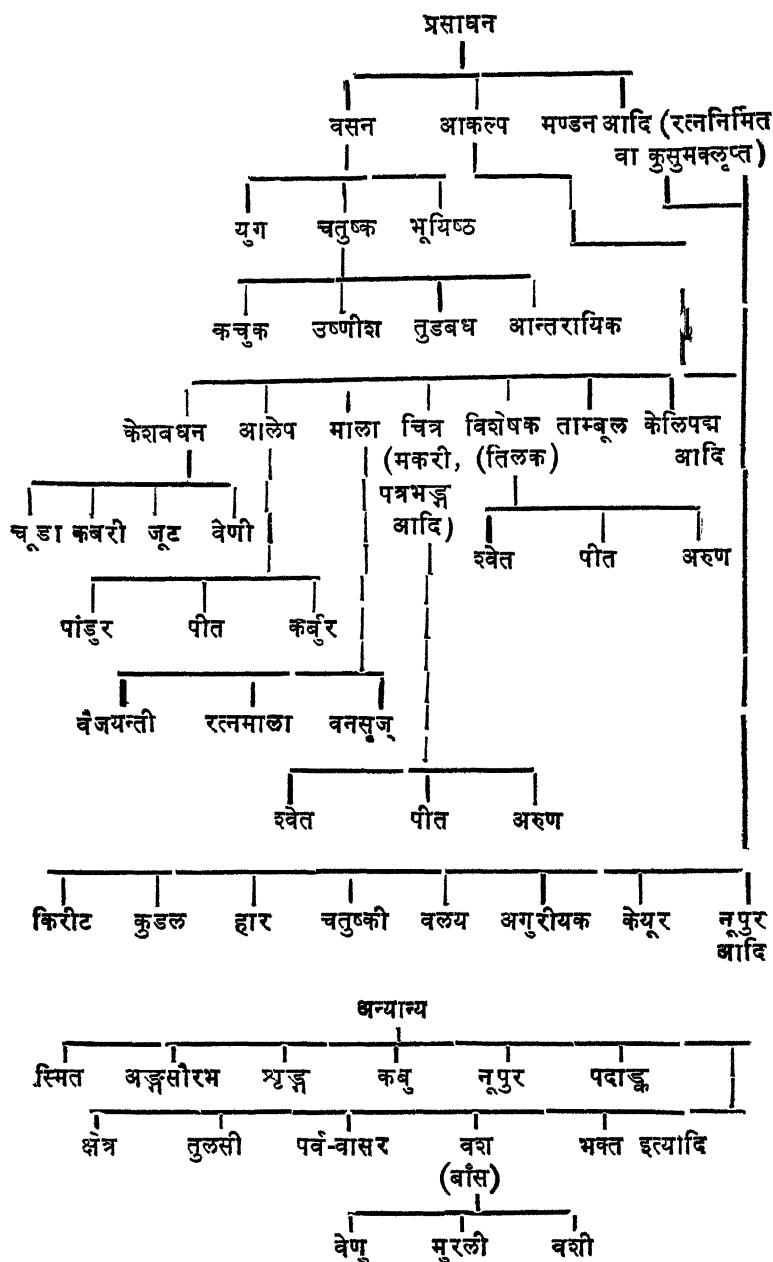
> मायाकल्पित तादृक् स्त्री शीलनेनानसूयुभिः।
> न जातु ब्रजदेवीनां पतिभिः सह संगमः।

ब्रजवासी भाव—परन्तु यह प्रश्न उठता है कि पुरुष साधक अपने को 'परोढा' किस प्रकार माने? पुरुष इस 'परोढाभिमान' को कैसे सिद्ध कर सकेगा? उत्तर यह है कि पुरुष मायिक स्वभाववशत. ही ससार में अपने को पुरुष समझता है। शुद्ध चित्स्वभाव में कृष्ण के अतिरिक्त यावत् जीवमात्र स्त्री है। चिद्गठन में वस्तुत स्त्री-पुरुष चिह्न है नही, इसलिए कोई भी ब्रजवासिनी होने का अधिकार लाभ कर सकता है। जिन्हे मधुर-रस की स्पृहा है, उन्हे तो ब्रजवासिनी होना ही पड़ेगा। स्पृहा के अनुरूप साधना करते-करते सिद्धि का उदय होता है।

प्रसाधन
वसन
आकल्प
मण्डन आदि (रत्ननिर्मित वा कुसुमक्लृप्त)
युग
चतुष्क
भूयिष्ठ
कचुक
उष्णीश
तुडबध
आन्तरायिक
केशबधन
आलेप
माला
चित्र (मकरी, पत्रभङ्ग आदि)
विशेषक (तिलक)
ताम्बूल
केलिपद्म आदि
चूडा
कबरी
जूट
वेणी
श्वेत
पीत
अरुण
पांडुर
पीत
कर्बुर
वैजयन्ती
रत्नमाला
वनस्रज्
श्वेत
पीत
अरुण
किरीट
कुडल
हार
चतुष्की
वलय
अगुरीयक
केयूर
नूपुर आदि

अन्यान्य

स्मित
अङ्गसौरभ
शृङ्ग
कबु
नूपुर
पदाङ्क
क्षेत्र
तुलसी
पर्व-वासर
वश (बाँस)
भक्त इत्यादि
वेणु
मुरली
वशी

मुख्य भक्तिरस के रंग आदि

मुख्य भक्ति रस

रस—	शान्त	प्रीति	प्रेयस्	वात्सल्य	मधुर
भाव—	शान्त	विश्वस्त	मित्रता	स्नेह	प्रियता
रग—	श्वेत	चित्र	अरुण	शोण	श्याम
देवता—	कपिल	माधव	उपेन्द्र	नृसिंह	कृष्ण

गौण भक्ति-रस

रस—	हास्य	अद्भुत	वीर	करुण	रौद्र	भयानक	वीभत्स
रग—	पाडुर	पिङ्गल	गौर	धूम्र	रक्त	काला	नील
देवता—	बलराम	कूर्म	कल्कि	राघव	भार्गव	वाराह	मत्स्य अथवा बुद्ध

रति के अनुभाव—कृष्ण रति के अनुभाव—नृत्य, बिलुठित, गीत, क्रोशन, तनुमोटन, हुकार, जृभन, श्वासभूयन, लोकानपेक्षिता, लालास्त्रव, अट्टहास, घूर्णा, हिक्का।

अष्ट सात्विक भाव—स्तभ, स्वेद. रोमाच, स्वरभग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु, प्रलय।

स्थायी भाव—काव्य शास्त्र के अनुसार रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद, परन्तु भक्ति शास्त्र के अनुसार श्रृंगार, हास्य, करुणा, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त।

व्यभिचारी भाव ३३—निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व, शका, त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्मार, व्याधि, मोह, मृति, आलस्य, जाड्य, व्रीडा, अवहित्था, स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, धृति, हर्ष, औत्सुक्य, उग्रता, अमर्ष, असूया, चापल्य, निद्रा, सुप्ति बोध।

उद्दीपन विभाव की विशेषता—ऊपर हम उद्दीपन-विभाव का विवरण प्रस्तुत कर चुके है। उद्दीपन मे तटस्थ वस्तुओ मे वसन्तागमन, कोकिल-कूजन, मेघमाला का घिर आना, चन्द्रदर्शन आदि मुख्य है। कायिक सौन्दर्य में रूप, लावण्य, मार्दव आदि मुख्य है। यौवन की तीन अवस्थाएँ है—नव्य, व्यक्त और पूर्ण। श्रीकृष्ण का नाम, चरित, लीला, उदाहरणार्थ

वंशीवादन, गोदोहन, गोवर्धन धारण आदि विशेष रूप से उद्दीपन विभाव मे आते हैं । वृन्दावन, इसकी वृक्ष, नदियाँ, कुँजें, गुल्मलता, पुष्प, पक्षी, पशु आदि भी प्रेम को उद्दीप्त करते है ।

अनुभावों की विशेषता—अनुभावो का विवरण भी ऊपर की तालिका में आ गया है । उसमें बाईस अलकार, सात उद्भास्वर और तीन अङ्गज है । अङ्गज अनुभावो मे भाव, हाव, हेला और स्वभावज मे लीला, विलास, विच्छित्ति, मोट्टायित आदि मुख्य है । 'लीला' का अर्थ है प्रियतम के चरित्र का क्रीडामय अनुकरण, 'विलास' का अर्थ है क्रीडा के सकेत, 'विच्छित्ति' का अर्थ है अलकरण और 'मोट्टायित' का अर्थ है इच्छा का स्पष्ट उल्लेख । ये सब नो काव्य-शास्त्र की परपरा में भी है पर सात उद्भास्वर सर्वथा नए हैं—वे है नीवीविस्रसन, उत्तरीय-स्खलन, जृभा—जँभाई लेना, केश सस्रन इत्यादि । ये वस्तुत· विलास और मोट्टायित के अन्तर्गत आ जाते है । द्वादश वाचिक अनुभावो मे है आलाप, विलाप, प्रलाप, अनुलाप, अपलाप, सदेश, अतिदेश, अपदेश, उपदेश, निर्देश और व्यपदेश ।

अष्टसात्विक भाव तो काव्य-शास्त्र की तरह ज्यो-के-त्यों यहाँ भी है; परन्तु उनकी चार अवस्थाएँ है—धूमायित, ज्वलित, दीप्त और उद्दीप्त ।

मधुरा रति के भेद (नायिका की दृष्टि से)—नायिका की दृष्टि से मधुरा रति के तीन भेद है—(१) साधारणी, आत्मतर्पणैकतात्पर्या—जिसमे अपनी ही तृप्ति मुख्य है—जैसे कुब्जा । यह प्रेमावस्था तक जाती है । (२) समजसा—उभयनिष्ठारति—जिसमे अपना सुख और कृष्ण का सुख समान रूप से अपेक्षित है—जैसे रुक्मिणी । यह अनुराग अवस्था तक जाती है । (३) समर्था केवल कृष्णार्थं—जैसे गोपियाँ । यह महाभाव अवस्था तक जाती है ।

मधुरा रति के भेद (भावो के अनुसार)—(१) प्रेम—प्रेम का अर्थ है भावबधन । यही है रति का अमर बीज और उत्कृष्टता की दृष्टि से इसके तीन भेद होते है—प्रौढ, मध्य और मन्द । (२) स्नेह—यह प्रेम की विकसित एव उन्नत अवस्था है । शब्द सुनकर रूप देखकर या स्मृति मे हृदय द्रवित होता है क्योकि 'हृदय-द्रावण' इसका मुख्य लक्षण है । इसमे भी उत्कृष्टता की दृष्टि से तीन भेद है—श्रेष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ । इस स्नेह के दो मुख्य भेद है—

घृत स्नेह और मधु स्नेह—(क) घृत स्नेह—अखण्ड घृतधारावत, उत्कठा—घृत की तरह तरल भी, घना भी । रति का उदय ।

(ख) मधु स्नेह—अखड और मधुर। रति स्थिर हो जाती है।

(३) मान—अर्थात् प्रेमातिरेक की अवस्था मे उपेक्षा का अभिनय। इसके दो भेद—उदात्त (घृतस्नेहवत्) और ललित (मधुस्नेहवत्)।

(४) प्रणय—विश्रभ—इसके मुख्य दो भेद (१) मैत्र और (२) सख्य। उदात्त और ललित के सम्पर्क मे इन दोनो प्रकार के प्रणय के फिर दो भेद होते है- सुमैत्र और सुसख्य। विकास क्रम मे इसकी गति होती है—

प्रणय के भेद तथा विकास क्रम— स्नेह प्रणय मान

अथवा

स्नेह मान प्रणय

राग और उसके भेद—(५) राग— शृंगार मे दुख का सुख मे वदलना। इसके दो रग माने गये है (१) नीलिमा या (२) रक्तिमा। नीलिमा के फिर दो भेद—(१) नील राग—जिसका रग न बदले और अव्यक्त हो या श्याम राग—धीरे धीरे पूर्णता को प्राप्त होनेवाला और जरा जरा प्रकाशित। रक्तिम राग के भी दो भेद—कुसुम राग—हलके रग का—जो जल्दी दूसरे राग में घुल जाय और दूसरे रागों को अभिव्यक्त करें या मजिष्ठ राग—स्थायी और स्वतत्र।

(६) अनुराग—नित्य नूतन प्रेम। इसके कई स्तर है (१) परवशीभाव आत्मसमर्पण और (२) प्रेमवैचित्य-विरह की स्नेहमयी आशका (३) अप्राणि जन्य—प्यारे के स्पर्श पाने के लिए निर्जीव वस्तुओ के रूप मे जन्म लेने की आकाक्षा और (४) विप्रलभ-विस्फूर्ति-विरह मे प्रिय की झलक।

७—भाव या महा भाव—(१) रूढ— जहाँ सात्विको की परम उद्दीप्त स्थिति हो गई है। सभोग या विप्रलभ दोनो ही अवस्थाओ मे (क) निमिष मात्र का भी विरह असह्य हो जाता है, (ख) आसन्न जनता के हृदय को विलोडित करने की शक्ति होती है, (ग) एक क्षण कल्प की तरह और एक कल्प क्षण की भाँति हो जाता है, (घ) प्रियतम की सुख-अवस्था मे भी आर्तिशका के कारण खिन्नता और (ङ) मोह, मूर्च्छा आदि के अभाव में भी पूर्ण आत्म विस्मरण।

(२) अधिरूढ—उपर्युक्त रूढ भाव की विशेष उत्कर्ष-दशा। इसके दो प्रकार (क) मोदन—सात्विको का अत्यन्त उद्दीप्त सौष्ठव जो केवल राधा वर्ग मे मिलता है। इसी का और विकसित रूप है (ख) मादन—सात्विको का सुद्दीप्त सौष्ठव—प्रिया के आलिगन मे होते हुए भी प्रिय का मूर्च्छित

होना[1]—तथा स्वयं असह्य दुख स्वीकार करके भी प्रिय के सुख की कामना[2]—तथा सारे ससार को दुखी कर डालने की प्रवृत्ति[3], पशुलोक का रोदन[4]—मृत्यु का वरण करके भी प्रियतम के साथ अङ्ग-सङ्ग की अभिलाषा[5] और अन्त मे है दिव्योन्माद। दिव्योन्माद की अवस्था मे नाना प्रकार की अवश क्रियाएँ तथा चेष्टाएँ हो सकती है जिसे 'उद्घूर्ण' कहते है। प्रियतम के किसी मित्र से मिलने पर नाना प्रकर की बातचीत हो सकती ह, जिसे 'चित्रजल्प' कहते है। इस चित्र जल्प की दश अवस्थाएँ होती है—प्रजल्प, परिजल्प, विजल्प, उज्जल्प, सजल्प, अवजल्प अभिजल्प, आजल्प, प्रतिजल्प और सुजल्प।

मादन—'मादन' का अर्थ है समस्त भावो का अकुरित हो जाना। यह केवल राधा मे मिलता है। इसका लक्षण है मान के कारण न होने पर भी मान करना और प्रियतम के साथ सभोग की अवस्था मे भी विरहाशका या नायक के सम्बन्ध की विविध बातो का चिन्तन-स्मरण।

मधुरा रति का स्थायी भाव ही मधुर रस या शृगार रस हो जाता है। इसके दो भेद है—सभोग और विप्रलभ। विप्रलभ के अनेक आवान्तर भेद है[6]।

---

१ कान्ताश्लिष्टेऽपि मूर्च्छना।

२ असह्य दुःखस्वीकारादयितत्सुखकामिता।

३ ब्रह्मांडक्षोभकारित्व।

४ तिरश्चामपि रोदनम्।

५ मृत्युस्वीकारात स्वभूतैरपि तत्संगतृष्णा।

इस संभतृष्ण का रूप—

'पंचत्वं तनुरेतु भूत निवहा
स्वांशे विशंतुस्फुटम्।
धातारं प्रणिपत्य हन्त शिरसा
तत्रापि याचे वरम्॥
तद्वापीषु पयस् तदीय मुकुरे
ज्योतिस्तदीयांगने।
व्योम्नि व्योम तदीय वर्त्मनि धरा
तत्तालवन्तेऽनिलाः।'

६ 'रसार्णव सुधाकर' में विप्रलंभ के चार प्रकार है पूर्वानुराग, मान, प्रवास और करुणा।

१—पूर्वराग—प्रसुप्त प्रेम, मिलन के पूर्व का प्रेम। प्रियतम के प्रथम दर्शन, श्रवण, स्वप्न दर्शन, चित्रदर्शन से उद्भूत प्रणय-पिपासा। यह 'प्रौढ़', 'समंजस' या 'साधारण' भेद से तीन प्रकार का होता है। प्रौढ पूर्वराग की दश दशाएँ हैं—

लालसा, उद्वेग, जागरण, तानव (दुर्बलता), जडिमा (शरीर का सुन्न पड जाना), वैवग्र्य (व्यग्रता), व्याधि (पीला पड़ जाना), उल्लास, मोह (मूर्च्छा) और मृत्यु।

समंजस पूर्वराग की दश दशाएँ—समजस पूर्वराग की दश दशाएँ हैं—अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुण-कीर्तन, उद्वेग, विलाप, उन्माद, व्याधि जड़ता और मृति।

साधारण पूर्वराग की छः दशाएँ—साधारण पूर्व राग की छ· दशाएँ हैं, जो समजस पूर्वराग की प्रथम छ के समान ज्यो की त्यो अभिलाष से आरम्भ होकर विलाप पर समाप्त हो जाती हैं।

(२) मान[1]—प्रेम की परिणति में बाधा डालने वाला क्रोधाभास। प्रेमास्पद की कोई चेष्टा या 'हरकत' देखकर, सुनकर या अनुमान कर जो मान होता है वह 'सहेतुक' है। मान का दूसरा भेद है निर्हेतुक या कारणाभास सहित। मधुर शब्द से, उपहार आदि से, आत्म प्रशसा से अथवा उपेक्षा से मान का उपशमन हो जाता है।

(३) प्रेमवैचित्य—अर्थात् प्रेमास्पद की उपस्थिति में भी विरह की आशका।

(४) प्रवास—प्रिय के वियोग मे मानसिक क्षोभ। प्रवासजन्य क्लेश की दश दशाएँ है—चिंता, जागरण, उद्वेग, तानव, मलिनागता, प्रलाप, व्याधि, उन्माद, मोह और मृत्यु।

नित्य लीला में नित्य संयोग—नित्य लीला मे कृष्ण का व्रज-देवियो से कथमपि वियोग नही होता क्योकि इनका मिलन नित्य है। प्रकट लीला मे ही श्रीकृष्ण के मथुरा जाने पर गोपियो को प्रवासजन्य क्लेश होता है। अर्थात्

---

१. 'मान' शब्द भी 'रस' की भाँति बड़ा ही व्यापक और गंभीर अर्थ वाला है। हर्ष, विषाद, भय, आशा, अहंकार और क्रोध, प्रेम और वितृष्णा आदि का सम्मिश्रित रूप 'मान' अपने आपमें कितना रहस्यमय शब्द है, बाहर-बाहर से उदासीन और भीतर-भीतर से प्रबल आसक्ति! इसके व्यक्त रूप की कल्पना ही की जा सकती है, चित्रण नहीं।

प्रकट लीला में बाहर-बाहर से देखने भर को ही श्रीकृष्ण का मथुरा गमन होता है, वास्तव में तो सच यह है कि 'वृन्दावनं परित्यज्य पादमेक न गच्छति ।'

संयोग शृंगार के भेद-उपभेद—सयोग शृगार के दो भेद है—(१) मुख्य और (२) गौण । मुख्य संयोग है साक्षात् प्रकट मिलन और गौण है स्वप्नादि में मिलन ।[1] इन दोनो के पुन चार भेद है—(१) सक्षिप्त, (२) सकीर्ण, (३) सम्पन्न और (४) समृद्धियत् । इसके अनेक प्रकार है—दर्शन, स्पर्श, मन्द-मन्द वार्तालाप, राह रोकना, रास, जलक्रीडा, वृन्दावन क्रीडा, यमुना जलकेलि, नौका-विहार, चीरहरण, वशी चोरी, पुष्पचौर्य, दानलीला, कुजो मे आंखमिचौनी, मधुपान, कृष्ण का स्त्रीवेश धारण, कपट निद्रा, द्यूत क्रीडा, वस्त्राकर्षण, नखार्पण, बिम्बाधर-सुधापान, निधुवनरमणादि सम्प्रयोग, चुम्बन, आलिगन आदि-आदि और अन्त मे है सभोग । सम्प्रयोग की अपेक्षा लीला विलास में अधिक सुख है ।

लीला के भेद—लीला के दो भेद है—प्रकट लीला और अप्रकट लीला । वन वृन्दावन में प्रकट लीला, मन वृन्दावन में अप्रकट लीला और नित्य वृन्दावन मे नित्य लीला । परन्तु प्रकट व्रज लीला के भी दो भेद है—नित्य और नैमित्तिक । व्रज मे जो अष्टकालीन लीला है वही नित्य है और पूतनावधादि दूरप्रवासादि नैमित्तिक लीला है । निशान्त, प्रात, पूर्वाह्न, मध्याह्न, अपराह्न, साय, प्रदोष और रात्रि भेद से अष्टकालीन लीला[2] ।

ऊपर बहुत सक्षेप में हमने गौडीय मतानुसार मधुर रस के स्वरूप की चर्चा प्रस्तुत की है । मधुर रस का द्विविध रूप है—सामान्य रूप मे वह उपनिषदादि में विद्यमान है । मूल मे एक अद्वय वस्तु परन्तु आनन्द के लिए दो—स्त्री पुरुष अथवा प्रकृति पुरुष । ये दोनो परस्पर पूरक है और एक दूसरे को पाकर पूर्ण होना चाहता है । इसी प्रकार ज्ञाता और ज्ञेय की एकता त्रिपुटी भग द्वारा होती है । मिलन की पूर्णता के आधार पर ही भाव का विकास होता है । पूर्ण मिलन नि सकोच और निरावरण मिलन मधुर मे ही होता है ।

---

१ 'रसार्णव सुधाकर' ने भी संयोग के चार उपर्युक्त भेद माने है । जीव गोस्वामी ने पूर्व राग के बाद संभोग के चार भेद माने है और उनका नाम है—संदर्शन, संस्पर्श, संजल्प, संप्रयोग ।

२. निशान्तः प्रातः पूर्वाह्णो मध्याह्नश्चापरातुकः ।
सायं प्रदोषरात्रिश्च कालाष्टौ च यथाक्रमम् ।।

मधुर रस की उपासना संसार की प्राय सभी साधनाओं मे प्रकट या गुप्त रूप मे विद्यमान है। ईसाई सतो और सूफी फकीरो की अनुभूतियो में मधुर रस की ही धारा है। समस्त सगुण उपासना म मधुर भाव की स्वत.स्फूर्ति है क्योकि जीव अपने आप को पूर्णत· देकर अपने प्राणाराम को पूर्णतः पा लेना चाहता है। जीव-जीवन की यह एक परम सामान्य परन्तु साथ ही परम विलक्षण विशेषता है कि वह अपने प्यारे का प्रियतम बनना चाहता है, जिसे प्यार करता है उसके प्यार पर अपना एकाधिकार या इजारा चाहता है[१]। सगुण साधना मे यह चाह सहज रूप में बलवती एवं फलवती होती है, परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि जो अत्यन्त गुह्य अर्थात् 'एॉसटरिक' साधनाएँ है उनमे भी किसी न किसी रूप में मधुर भाव की उपासना बनी हुई है। यहाँ हम इतना ही देखना चाहते है कि भारतीय गुह्य सहज साधनाओ मे मधुर भाव का क्या स्वरुप है और उसकी पूर्ण निष्पत्ति का क्रम क्या है। क्योकि बौद्ध धर्म मे भी प्रज्ञापारमिता तथा आदि बुद्ध के सम्मिलन से 'महासुख' की उपब्धि होती है। तंत्रादि में भी इस की विशेष व्याख्या है। नाथ, सिद्धो और सतो में भी इस उपासना की विशेष व्याख्या है। वैष्णव सहजिया सप्रदाय मे इसका सागोपांग विवरण है। इस प्रकार ऐतिहासिक क्रम से देखने पर ही मधुर रस की साधना हमारे देश की परम प्राचीन साधना है इस में सदेह नही किया जा सकता।

सहज साधनाओं की पृष्ठभूमि—भारतवर्ष की समस्त गुह्य धर्म-साधनाओ की पृष्ठभूमि तथा लक्ष्य एक है। वासना के विवर्जन या तिरस्करण के स्थान पर वासना के शोधन एव उन्नयन द्वारा मानव मन के अन्दर सोये हुए दिव्य आनन्द को उद्बुद्ध एव उल्लसित करना ही इसका लक्ष्य है। इसके लिए शरीर की दृढता, मन की निर्मलता, बुद्धि की तीक्ष्णता

---

1 One longs for another for perfection
M M. G. N. Kaviraj

इसी को प्रो० रायस (Royce) 'Man's homing instinct' कहते है।

'इश्क अल्लाह महजब अल्लाह'

The lover of God is the beloved of God
—अलबस्तामी

He who chooses the Divine has been chosen by the Divine.
—Sri Aurobindo.

एव आत्मा की विजयोत्कण्ठा अनिवार्यत. आवश्यक है। समस्त सहज साधनाओ में वाणी, मन, श्वास, वीर्य और प्राण पर सहज रूप से नियन्त्रण स्थापित कर इनका उर्ध्व दिशा मे उन्नयन आवश्यक माना गया है। लक्ष्य इनका है समरस की स्थिति में प्रवेश करना। यह स्थिति योग से प्राप्त हो या प्रेम से प्राप्त हो—साधन भेद या प्रस्थान भेद जो भी हो, लक्ष्य में कोई भेद नही है।

समरस की अवस्था—समरस की अवस्था दिव्य आनन्द की वह अवस्था है जिसमें दो का एकीकरण होता है। 'सहजिया' यह मानते हैं कि मनुष्य जीवन पर्यन्त सघर्ष झेलकर भी काम को सर्वथा निर्मूल या उच्छिन्न नही कर सकता। अतएव इसका उन्नयन कर इसे ही दिव्य प्रेम और दिव्य आनन्द अर्थात् महासुख और महानुभव का निर्मल एव अमोघ साधन बनाया जा सकता है। उनकी मान्यता है कि मनुष्य राग द्वारा ही बँधता, और राग द्वारा ही मुक्त होता है—'रागेन बध्यते जीवो रागेनैव प्रमुच्यते।'

समस्त गुह्य साधनाओ की एक सामान्य मान्यता यह भी है कि एक से दो हुआ और दो से अनेक। इसीलिए एक वचन, द्विवचन तब बहुवचन। 'स एकाकी ना रमत एकोऽहं बहु स्या प्रजायेम' का भाव यही है। एक से ही यह अनेक है परन्तु इस अनेक के प्राण में पुन उसी 'एक' में लौट जाने की प्रबल वासना है जिसमे से वह निकला है। इसीलिए इन आन्तर गुह्य साधनाओ का चरम और परम लक्ष्य है द्वैत का सर्वथा निरसन और अद्वैय स्थिति की उपलब्धि। इस अद्वय स्थिति मे दो का एकीकरण हो जाता है अथवा एक ही मे दोनो समाविष्ट होते है जिसे उनकी भाषा मे अद्वय, मिथुन, युगनद्ध, यामल, युगल, समरस, सहज आदि नामो से अभिहित किया गया हैं। हिन्दू तत्रो ने परात्पर तत्व के द्विधात्मक रूप को शिव और शक्ति अथवा पुरुष और प्रकृति के रूप मे स्वीकार किया है। और इन अतरग गुह्य साधनाओं ने ब्रह्माड और पिंड की एकता को स्वीकार करते हुए यह माना है कि मूल तत्व मे, जो कुछ भी ब्रह्माड मे है वह पिण्ड मे भी है। शिव का निवास सहस्रदल कमल (सहस्रार) मे है और शक्ति का मूलाधार में। शक्ति मूलाधार मे सर्प की तरह गेडुर मारे बैठी रहती है। साधना के द्वारा इसे जगाकर, मूलाधार से उठाकर सहस्रार मे शिव के साथ इसका सम्मिलन कराया जाता है। शिव शक्ति का यह सम्मिलन ही आनन्द का आदि विलास है।

इस सदर्भ मे यह भी लक्ष्य करने योग्य है कि प्रत्येक पुरुष शरीर के वाम भाग मे नारी और दक्षिण भाग मे पुरुष तत्व विद्यमान रहता है । इसी से सदा-शिव के अर्द्धनारीश्वर रूप मे वामार्द्ध मे उमा और दक्षिणार्द्ध मे महेश्वर है । इसी प्रकार वैष्णव सहजिया मे रसिक साधक वामार्द्ध में राधा दक्षिणार्द्ध में कृष्ण, बाई आँख मे राधा और दाहिनी आँख मे कृष्ण है— ऐसा मानते है ।[1] अस्तु प्रत्येक पुरुष और प्रत्येक नारी म पुरुष तत्व और नारी तत्व विद्यमान है—पुरुष मे पुरुषत्व की प्रधानता है नारी मे नारी तत्व की, परन्तु है दोनो मे दोनो ही । ठीक जैसे वाम और दक्षिण का अर्थ है नारी और पुरुष, वैसे ही वाम का अर्थ है इडा और दक्षिण का पिगला, वाम का अर्थ है प्राण और दक्षिण का अर्थ है अपान । साधना के द्वारा इन्हे 'सम' करके प्राण-प्रवाह को सुषुम्ना मे प्रवाहित किया जाता है । यही सुषुम्ना-साधना है ।

इस दृश्य जगत मे पुरुष और नारी का जो भेद हम देखते है वह भेद परात्पर तत्व में भी ज्यो का त्यो विद्यमान है—शिव शक्ति रूप मे । शिव शक्ति का सामरस्य ही परात्पर सत्य है । प्रत्येक पुरुष और नारी शरीर मे शिव और शक्ति विद्यमान है अस्तु परम सत्य के साक्षात्कार के लिए यह अनिवार्यत आवश्यक है कि प्रत्येक पुरुप अपने को शिव रूप मे और प्रत्येक स्त्री अपने को शक्ति रूप मे अनुभव करे और तब परस्पर शारीरिक, मानसिक एव आध्यात्मिक सम्मिलन द्वारा परम आनन्द की उपलब्धि करे । समस्त अन्तरग गुह्य साधनाओ की यही चरम परिणति है । समस्त गुह्य साधनाओ के अन्दर यही है परम रहस्य जिसका सधान साधक और साधिका करते है ।

बौद्धो का 'सहज'—बौद्ध सहजिया साधना मे, परात्पर तत्व 'सहज' है—वह आत्म-अनात्म निरपेक्ष है । शून्यता और करुणा—दूसरे शब्दो मे 'प्रज्ञा' और 'उपाय' उस सहज के प्रधान लक्षण है । यह 'प्रज्ञा' और 'उपाय' और कुछ नही है बल्कि हिन्दू तत्रो के शिव और शक्ति है । प्रज्ञा' (नारी तत्व) और 'उपाय' (पुरुप तत्व) का सम्मिलन ही बौद्ध सहजिया साधना का लक्ष्य है । प्रज्ञा और उपाय का एक और भी अर्थ है और वह है प्रज्ञा = इडा, उपाय = पिगला । इन दोनो को सम करने पर प्राण-प्रवाह सुषुम्ना से होकर ऊपर की ओर उठता है । इस प्रकार प्रज्ञा और उपाय

१—वामे राधा दाहिने कृष्ण देखे रसिक जन ।
दुई नेत्रे विराजमान राधा कुड श्याम कुंड दुई नेत्रे हय ।
सजल नयन द्वारे भाव प्रेमे आस्वादय ।

के सम्मिलन से योगी अन्त सम्मिलन की साधना मे प्रवेश पाता है। 'उपाय' ही है बज्रसत्व जिसका सहस्रार मे निवास है और 'प्रज्ञा' है शक्ति जो मूलाधार मे रहती है। अन्तर्मिलन का अर्थ है नाभिदेश से शक्ति को उद्बुद्ध कर सहस्रार मे शिव के साथ युगनद्ध करना।

वैष्णव सहजिया में राधाकृष्ण तत्व—वैष्णव सहजिया साधना मे चिर भोक्ता और चिर भोग्या के रूप मे क्रमश. कृष्ण और राधा की उपासना चलती है और इस साधना विशेष मे यह मानकर चलना होता है कि प्रत्येक पुरुष कृष्ण और प्रत्येक स्त्री राधा है। 'आरोप' के द्वारा जब पुरुष अपने को कृष्ण और स्त्री अपने को राधा के रूप में अनुभव करने लगती है तब पुरुष और स्त्री का सम्मिलन तत्वत. पुरुष-स्त्री का सम्मिलन न होकर कृष्ण और राधा का सम्मिलन हो जाता है। बौद्ध सहजिया मे योग साधना की मुख्यता है पर वैष्णव सहजिया मे प्रेमसाधना या रस-साधना की।

नाथ पंथ की उपासना सूर्य चंद्रतत्व—नाथपथ मे युगलोपासना एक और ही रूप मे व्यक्त हुई। यहाँ सूय और चन्द्र प्रतीक रूप मे लिये गये सूर्य कालाग्नि रूप मे और चन्द्र अमृतत्व रूप मे। नाथ सिद्धो का लक्ष्य रहा है दिव्य शरीर मे अमृतत्व की उपलब्धि। हठयोग की नाना क्रियाओ, बँध, मुद्रा आदि द्वारा तथा रसायन द्वारा कायाशोधन और कायासिद्धि की प्रणाली सिद्धो मे विशेष रूप मे पाई जाती है। नाथ सिद्धो के काय-सिद्धि और रस सिद्धि की यह साधना रसायन सम्प्रदाय से बहुत मिलती जुलती है, भेद इतना ही है कि रसायनज्ञो मे रससिद्धि की ही प्रधानता रही जहाँ नाथ पथ में योगिक क्रियाओ की। साथ ही वैष्णव सहजियो की भाँति नाथ पथियो ने भी अतरग साधना के लिए प्रेम को ही सर्वोपरि मान्यता प्रदान की। सहज उपासना मे बौद्ध सहजियो का लक्ष्य 'महासुख' और वैष्णव सहजियों का लक्ष्य 'परम प्रेम' रहा पर दोनो ही प्रकार के लक्ष्य की सिद्धि के लिए यह अनिवार्यत स्वीकार किया गया कि सबल और निर्मल शरीर के बिना यह साधना हो नही सकती इसीलिए सभी प्रकार की अन्तरग साधनाओ मे किसी न किसी रूप मे योग की प्रधानता बनी रही।

भागवत धर्म में श्रीकृष्ण

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश से निर्मित इस पच महाभूतात्मक स्थूल मानव शरीर मे कोई ऐसी सूक्ष्म वस्तु है जो हमारे जीवन को विश्व के चिरन्तन जीवन-प्रवाह मे मिलाने के लिए व्याकुल रहती है; विश्व के सार्वभौम जावन मे मिले बिना वह स्वत: अपूर्ण अथ च अर्थहीन है। जब तक हमारा स्वर विश्व-सगीत में लीन नही हो जाता तब तक हमारे स्वर मे कोई लय नही, कोई ताल नही, कोई सकेत नही, कोई अर्थ नही। व्यष्टि के समष्टि में मिलने की परम उत्कण्ठा को भिन्न-भिन्न धर्मो ने भिन्न-भिन्न प्रकार से व्यक्त किया है। 'एक' मे अनेक और अनेक मे एक के सागरस्य को ही सभी धर्म सम्पादित करते है, कम से कम करना चाहते तो है अवश्य। सभी धर्मो ने स्वीकार किया है कि मनुष्य, या सभी चेतन पदार्थ मे, अचेतन जड़ तक मे भी, ब्रह्म की परम ज्योति बिखरी पडी है और इस अनित्य नश्वर जगत् में वही 'एक' अनन्त एव शाश्वत है। धर्म तथा जीवन की तह मे प्रवेश कर हमारे ऋषियो ने यह अनुभव किया है कि समस्त अनित्यता की तरग तथा बुद्बुद् के नीचे नित्य, अकल, अनीह, निरजन ज्योति का अविच्छिन्न प्रवाह चल रहा है। यह निखिल ब्रह्माण्ड उस 'एक' का न परिणाम है और न विवृति ही! यह उसकी लीला है, 'लीला एव प्रयोजनमस्ति'।

ब्रह्म की 'एकोऽह बहुस्या' की अमूर्त्त वासना से निखिल ब्रह्माण्ड का विराट् अभिनय प्रारभ हुआ। क्योकि वह 'एकाकी' आनन्द का उपभोग कर नही पाता था। आनन्द की उपलब्धि तो दो से ही होती है। उसी 'एक' से ही अनेक की सृष्टि हुई इसीलिये मूल रूप से अनेक के हृदय मे उस 'एक' के लिये ही भूख-प्यास है। और उस 'एक' मे लय हुए बिना अनेक को शान्ति

नही, आनन्द की उपलब्धि नही । हां, 'वह' एकाकी ऊब रहा था, 'स एकाकी न रमते' इसलिये 'बहुस्या'—बहुत हो जावे ऐसी वासना उसके हृदय में उगी और फिर क्या था, विश्व का रगमच नाच उठा । 'वह' स्वय उसी मे व्याप्त हो रहा है, भीतर भी, बाहर भी । सूत्र मे जिस प्रकार मणियों का हार पिरोया होता है उसी प्रकार 'वह' अखिल चराचर मे होता हुआ, उसे बेधता हुआ, ओतप्रोत करता हुआ चला गया है । सभी कुछ उसी में तल्लीन है, ओतप्रोत है; दूध में घी अथवा मधु मे मिठास की भाँति । बीज मे सारा वृक्ष मूल-रूप मे, सार-भूत होकर सन्निहित है । 'वह' हममे घुला-मिला, ओतप्रोत है, फिर भी हमारा उसका साक्षात्कार नही होता । 'पिउ हिरदय महँ भेट न होई, को रे मिलाव कहौ केहि रोई'—ही हमारी सारी उत्सुकता, अभिलाषा तथा जिज्ञासा का मूल प्रेरक है । हम सतत् उसके स्पर्श में आने, उसमे लय होने के लिए व्याकुल है । हम अरुण शुक-वसना उषा की मधुर रूप-श्री देखते है, हमारा हृदय आनन्द से नाच उठता है, विभोर हो जाता है । मधुमास मे मजरी के भार से झुकी हुई अमराइयो, गदराई हुई लता-बल्लरियो के भीतर छिपकर कोकिला कल्याण का राग छेड जाती है, अपने दर्द-भरे घायल दिल को उँडेल जाती है । हमारा हृदय किसी अज्ञात वेदना में कुहुँक उठता है । शरद ऋतु के किसी ज्योत्स्ना-स्नात निशीथ मे अनन्त सागर एव दूर तक फैले हुए विशाल सैकत खण्ड पर छिटकी हुई चाँदनी, उद्वेलित लहरो की हलचल किसके हृदय में एक अतृप्त लालसा का उद्बोधन नही करती ? सजल सावन के सघन रिमझिम मे पक्षियो को प्रफुल्ल क्रीडा करते और चहचहाते देख किसका हृदय आनंद से आप्लावित नहीं हो जाता ? यह सब कुछ हम देखते है और विस्मय से भर जाते है । हम इन चित्रो के पीछे छिपे हुए चित्रकार को देखना चाहते है, इस विराट् अभिनय के सूत्रधार को देखना चाहते है और चाहते है उस गायक को देखना जिसके इस दिव्य सगीत मे अखिल विश्व डूबा जा रहा है । रमणीय दृश्यो को देखकर और मधुर शब्दो को सुनकर हमारे अन्तस् मे जो आकुल उत्कण्ठा जग जाती है—हमारी इस जागृत अभिलाषा, चिर अतृप्त आकाक्षा की पुनीत प्रेरणा द्वारा ही हमारे भीतर ईश्वर की खोज का आरभ होता है ।

प्रकृति के निरवगुण्ठित, आवरणहीन सौदर्य के अविच्छिन्न साहचर्य्य मे आकर हमारे आत्मदर्शी ऋषियो ने अपने अन्तस् मे उसके अतल स्पर्श का अनुभव किया और आनद-विभोर हो यत्किञ्चित् अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त किया है । वैदिक युग मे प्रकृति के इन्ही व्यक्त प्रतीकों की

उपासना भी होती थी। वरुण, इन्द्र, यम, अग्नि, विष्णु आदि की पूजा प्रचलित थी। उषष् छन्दो के अतिरिक्त इन मन्त्रो में देवता की शक्ति का ही विशेष वर्णन है। सौदर्य की ओर ध्यान गया भी है वह भी लौट कर शक्ति मे मिल गया है। ऋग्वेद मे वरुण सबसे श्रेष्ठ देवता माने गये है। वरुण जल के देवता है और उनकी शक्ति भी अपरिमेय है। विष्णु छन्दो मे बार-बार विष्णु के 'तीन मधुपूर्ण पदो से अखिल ब्रह्माण्ड को नापने' की कथा दुहराई गई है। परतु वही छठे छद की एक पक्ति है—'भूरि शृङ्गाः अयास गाव'[1] अर्थात् विष्णु का वह पावन-लोक जिसमे अनेक सीगवाली गाये चरती-फिरती है। विष्णु के साथ गोचारण, गोपालन तथा विष्णु-लोक मे गौओ का घूमना-चरना देख अवश्य कुतूहल होता है क्योकि यही विष्णु आगे चलकर हमारे गोपाल कृष्ण बन जाते है।

वैदिक युग मे गोलोक-विहारी विष्णु की एक झलक लेकर हम आगे बढते है और ब्राह्मण तथा उपनिषद् काल मे प्रवेश करते है। आरभ मे ही यह कह देना उचित होगा कि उपनिषदो मे ज्ञान का ही विषय प्रधान है। उन्होने ब्रह्मात्मैक्य का ही प्रतिपादन किया है। हमारे क्रान्तदर्शी महर्षियो ने स्पष्ट कह दिया है कि ब्रह्म हमारी वाणी और मन की पहुँच से परे है, वह परब्रह्म पचमहाभूतो के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गध इन पांच गुणो से रहित अनादि, अनत और अव्यय है।[2] परतु ज्ञानाश्रयी उपनिषदो मे भी अव्यक्त की व्यक्त उपासना की झलक कही-कही मिलती है। तैत्तिरीय उपनिषद् की भृगुवल्ली में वरुण ने भृगु को यही उपदेश किया है कि अन्न ही ब्रह्म है फिर क्रम से प्राण मन, विज्ञान और आनद इन ब्रह्म रूपो का ज्ञान उसे करा दिया है। परन्तु अन्त मे आते-आते उत्तरकालीन उपनिषदो मे सच्चिदानद की भावना श्रीकृष्ण के रूप में की गई है। 'गोपाल-तापनी उपनिषद्' मे 'सच्चिदानद रूपाय कृष्णायाक्लिष्टकारिणे' तथा अथर्व शीर्ष मे 'गोविन्द सच्चिदानन्दविग्रहं' पद आते है। 'ब्रह्म-सहिता' के पचम अध्याय का प्रथम श्लोक है—

---

१ न वा वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरि शृङ्गा अयास ।
अत्राह तदु गायस्य वृष्णः परम पदमेव भाति भूरि ।।
ऋग्वेद, मंडल १, सूक्त १५४, छंद ६

२ यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'। (तैत्ति० २, ९)
अद्रेश्यं अग्राह्य (मुं० १. १ ६)
न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा' (मुं० ३. १ ८)

ईश्वर परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः ।
अनादिरादि गोविन्दः सर्वकारण कारणम् ॥

साराश यह कि वैदिक काल में धर्म का अत्यन्त प्राचीन स्वरूप यज्ञमय कर्म प्रधान होते हुए भी ब्रह्म की प्रतीक उपासना की आवश्यकता समझी जाने लगी थी और उपनिषद् काल मे उस ब्रह्म सच्चिदानद की मधुर कल्पना श्रीकृष्ण वासुदेव के ही रूप मे होने लगी थी। वेद-सहिता तथा ब्राह्मणो में भी, विशेषत इसी की आगे चलकर तीन शाखाएँ हो गई। उनमे पहली यज्ञ-याग आदि कर्म को प्रतिपादित करती रही, दूसरी ज्ञान तथा वैराग्य द्वारा कर्म-सन्यास अथवा साख्य मार्ग और तीसरी शाखा ज्ञान-समुच्चय मार्ग की ओर प्रवृत्त हुई। इनमें से ज्ञान-मार्ग से ही आगे चलकर योग और भक्ति के प्रवाह निकले। ज्ञान प्रधान उपनिषदो मे ब्रह्म-चिन्तन के लिए प्रणव का पुष्ट साधन स्वीकृत था। आगे चलकर रुद्र, विष्णु आदि वैदिक देवताओ की उपासना का प्रारभ हुआ और अत मे ब्रह्म-प्राप्ति के लिए राम, नृसिंह, श्रीकृष्ण, वासुदेव की उपासना का प्रादुर्भाव हुआ। छादोग्य उपनिषद् में मे एक स्थल पर स्पष्टत अकित है कि मनुष्य का जीवन एक प्रकार का यज्ञ ही है और यह यज्ञ-विद्या आँगिरस नामक ऋषि ने देवकी-पुत्र कृष्ण को बतलाई। मैत्र्युपनिषद् मे यह कई स्थलो पर प्रकट किया गया है कि विष्णु, अच्युत, नारायण, वासुदेव, श्रीकृष्ण आदि की भक्ति की जाती है और ये भी परमात्मा एव ब्रह्म के स्वरूप है। परन्तु यह भक्ति साधन-मात्र मानी गई—साध्य ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान ही निरूपित किया गया। इसी हेतु वैष्णव उपनिषदो में भी भक्ति का निखरा हुआ रूप प्रकट न हो सका।

उपनिषत्काल से लेकर बौद्ध-जैन धर्म के जन्म तक के हमारे धार्मिक-विकास का कुछ व्यवस्थित क्रमबद्ध रूप नही मिलता। वैष्णव धर्म प्रवृत्ति-मूलक, साधना-मूलक है और बौद्ध तथा जैन धर्म निवृत्ति-मूलक ज्ञान-वैराग्य-प्रधान हैं। इसी हेतु वैष्णव धर्म का वह स्रोत जो उपनिषत्काल के उत्तर भाग मे प्रवाहित हो चला था बौद्ध तथा जैन धर्मो के सन्यास-मूलक वातावरण में लुप्तप्राय हो गया। काल-चक्र की गति बड़ी ही विचित्र है। महाभारत के 'नारायणीयोपाख्यान' मे भक्ति की एक झिलमिल आभा विकीर्ण हुई जो श्रीमद्भागवत् मे विराट् रूप मे प्रकट हुई। नारद सूत्र और शाडिल्य सूत्र मे तो भक्ति की बहुत ही सूक्ष्म मीमासा हुई है। भक्ति की जो सुव्यवस्थित निष्पत्ति श्रीमद्भागवत् में हुई वह नारद तथा शाडिल्य सूत्रो द्वारा प्रवर्तित पावन भक्तिमय वायुमडल में पूर्णतः पल्लवित-पुष्पित हुई। श्रीमद्भागवत्

के दसवे स्कध मे श्रीकृष्ण की रास तथा चीरहरण की जिन लीलाओ का वर्णन हुआ उनमे प्रेम एव आनन्द की इतनी अधिक मात्रा थी कि जनता का हृदय सहसा आकृष्ट हुए बिना न रहा।

'गीता' का ज्ञान कर्ममूलक, भक्ति-प्रधान है। उसमे तीनो का समन्वय है। कर्म को ज्ञान की आग मे शुद्ध कर भक्तिपूर्वक भगवान् के चरणो में सर्वात्मभाव से श्रीकृष्णार्पण कर देना है। गीता का भक्त भी 'स्थितप्रज्ञ" है तथा नित्य सनातन ब्राह्मी स्थिति मे विचरनेवाला है। गीता समर्पण में समाप्त होती है, भागवत समर्पण से शुरू होती है। 'मामेक शरण व्रज" गीता के अन्तिम अध्याय का पद है परन्तु भागवत के परीक्षित् सब प्रकार से शुकदेव के चरणो मे आत्मार्पण करके प्रवृत्त हुए है। इसीलिये ऊपर कहा गया है कि गीता जहाँ समाप्त होती है, भागवत का वहाँ से श्रीगणेश होता है। गीता मे कही-कही 'परम भाव' की जो झलक मिलती है वह श्रीमद्भागवत् के दशम-स्कध से सर्वथा भिन्न नही है। अठारहवे अध्याय में भगवान् के अन्तिम उपदेश वचन को ही लीजिए, जिसे कहकर भगवान् ने अर्जुन के अन्तश्चक्षुओ को खोल दिया है—

"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेक शरण व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच.॥"

ग्यारहवे अध्याय का वह श्लोक जिसमे अर्जुन भगवान् के विराट् विश्व-रूप को देखकर काँप रहे है और 'सखा', 'यादव', 'कृष्ण' आदि कहकर विहार, शय्या, आसन, भोजन मे अपने किए हुए सख्य-व्यवहार पर वह आत्मक्षोभ मे डूब रहे है, क्षमा के लिए भगवान् के चरणो मे प्रणत होकर भय से काँपते हुए करुणा से गीले शब्दो मे कहते है—

'तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायम्
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य, सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव! सोढुम्॥

समर्पण का यह कोमल मधुर भाव पति-पत्नी के सम्बन्ध मे ही पूर्णत चरितार्थ होता है। इसी हेतु भगवान् को पिता और सखा मान कर ही अर्जुन को सतोष नही हुआ, 'प्रिय. प्रियाया' ही बना कर छोड़ा।

साधना का वह परम पावन स्रोत जो पहाड की कदराओ, खोहो-गह्वरों मे बह रहा था, उपनिषत्काल मे हमारी आँखों के सम्मुख कल कल वेग से बहता चला जा रहा था, पूर्ण रूप से श्रीमद्भागवत मे ही प्रकट हुआ। हृदय की सम्पूर्ण भावनाओ एव प्रवृत्तियो को पूर्णत. रमने का पहला अवसर यही

था। प्रेम, आनद एवं सौदर्य की जो त्रिवेणी श्रीमद्भागवत के दशम स्कध मे वही है उसमे बार-बार मज्जन और पान करके भी हमारा हृदय अघाता नही, तृप्त नही होता, अभी और की आकाक्षा बनी ही रहती है।

इस परम मङ्गलमय भागवत धर्म के सार तत्त्व को स्वय श्रीकृष्ण ने उद्धव से कहा है—'निरन्तर मुझमे ही मन और चित्त को लगाये रहनेवाला तथा जिसके आत्मा और मन का मेरे धर्मो में ही अनुराग हो गया है वह पुरुष मेरा स्मरण करता हुआ अपने सम्पूर्ण कर्मो को धीरे-धीरे मेरे ही लिये करता रहे। जहाँ मेरे भक्त साधुजन रहते हो वहाँ रहे। पर्व-दिनो पर अकेला ही अथवा सबके साथ मिलकर नृत्य, गान, वाद्य के द्वारा ठाट से मेरी यात्रा आदि का महोत्सव करावे। निर्मल चित्त होकर सम्पूर्ण प्राणियो मे और अपने आपमे मुक्त आत्मा को ही आकाश के समान निरावरण रूप से बाहर-भीतर व्याप्त देखे। इस प्रकार वह समस्त प्राणियो को मेरा ही रूप मानकर सत्कार करता है तथा ब्राह्मण और चाण्डाल, चोर और भक्त, सूर्य और चिनगारी तथा कृपालु और क्रूर मे समान दृष्टि रखता है, लोभ, लज्जा छोडकर कुत्ते, चाण्डाल, गौ और गधे को भी पृथ्वी पर गिर कर साष्टाङ्ग प्रणाम करता है और इस प्रकार मन, वाणी और शरीरकी समस्त वृत्तियो से सपूर्ण प्राणियो मे मेरी ही भावना करता है।'

भागवत धर्म के मूल तत्त्व-ज्ञान मे परमेश्वर को वासुदेव, जीव को सकर्षण, मन को प्रद्युम्न तथा अहकार को अनिरुद्ध कहा गया है। भगवान् ने गीता में 'वासुदेव सर्वमिति' ऐसी भावना करनेवाले महात्मा को 'सुदुर्लभ' कहा है। इसका विशेष कारण यही है कि प्रेम का परम व्यापक स्वरूप 'रति' मे ही सन्निहित है। हमारी समस्त रसप्यासी वृत्तियो के आलबन-उद्दीपन, आकर्षण, प्रश्रय एव प्रसार के लिए, प्रेम के आनन्दमूलक, सौन्दर्य-सत्तात्मक एक ऐसी मधुर मूर्त्ति की उद्भावना होनी चाहिए थी जिसमे हमारा हृदय पूर्णत डूब जाय। ऐसी छविशाली मूर्त्ति श्रीकृष्ण की ही है।

हृदय नारी है, मस्तिष्क पुरुष। हृदय का धर्म है सवेदन, मस्तिष्क का धर्म है चिन्तन। हृदय सुन्दर की ओर आकृष्ट होता है, मस्तिष्क सत्य की ओर। हृदय भक्ति-विह्वल, भावना-प्रवण होता है, मस्तिष्क ज्ञान-चितक एव आत्मदर्शी। भक्ति प्रधानत नारी-हृदय का धर्म है, ज्ञान पुरुष-हृदय का। भक्ति 'त्वदीय वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये' लेकर चलेगी परन्तु ज्ञान 'उत्तिष्ठत, जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत' लेकर। भक्ति का पथ राज-मार्ग के समान सरल, सुगम एव प्रशस्त है परन्तु ज्ञान की 'ऊँचो गैल राह रपटीली

को 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया' कहा गया है । वैष्णव धर्म भावना-प्रधान प्रवृत्ति-मूलक तथा आनन्द विधायक है । भगवान् की शील, शक्ति एव सौदर्य—तीन विभूतियो मे राम मे तीनो का समन्वय होते हुए भी शील एव शक्ति का चरम विन्यास हुआ है । कृष्ण मे, इसके विपरीत, सौन्दर्य की प्रधानता है । राम मे लोक-मर्यादा, कर्तव्य और आत्मसयम का ही भाव प्रमुख है, कृष्ण में प्रेम एव आनन्द का । राम मे दास्य भाव की ही परितुष्टि होती है परन्तु कृष्ण मे सख्य, वात्सल्य तथा मधुर भाव की । यही कारण है कि भक्ति की सम्पूर्ण रति-भावना की पुष्टि श्रीकृष्ण में ही हुई । इसी हेतु राम-भक्ति-शाखा की अपेक्षा कृष्ण भक्ति-शाखा अधिक पल्लवित-पुष्पित हुई । रामानुज और रामानन्द ही राम-भक्ति-शाखा के प्रधान आचार्य हुए परन्तु कृष्ण-भक्ति-शाखा मे वल्लभाचार्य्य, मध्वाचार्य्य, निम्बार्क, विष्णुस्वामी, हितहरिवश चैतन्य महाप्रभु आदि कई हुए । रामभक्ति की परम पुनीत गाथा 'रामायण' तक मे ही केन्द्रीभूत हुई परन्तु कृष्ण-भक्ति की जो स्रोतस्विनी उमडी, उसमे श्री चैतन्य, जयदेव, विद्यापति, मीरा, सूर, नन्ददास, घनानन्द, रसखान आदि कवियो की एक धारा-सी छूट पडी ।

राधा का अभाव श्रीमद्भागवत मे अवश्य खटकता है, परन्तु रास मे सहसा भगवान् के अन्तर्धान हो जाने पर गोपिकाएँ राधारानी के भाग्य की सराहना करती हुई कह रही है—

अनयाराधितो नून भगवान् हरिरीश्वरः ।
यन्नो विहाय गोविन्द. प्रीतो यामनयद्रह ॥

निश्चय ही इन्ही राधारानी ने भगवान् श्रीहरि का एकान्त आराधन किया है क्योकि इनके ही प्रेम के पीछे भगवान् हम सबको सहसा परित्याग करके उनके साथ एकान्त मे चले गये ।

यह विषय अत्यन्त ही गोप्य है । भगवान् व्यासदेव ने भी इसे परम गुप्त समझकर अप्रकट ही रखा है । केवल सकेत से बहुत ही थोडा-सा लक्ष्य किया है ।

भगवान् श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति आनद-विधायिनी राधारानी तथा सहस्र-सहस्र गोपियो की केलिक्रीडा मे 'कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्' का भाव हमारे हृदय पर सदा के लिए अमिट रूप मे जम जाता है । पूतना और कस के तारनेवाले, सुदामा के तन्दुल और विदुर के साग पर रीझनेवाले, प्रेम, आनन्द एवं सौन्दर्य की अपार राशि, सहस्र-सहस्र गोपियो के प्राणवल्लभ और यशोदा के लाड़ले नन्द के दुलारे श्रीकृष्ण हमारे हृदय के हृदय मे सदा के लिए बस जाते है ।

पता नही कितनी आत्माएँ राधारूप में अपने को श्रीकृष्ण के चरणो में निवेदित कर चुकी है। देवदासियो का रूप पीछे जाकर चाहे जितना भी विकृत हो गया हो परन्तु आरम्भ मे तो उनका देवता के चरणो मे सर्वात्मसमर्पण प्रेम की प्रेरणा द्वारा हुआ करता था। इन देवदासियो का कोई सुव्यवस्थित इतिहास नही मिलता, परन्तु यह तो हम जानते है कि अन्दाल, कान्होपात्रा जैसी सहस्र-सहस्र कुमारियो ने अपना पवित्र एव अक्षत यौवन श्रीकृष्ण के चरणो में चढाया है, और उन्हे भगवान् का अग-सग प्राप्त हुआ, उनके सारे मनोरथ पूरे हुए, इसे कौन अस्वीकार करेगा ?

अन्दाल का जन्म विक्रम सवत् ७७० के लगभग हुआ था। वह दक्षिण के आलवार सतो मे प्रमुख मानी जाती है। वह एक दिन प्रात काल तुलसी के एक वन मे पायी गई। सयानी होने पर जब वह भगवान् के लिये माला गूथती तो प्रेम में इतना पागल हो जाती कि उस गूथे हुए हार को स्वयं पहन कर आइने के सामने खडी हो जाती और अपने सौन्दर्य की अपने आप प्रशसा करती हुई कहती—"प्रभु मेरे इस श्रृङ्गार को स्वीकार कर लोगे ?" श्रीकृष्ण सदा ही उसकी जूठी माला पहना करते और इसी मे उन्हे विशेष सुख मिलता।

अन्दाल वस्तुत दक्षिण भारत की मीरा थी। वह मधुर भाव की चरम सीमा पर पहुँच गई थी। वह चित्त से सदैव वृन्दावन मे वास करती थी और गोपियो के साथ मिल कर अपने प्राण-वल्लभ हरि के साथ केलि-क्रीडा किया करती थी। अन्दाल का विवाह एव पाणिग्रहण बडी धूमधाम से भगवान् श्रीरगनाथ के साथ हुआ। अन्दाल ने प्रेम मे मतवाली होकर रंगनाथजी के मन्दिर मे प्रवेश किया और तुरन्त वह भगवान् की शेषशय्या पर चढ गई। इतने में ही लोगो ने देखा कि सर्वत्र एक दिव्य प्रकाश छा गया और उस प्रकाश मे अन्दाल सब के देखते ही देखते बिजली-सी चमक कर विलीन हो गई। प्रेमी और प्रेमास्पद एक हो गये। अन्दाल के जीवन का कार्य आज पूरा हो गया—वह अपने प्रियतम मे जाकर मिल गई।

दक्षिण के वैष्णव मन्दिरो मे आज भी अन्दाल के विवाह का उत्सव प्रतिवर्ष बडी धूमधाम से मनाया जाता है। पण्ढरपुर मे भगवान श्रीविट्ठ के चरणो मे आत्मार्पण करनेवाली कान्होपात्रा एक वेश्या की लडकी थी। उसने भी अपने को भगवान् के चरणो मे निवेदित किया और अन्त मे वह उसी मूर्ति में लीन हो गई।

कला की साधना

'रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति'

The meeting of man and god must always mean penetration and entry of the divine into the human and a self immergence of man in the Divinity.

—Sri Aurobindo

जिसे कवि ने 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' कह कर मन और वचन द्वारा अप्राप्य विराट निराकार की धारणा की थी, उसे चित्रकार ने तेजोमय प्रणव का रूप दिया, और इस साकार साधना में मानव हृदय को एक राहत मिली, आधार मिला, शान्ति मिली। जिसकी अलौकिक छवि ब्रह्माड के कण-कण में उल्लास एव आनद की किलकारियाँ ले रही है, उस अपरूप रूप को हम आँखो से पीना चाहते है, उसमे अपने सुख की छाया और दु ख की सहानुभूति देखना चाहते है। 'कोई' है जो हमसे ओट रहकर भी, हमारी इन स्थूल आँखो के ओझल रहकर भी हमारा 'अपना' है, हमारा प्रियतम है, हमारे जीवन का जीवन और प्राणो का प्राण है। श्रुति कहती है 'स उ प्राणस्य प्राण.' अर्थात् 'वह' प्राणो का प्राण है। उसे अप्राप्य या अदृश्य कहकर हमारे हृदय को तृप्ति नही होती, शान्ति नही मिलती। हमे तो उस 'न मिलनेवाले' से मिलना है, 'न दीखनेवाले' को देखना है और उस 'ना ना' की मधुर मूरत से एक बार 'हाँ' कहा लेना है। इस जगत मे सभी उसी प्रिय के अन्वेषण मे लगे है, सभी आनन्द के भिखारी है। इसी से समस्त जगत् क्रन्दन और हाहाकार की ध्वनि से भर रहा है। सभी के प्राण व्याकुलता से रो-रोकर यही चिल्ला रहे है—'कहाँ है वह सुन्दर ? वह आनन्द-सिधु, हमारा जीवनसर्वस्व, हमारा प्राण-सखा ? प्यारे ! कहाँ हो तुम ?' हमें विश्व के विविध रसो मे इसी 'एक रस' रसराज रसिकशेखर की चाहना बनी

रहती है, जिसे पाये बिना विश्व के सारे रस नीरस है, फीके है। हमे अपने परम प्रिय की छवि देखने की उत्सुकता आजीवन बनी रहती है। हम अपने हृदय के समस्त आनन्द, सौन्दर्य एव माधुर्य की विभूतियो को समेट कर उस निराकार की मजुल प्रतिमा का निर्माण करते है, और उस मूर्ति को हृदय-मन्दिर मे स्थापित करते है। कला की मूल प्रेरणा यही है।

सब मे आनन्द बिखेर कर, सभी वस्तुओ को अपनी शोभा से पूर्ण कर, सारे जगत् को शोभा से भर कर, कौन हो तुम जो हृदय के भीतर छिपे बैठे हो और मन्द-मन्द मुस्कुरा रहे हो? समस्त शोभाओ मे, सारे सौदर्य मे अपने को बिखेर कर भी तुम कैसे छिप कर 'भीतर' जा बैठे हो? छिपे-छिपे कौतुक कर रहे हो? सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, नदी, समुद्र, वृक्ष, लता, मानव, मानवी, जन्म, मृत्यु, सुख, दुख, सयोग, वियोग सभी कुछ क्या सुन्दर ताल के साथ तुम्हारे इशारे पर नाच रहे है! सब की ओट मे यह चिक डाल कर तुम खूब जा छिपे हो! पर्दे मे छिप कर भी अपनी झलमल-झलमल-रूप-श्री की स्निग्ध किरणो मे चर-अचर को अपने प्रेम-पाश मे बाँधे हुए हो और फिर भी तुम्हारा पता, तुम्हारा निशा कुछ भी नही मिलता! यह कैसी तुम्हारी मायामयी लीला है? श्रुति कहती है—'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्द प्रयन्त्याभिसविशन्ति, तै ३-६।'

एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा सम्पगषोऽस्यो परमोलोक एषोऽस्य परम आनन्दः, के० ४-`-३२।

इस आनन्द-भोग के लिए ही ससार की रचना हुई है। इसी आनन्द के हिलोरो से ससार नाच रहा है। मिलन और विरह दोनो मे ही प्रिय का प्रेम, प्रिय का आनन्द उमड़ रहा है। मिलन की ज्वाला ही कला का प्राण है। पृथ्वी किससे मिलने के लिए रात, दिन प्रतिपल चक्कर काटती फिरती है? आकाश अनादि काल से किसके लिए चन्द्र-सूर्य का दीपक जला कर विश्व के एक छोर से दूसरे छोर को नापा करता है? जल की इन लहरो मे व्याकुलता क्यो है? वे तट से क्यो टकराया करती है? हवा किसकी खोज मे सौरभ का उपहार समेटे, स्वय रूपहीन होकर, किस 'रूप' की आराधना के लिए नदी-नद, गिरि-गह्वरो तथा जगलो को छानती फिरती है! अग्नि के प्राणो मे इतनी ज्वाला क्यो है? क्यो यह भीतर ही भीतर सुलगती और धधकती रहती है? किसके चरणो को चूमने के लिए इसकी लपटे ऊपर उठकर आकाश मे विलीन हो जाती है? यही ज्वाला, यही मिलन की

'उत्सुकता' हमारे जीवन का मूल स्रोत है, आदि तत्व है, जो जन्म के प्रथम नि श्वास से लेकर मृत्यु की अतिम साँस तक अविच्छिन्न बनी रहती है। उसकी चेष्टाएँ, उसका अभिसार-उद्यम भले ही बारबार निष्फल होता रहे, परन्तु एक दिन अवश्य ही ऐसा आवेगा जिस दिन वह अपने जीवन के इस चरम लक्ष्य की सन्निधि मे पहुँच कर अपनी जीवन-यात्रा पूरी करेगी। उस परम प्रियतम को ढूँढे बिना इन्द्रियो की यह आनन्द-स्पृहा कभी मिट नही सकती। क्योकि उस आनन्द के लिए ही तो जीव-जीव का हृदय व्याकुल है और जिसे ही पाने के लिए उसने जीवन-यात्रा आरभ की है। वह आनन्द ही विश्व चराचर के प्राणो का एक मात्र अवलम्ब है। यह आनन्द नही होता तो यह जगत् एक पल भर के लिए भी जीवित नही रह सकता।

'एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति'। इतना ही नही, वह आनन्दोत्सुकता, यह जलन तो मृत्यु का द्वार लाँघ कर पुन नवीन जन्म प्राप्त कर नए जोश के साथ बढती जाती है। हमारे अनन्त जीवन की भाँति यह जलन भी, मिलन की यह उत्सुकता भी अमर है, अनन्त है। जिस प्रकार हमारा जीवन हमारे कई गत जन्मो से पार होकर इस रूप मे दिखलाई पडता है, उसी प्रकार यह जलन भी हमारे साथ अनादि काल से लगी चली आ रही है, और हमारे साथ ही अनत मे विलीन हो जायगी। इसी ज्वालामय जीवन की एक-एक चिनगारी से विश्व की निखिल कलाओ की सृष्टि हुआ करती है।

हृदय का यह स्वाभाविक गुण है कि वह 'सुन्दर' की उपासना करता है, और इस साधना मे वह स्वय अपनी उपासना की भाँति सुन्दर बन जाता है! इस साधना के पथ मे आगे बढ कर अपने उपास्य देव की मधुर छवि का विश्व के चर-अचर यावत् पदार्थो मे अवलोकन कर आनन्द-विभोर हो जाया करता है। आनद के अतिरेक मे वह गा उठता है, नाचने लगता है और उस आराध्य देव की रूप-रेखा को व्यक्त करने के लिए तूलिका मे रग भर कर चित्रपट पर कुछ टेढी-मेढी पक्तियाँ खीचने लगता है। इसी मिलन की अनुभूति और इस अनुभूति से उदभूत आनद की अतिरेकावस्था मे हमारे हृदय से कला की कलित धारा फूट बहती है, जिसका अवलोकन कर विश्व की तृषित आँखे जुडा जाती है। सौदर्य, आनन्द और माधुर्य के ये बाह्य प्रतीक वस्तुत उस आतरिक आनन्दसिधु के एक उल्लास की लहर है, भीतर की छलकन है। मदिरा, दीपक और प्रियतमा—ये सब मुख्यतः अन्तरग

वस्तुएँ है, जिनकी झलक इन सभी सूरतो में दिखाई पडती है। ऐ देखने वाले ! देख, मदिरा, दीपक और प्रियतमा मे कौन-सा आनन्द छिपा हुआ है। तू उस अमर मुख के प्याले से शराब पी जिसका साकी ईश्वर है और वह साकी ही सब लोगो को मदिरा पिलाया करता है। उसके बिना पिला ही कौन सकता है ? उस 'साकी' की चितवन ऐसी है जिससे हमारे प्राण निकलने लगते है और उसका एक चुम्बन हमे प्राण-दान देकर जीवित कर देता है।

कला और जीवन का बहुत ही घनिष्ट सबध है। एक दूसरे के बिना अधूरा है। कला की विशेषता इसी मे है कि वह जीवन की मूल आभ्यन्तर ललित लालसाओ को अभिव्यक्त करती है, और जीवन की विशेषता इसी मे है कि वह अपने 'देवता' की छाया देखकर प्रफुल्लित हो जाता है। जीवन कला का आदि स्रोत है, अनादि निर्झर है, जहाँ से कला अपनी सामग्री लेती है और कला स्वय जीवन के आधार की छाया है। उस अगाध समुद्र की एक हुकार—'foaming ot that ınfinıte deep' है। सृष्टि के आदि काल से जीवन और कला, दोनो लिपटी चली आती है और आज तो एक दूसरे की अविभेद्य सहेली बन गई हैं ! एक के बिना दूसरी को शान्ति ही नही मिलती, तृप्ति ही नही होती। आग्ल कवि लाँगफेलो ने गायको का कितना दिव्य उद्देश्य बतलाया है—

God sent Hıs sıngers upon earth
Wıth songs of sadness and of mırth
That they mıght touch the hearts of men
And brıng them back to Heaven agaın.

अर्थात् परमात्मा ने इस पृथ्वी पर गायको और कवियो को आनन्द और विषाद के गीतो के साथ इसलिए भेजा है कि वे मानव-हृदय को सस्पर्श कर उन्हे पुन उसी आनन्दलोक में लौटा ले चले।

कला हमारी भावनाओ की वाह्य अभिव्यक्ति है, हमारे सपनो की सजीव तस्वीर है। वह हृदय से एक आधार पकड़ कर बाहर बह चलती है। इसकी अभिव्यक्ति की रेशमी डोर को पकड कर जो 'भीतर' पैठ सके, भीतर की अपार सौदर्य-राशि को पा और पी सके, उस 'मधुक्षरन्ति सिन्धवः' का रसपान कर सके—वही कला का सच्चा पारखी है, कला के वास्तविक आनंद का वही भोक्ता है।

यह निखिल विश्व वास्तव मे एक अविच्छिन्न सगीत है, एक आर्ष कविता है, लीलामय की नृत्य-लीला है, एक सुन्दर सुमधुर आनद प्रवाह है, जिसके रस मे हमारे प्राण सराबोर हुआ करते है—'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ।' ऊपरी सारी विषमताओ की तह मे एक अविराम समता है, एक अविच्छिन्न सगीत है । ये विषमताएँ तो केवल ऊपरी बर्फ की चट्टाने है, जिनके अंतराल मे अविराम गति से आनद का अमृत-प्रवाह अनन्तकाल से प्रवाहित होता चला आ रहा है । हमारा यह जीवन 'क्षण-भंगुर' होते हुए भी, एक विराट् 'स्वप्न' होते हुए भी, अनत है, अमर है, शाश्वत है । जीवन एक है, जन्म कई बार होता है । जीवन की इस अमर धारा को मृत्यु और भी उद्वेलित-उल्लसित-पुलकित कर देती है । मृत्यु का द्वार लाँघ कर भी हमारे जीवन का स्रोत बंद नही होता । इसी अमर अनत जीवन का स्पर्श समस्त कलाओ में मिलता है । इस विविधता मे 'एकता' के अखण्ड सूत्र को निकाल लेना, इस विषमता मे 'सम' को ढूंढ लेना ही कला की आत्मा है, और, जो कलाविद् बनने-मिटनेवाली काया् के भीतर अखण्ड एक रस चिर-शाश्वत, चिर नवीन आत्मा की एकता पर अपनी कला का निर्माण करता है वही अमर है और उसी की कला 'कला' है । आत्मदर्शी कवि ब्राउनिंग ने कहा है—

Oh World as God has made it ! all is beauty,
And knowing this is love, and love is duty

यह समस्त सृष्टि प्रभु की रची हुई है इसलिये यहाँ सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है, सौन्दर्य ही सौन्दर्य है । यह आनन्द ही सचमुच प्रेम है और यह प्रेम ही मानव-जीवन का चरम कर्तव्य है । चाहे जिस रूप मे हो, अनादि काल से ही हमारे भीतर कला की उपासना चली आई है । जीवन का मूल रस सौन्दर्य है, और सौदर्य ही से कला की धारा बहती है, इसी हेतु जीवन और कला का अविभेद्य सबध है ।

भारतीय आदर्श मे सदा ही काव्य और चित्रादि कला जीवन को उन्नत एव प्रभुमय करने मे सार्थक समझी गयी ह और इसके द्वारा जीवन-प्रवाह असत् से सत् की ओर तमस् से ज्योति की ओर मृत्यु से अमृत की ओर मुड जाता है । राबर्ट ब्रीजेज ने भी कला के इस आदर्श को स्वीकार किया है—

Thy work with beauty crown, thy life with love.
Thy mind with truth uplift to God above

For whom all is, from whom all was begun
In whom all Beauty, Truth and Love are one.

कार्य मे सौदर्य भर दो, जीवन मे प्रेम। अन्तस्तल को सत्य के द्वारा प्रभु के समक्ष उद्घाटित करो, क्योकि उसी प्रभु से ही सब कुछ निकला है जिसमें ही सब कुछ लय होता जा रहा है और जिसमे समस्त सौदर्य, समस्त सत्य, समस्त प्रेम एकाकार हो रहे है।

कला की सृष्टि का भी बहुत सुन्दर इतिहास है। नाचना हमने मोरो से सीखा है और हँसना फूलो से। श्रृङ्गार करना उषा से सीखा है और चहकना चिडियो से। जीवन की सुन्दरता को हमने ओस की एक बूँद पर पड़ी हुई अरुणिमा की आभा से पाया है। चित्र बनाना हमने इन्द्रधनुष से सीखा, गुनगुनाना भौरो से, उछलना विक्षुब्ध समुद्र से और बरसना मेघो से। इस निखिल सृष्टि का अनत विलास तथा विकास एक अविच्छिन्न कविता मे हो रहा है, एक लय मे गूज रहा है, कला की कमनीय काति मे किलक रहा है। विश्व कलामय है, कवितामय है, सुन्दर है, मोहक है, बहुत ही मधुर है।

भारतवर्ष ने केवल वाह्य रूपको कभी स्वीकार नही किया है। उसने सतत आभ्यन्तरिक सौदर्य का मधुपान किया है, आत्मा के अमर सौदर्य म अपने को नहलाया है। यथार्थवाद (Realism) इसी कारण भारतीय कला का कभी प्रेरक नही हुआ। इन्द्रियता मे अतीन्द्रिय का दर्शन ही भारतीय कला की स्फूर्ति का कारण रहा है। भारतीय कला केवल प्रकृति को नही देखती, प्रकृति के भीतर के सजीव सकेत, अमर इशारे को देखती है। सृष्टि के प्राण-पिण्ड मे जो गति है और उस गति के कारण ही बाहर जो चहल-पहल है उसे ही भारतीय कला साक्षात्कार करना चाहती है - समस्त सौदर्य जिसकी अभिव्यक्ति मात्र है। परात्पर रूप जब अपने को व्यक्त करता है तो उसे हम 'सुन्दर' कह उठते है। भारतीय वैष्णव-साधना ने इस अमर सौंदर्य को ही सृष्टि का सनातन प्राण माना है। इसीलिये चिर सुन्दर के रूप मे ही प्राणधन का दर्शन किया है—

जनम अवधि हम रूप निहारिनु
नयन न तिरपित भेल
लाख लाख युग हिया माझ राखनु
तबु हिया जूड़ न गेल।

इसी से पूर्व और पश्चिम की कला की उपासना के सबध मे बहुत मत-भेद रहा है। कला सुन्दर की प्रतिमा है। जिसे भारतवर्ष सुन्दर कहता है, उसे योरोप नही कह सकता। इसका मुख्य कारण यही है, कि दोनो देशो के मानव-जीवन की मूल अनुभूति एव सस्कृति मे बडी विभिन्नता है। प्राच्य साधना आत्मा की आभ्यान्तरिक लालसाओ और सौंदर्य को लेकर चलती है, इसीलिये हमारी कला में भी उसी का विन्यास हुआ है। इस नश्वर काया के भीतर जो अखण्ड आत्म-सत्ता है, उसका जो अमिट सौदर्य है; इस क्षण-क्षण मे नाश की ओर जाते हुए ससार के अनल-गर्भ में अविनाशी की जो चिर ललित लीला हो रही है प्राच्य कला, प्राच्य साधना उसी का आधार और आश्रय लेकर चली है। जहाँ पाश्चात्य साधना और सस्कृति मानव और प्रकृति की वाह्य अभिव्यक्ति मे ही अपने को सीमित कर लेती है, जहाँ उसे इसके भीतर डूबने अथवा इससे ऊपर उठने के लिये न अवकाश है न प्रेरणा ही, वहाँ भारतवर्ष आत्मा की अमर ज्योति को जगा कर उसी के दिव्य प्रकाश मे जगत् को देखने का, अनेक को एक मे डुबाकर देखने का, सम मे विषम को मिटा कर देखने का अभ्यासी है। इसी कारण भारतीय और पाश्चात्य कला-दर्शन मे एक महान अन्तर है जिसे सक्षेप मे ऐन्द्रिय और इन्द्रियातीत का अन्तर समझा जाना चाहिये। राधा और हेलेन तथा सीता और डायना के चित्र आज भी हमे आकर्षित करते है, परतु राधा और सीता की जिस शोभा का वर्णन कवि ने किया है, उसकी छाया को भी हेलन और डायना छू नही सकती। नटनागर राधा को छोड कर चले गए और राधा आजीवन तडपती रही। उस तडपती हुई चिर विरहिणी राधा के मनोभावो का चित्रण ही प्राच्य कला का मूर्त्त आधार है। राधा की इस अमर वेदना मे विश्वात्मा की अमर वेदना व्यजित है जो उस 'न मिलने वाले देवता' के लिये हमारे हृदय मे सदा जागती रहती है। रास और चीर-हरण की मधुर लीलाएँ हमारे हृदय को सयोग शृङ्गार की पराकाष्ठा के कारण ही नही खीचती। इनमे तो हिन्दू हृदय का, आर्यो की रहस्यमयी मधुर साधना का चित्र अकित है। राधा सभी गोपियो के साथ माधव से मिलती है, और उनके साथ हमारा हृदय भी देवता को अनत विराट सत्ता में अपना तुच्छ व्यक्तित्व गँवा देता है! उसमे हमारे हृदय की अन्तर्ज्वाला का चित्र है। चीरहरण-लीला हमे क्यो मोहे हुई है? उस मे तो हमारे और हमारे आराध्य के बीच का परदा हटा कर, 'दुई' का भेदभाव हटा कर 'एकता', कभी न बिछुडने वाली एकता की ओर सकेत है।

कला की सृष्टि कवल आनन्द के लिये होती है, वह मानव-हृदय की उत्कठाओ को तीव्र कर परम आनद में डबो देती है, विलीन कर देती है। चारो वेदो में साम वेद को इसी हेतु सब से सु दर माना जाता है कि उसमें मानव हृदय की आभ्यतर लालसाओ का सुन्दर सगीत है। इसी से भगवान श्री कृष्ण ने भी गीता मे कहा है 'वेदाना सामवेदोस्मि'। इसलिये सबसे महान् कला तो वह है जिसमें कलाकार कला की उपासना मे 'पूर्णमदः पूर्णमिद' का साक्षात्कार करके उसी मे 'सत्य शिव सुन्दरम्' का दर्शन करता है, 'रसो वै स' का रसास्वादन करता है और उसका आस्वादन कर 'समोदते मोदनीय हि लब्ध्वा' उस आनन्दमय को पाकर स्वय आनन्दमय हो जाता है।

यह ससार माया है, मिथ्या है, स्वप्न है, इसका अर्थ इतना ही है कि यह उस अव्यक्त को पूर्णत व्यक्त नही कर पा रहा है। जिस प्रकार अभिनय मे अभिनेता, गीत में गायक, काव्य मे कवि और क्रीडा मे बालक आनन्द लेता है उसी प्रकार इस व्यक्त सत्ता मे अव्यक्त ब्रह्म की अविराम लीला चल रही है। यह लीला चिरन्तन है, इस लिये चिरनवीन है। 'वह' स्वय लीला करनेवाला और स्वय लीला और स्वय लीला-भूमि है। इस लीला में एक ताल है, गति है, स्वर है, आलाप है, आरोह और अवरोह है; परतु है यह चिरतन और चिर नवीन, चिर सुन्दर, चिर मधुर। 'हमारा अह, समस्त समष्टि के पृथक्-पृथक् अह उस लीलामय के अपार लीलासिंधु मे लघुकण है, बुद-बुद है—उसी मे से निकल कर उसी मे लय हो जानेवाले स्फुलिंग है। इसी लिये यदि हम अपनी गहराई में डूब सके तो हम उस सत, चित्, आनन्द की राशि में अपने को एक कर उस अखण्ड प्रकाश-पुञ्ज मे अपने नन्हे से स्फुलिग को खोकर अपने वास्तविक विराट् रूप का दर्शन कर सकेगे। सतह पर सत्य का साक्षात्कार नही हो सकता, उसका दर्शन तो अपने आप में डूबने पर ही होता है और कला की उपासना इसी मे हमे प्रेरणा भरती है, हमारे अन्तस्तल को उल्लसित एव आनन्दित कर अपने-आपमे, अपने अन्त के अथाह सागर में डूबना सिखलाती है। ऐन्द्रियता से ऊपर उठा कर आत्मतत्त्व मे एकाकार करने में कला सर्वसुन्दर साधना है। सुख-दु ख, हर्ष-विषाद तो सतह की लहरें है। इनके प्रहार को चीर कर हमें इनके अदर डूबना है और यह अनुभव करना है कि जो कुछ है, सत चित्त आनन्द की लीला है—ईशावास्यमिद सर्वं—सब कुछ ईश्वरमय है, परमात्मा से ओतप्रोत है। 'नेह नानास्ति किचन' यहाँ 'नानात्व' है ही

नहीं, एक ही एक है। अनेकता के पर्दे मे वही 'एक' अपनी लीला से चर-अचर सब को मुग्ध किये हुए है।

इस 'विश्व रूप दर्शन' के साथ ही हमारी सीमा जो हमे चारो ओर से जकड़े हुए है, छिन्न-भिन्न हो जाती है, हम उसी विराट् पुरुष के एक अवि-भेद्य अग बन जाते है, हमारे मनोराज्य मे समस्त ब्रह्माण्ड आसानी से समा जाता है, एक अनेक का भेद मिट जाता है, तभी जाकर हम वस्तुत. सत्य, शिवं, सुंदर का दर्शन कर पाते है और हमारी इस काया को भीतर और बाहर वही सत्य, शिव और सुंदर अपने अखण्ड लीलाअ-भिनय मे डुबा लेता है। कला की चरम साधना यही है।

मानव-जीवन अपूर्ण है और वह 'पूर्णता' की ओर बडे वेग से दौडता है, जिस प्रकार नदियाँ समुद्र की ओर दौड़ती हैं। वह अपने नन्हे बिंदु मे निखिल सृष्टि को छिपा लेना चाहता है, सब कुछ अपनाना चाहता है। इसी उत्सुकता में, इसी अतर्जलन मे कला का बीज उगता और पनपता है। हम विशाल समुद्र, अनत आकाश मण्डल, सुन्दर छविशाली चन्द्र, सूर्य तथा असख्य तारे, निर्झर, सर, सरिता, उषा, और सध्या को देखते और विस्मय से अभिभूत हो जाते है। ये क्या है ? किस की ज्योति है—किसकी लीला है—इस विशाल सुन्दरता की तह मे कौन मुसकिरा रहा है ? कौन सकेत दे रहा है ? यह सारा किस का मौन 'निशा-निमत्रण' है ? हमारे हृदय में उसी छिपे हुए प्रेमी मे लय होने की लालसा जगती है और हम उसे भर आँख देखने, अपनी भुजाओ मे बाँधने और अपनाने के लिये व्याकुल हो जाते है। सजल श्यामल मेघमाला देख कर मोर नाच उठता है। मलया-निल के तनिक से झोके से कोकिला का कठ खुल जाता है—आम की बौरो के भीतर छिपकर वह गा उठती है। दिनकर की किरणे कमल का हृदय गुदगुदा देती है—चद्रमा के स्निग्ध अमृत चुम्बन का रसास्वादन करने के लिये समुद्र अपना विशाल वक्षस्थल खोल देता है। वीणा की मधुर लय पर कुरङ्ग मचल पडता है, मृत्यु की गोद में सहर्ष छलाग मारता है। शलभ दीपक को अपनी करुण कहानी न सुना सकने के कारण स्वय उसकी लौ मे लीन हो जाता है। सारा ससार प्रेम के सूत्र में बँधा हुआ है। सभी किसी न-किसी के चरणो मे अपने आपको निछावर कर देना चाहते है, किसी 'एक' का हो कर अपने प्राणो की अमर ज्वाला शान्त करना चाहते है। यह ज्वाला ही मनुष्य के हृदय को बेचैन किये हुई है जिसके कारण न वह कहीं

रुक सकता है, न कही विरम सकता है । चलता ही चला जा रहा है—किसी 'अनदेखे' की खोज मे, किसी 'अपने' को पाने की चाह में । इसी 'चाह' में, इसी आजीवन जलन में आनंद है । इसी आनद की व्याख्या और अभिव्यक्ति कला मे होती है । इसी कारण सभी को अपने हृदय की प्यास बुझाने का उपकरण किसी न किसी प्रकार की कला में मिलता है । कोई कविता लिख कर, कोई चित्र द्वारा, कोई सगीत, नृत्य-वाद्य द्वारा अपनी ज्वाला को बुझाना चाहता है; उस अनत मे अपने सात को मिला देना चाहता है । अपने भीतर एक शीतल स्पर्श का अनुभव करता और किसी अदृश्य सत्ता को विद्यमान देखता है परतु समझ नही पाता कि यह क्या है । इसी स्पर्श की अभिव्यक्ति वर्डस्वर्थ ने यो की है—"I have felt a presence that disturbs me with the joy of elevated thoughts".

बस, इसी चिरतन शीतल स्पर्श की मधुर अनुभूति के लिए कला की सृष्टि तथा उपासना होती है, और इस उपासना मे साधक की आभ्यन्तरिक अथ च अन्तरतम लालसाओ को एक सहारा और आधार मिलता है जहाँ साधना की सुदर निधियाँ सजा कर मीरा 'मिलन-मदिर' मे प्रवेश करती है और अपने हृदय के हृदय मे अपने प्राणाराम सखा और जन्म मरण के साथी 'गिरिधर-गोपाल' को पा कर उसमे सदा के लिए अपने को खो देती है, जैसे कभी 'हुई' थी ही नही । समस्त कला-कृतियाँ सान्त को अनन्त मे डुबा कर अनन्त बना देती है—आत्मा परमात्मा का अथवा यो कहिये 'प्रिया-प्रीतम' का 'अन्तर्मिलन' करा कर स्वय तदाकार हो जाती है ।

परम भाव का स्वरूप

देवर्षि नारद ने अपने 'भक्ति-सूत्र' मे भगवदासक्ति के ग्यारह भेद किये है। उन ग्यारह के नाम है :—

गुण महात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति और परम विरहासक्ति। प्रेमरूपा भक्ति की पूर्णता मे ये सभी आसक्तियाँ रहती ही है—जैसे श्री व्रजगोपियो मे थी। इन आसक्तियो के द्वारा भगवान प्रेमरशना मे बँध जाते है। इनमे उत्तरोत्तर सबध की ज्यो-ज्यो प्रगाढता बढती जाती है त्यो-त्यो भक्त और भगवान् का सबध भी प्रगाढ होता जाता है। यहाँ तक कि यह आसक्ति 'तन्मयता' का रूप धारण कर लेती है—भगवान् और भक्त 'एक' हो जाते है। इसके बाद 'परम विरह' की अवस्था प्राप्त होती है। इस परम विरह में चिर मिलन और चिर विरह का अपूर्व रसायन तैयार होता है—नित्य मिलन होते हुए भी चिरन्तन विरह का रसास्वादन होता रहता है। राधा रानी श्रीकृष्ण की गोद मे सिर रखे लेटी है फिर भी उन्हे भान हो रहा है कि कृष्ण नही मिले। यह परम मधुर स्थिति है—इसका शब्दो मे आकलन किया नही जा सकता। अस्तु

ऋग्वेद की एक ऋचा का अश है—'योषा जारमिव प्रियम्' जिसका भावार्थ यह है कि ईश्वर के प्रति मनुष्य के प्रेम का आवेग परकीया नारी के उपपति के प्रति आवेग के समान होना चाहिये। परम भाव की तात्त्विक सूक्ष्म मीमासा पूर्णत उपर्युक्त पद मे की गई है। प्रेम का परित परिपाक परकीया मे ही होता है। स्वकीया मे तो वह नियन्त्रित होकर आत्म-बोध का सहायक बन जाता है। सहजिया सप्रदाय के विचार मे राधा (ऊढा) का प्रेम ही आदर्श प्रेम है। प्रकृति में जो मिथुन-भाव चल रहा है, स्त्री-पुरुष में

आकर्षण है उसे ही साहित्य मे 'रति भाव' और साहित्य के अनन्तर साधना-क्षेत्र में 'मधुर भाव' कहते हैं। ईसाई ईसा-मरियम, सूफी लैला-मजनूँ अथवा शीरी-फरहाद तथा हिन्दू राधा-कृष्ण के द्वारा अपनी इस परम भावना को व्यक्त करते हैं। परकीया अपने सारे गृह-कार्यों मे फँसी रहने पर भी अपने प्राणवल्लभ प्रेमी का स्मरण किया करती है और मिलन की प्रतीक्षा में व्याकुल हो तडपती रहती है—

'परव्यसनिनि नारी व्यग्रापि गृहकर्मसु ।
तमेव स्वादयत्यन्तर्नव सङ्ग-रसायनम् ॥'

हम जिन-जिन बातों से इस संसार मे बँधे हुए हैं ठीक उन्ही नातो से भगवान् में भी जुड सकते हैं। सच तो यह है कि इन सम्बन्धो के अतिरिक्त भी कोई सम्बन्ध है इसकी कल्पना भी हम नही कर सकते, इसीलिये इन्ही सब सम्बन्धो को लेकर भगवान से भी मिलना है। हम किसी के पुत्र हैं, किसी के पिता, किसी के मित्र, किसी के प्रेमी, किसी के प्रेमास्पद। परमार्थ के पथ मे ये सभी नाते वस्तुत अपना आस्पद पाकर दिव्य हो जाते है क्योकि हम अपने सभी नाते भगवान् में स्थापित करना चाहते है। हमारे भीतर जो अपूर्णता है, रिक्तता है वह हमे चैन नही लेने देती। 'शात भाव' मे हमारी रति-भावना का प्रस्फुरण नही होता। स्वान्तस्थ ईश्वर में लय होनेवाले आत्मदर्शी सिद्ध सन्तो ने प्रभु की जो झाँकी पाई उसे कभी-कभी अपने प्रेम-विह्वल गीले शब्दो मे व्यक्त करने का प्रयास किया है। कबीर ने 'धुनि लागी नगरिया गगन घहराय' द्वारा उसी अव्यक्त आनन्द को व्यक्त करने की चेष्टा की है। सुन्दरदास ने भी इस 'मधुर मिलन' का उल्लेख किया है—

है दिल में दिलदार सही अँखिया उलटी करि ताहि चितैये ।
आब में, खाक में, बाद में आतस, जान में सुन्दर जान जनैये ॥
नूर में नूर है, तेज में तेज ही, ज्योति मे ज्योति मिलै मिल जैये ।
क्या कहिये कहते न बने, कुछ जो कहिए कहते ही लजैये ॥

यह आनन्द योगियो के 'अनहद' से भी कुछ बढकर है। इस 'शान्तभाव' मे जो आनन्दानुभूति है वह भी द्वैतमूलक है। दो का एक मे लय होने की क्रम-व्यवस्था ही प्रेम एव आनद की मूल-प्रेरणा है।

हाँ, तो हमारे इन्ही सबधो को, जिन्हे हम भगवान मे स्थापित कर पूर्णत. उस संबध-विशेष में लय होना चाहते हैं, पाँच मुख्य भावो मे विभक्त किया गया है—

१	शान्त या प्रशान्त भाव	४	वात्सल्य भाव
२	दास्य भाव	५	रति या मधुर भाव
३	सख्य भाव		

इनमे शान्त और दास्य तो 'भाव' तक ही रह जाते है परतु सख्य, वात्सल्य और मधुर 'रति' कहे जाते है। यह प्रकट करने की अब आवश्यकता न रही कि इन भावो में हमारी रति-भावना क्रमश तीव्र होती चलती है। समाधि की निर्विकल्प स्थिति मे योगी लोग अपनी हृदय-गुफा में सहस्र सहस्र सूर्यो का तेज तथा सहस्र-सहस्र चन्द्रमा की शीतलता का एक साथ ही अनुभव किया करते है। इस दिव्य प्रकाश एव सुस्निग्ध शीतलता की प्रशान्त स्थिति में स्थित हो जाना ही प्रशान्त भाव है। दूसरे शब्दो मे कहना चाहे तो यो कह सकते कि जब ससार की ओर बढनेवाले समस्त भाव-प्रवाह भगवान की ओर मुड जाते है और अतस्तल मे निर्वात दीपक की लौ जगमगाने लगती है तब इस प्रेमपथ मे साधक पैर रखने का अधिकारी होता है। और-और भावो मे साधक ज्यो-ज्यो आगे बढता हुआ रसास्वादन करता जाता है त्यो त्यो परमात्मा उसके निकट आते जाते है और वह परमात्मा को प्रत्यक्षत खुली आँखो देखता है, स्पर्श करता है, उनसे सँलाप करता है, उनका मधुर आलिगन करता है और फिर क्या-क्या नही करता ?

यहाँ यह भूल न जाना चाहिए कि शान्त भाव या उसके पूर्व की स्थिति अर्थात् परमात्मा के प्रति हृदय की साधारण रुझान को भी हमारे ऋपियो ने प्रभु की प्रेरणा ही का फल माना है* जिसे गोसाई जी ने 'सो जानत जेहि देहु जनाई' द्वारा प्रकट किया है। हमारे हृदय मे भक्ति का जो पौधा उगता है उसका बीज परमात्मा की प्रेरणा मे ही सन्निहित है। भक्ति में प्रेम का पुट प्रारभ से ही रहता है। बिना प्रेम के भक्ति हो नही सकती। 'प्रेमाभक्ति' तो पचम पुरुषार्थ मानी गई है जिसे भगवत्कृपा के बिना प्राप्त करना कठिन है। इसी अहैतुकी परम प्रेमाभक्ति द्वारा हमारा चिरन्तन सबध भगवान् से

---

* नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनु स्वाम् ॥

"Let no one suppose "says the Theologic Germasice, that we may attain to this true light and perfect knowledge......by hear-say, or by reading or study, nor yet by high skill and great learning"—'Inner Lights'

स्थापित होता है। विश्व-मनमोहन ब्रज-बल्लभ ही जो पहले हमारा स्वामी है, धीरे-धीरे हमारा सखा हो जाता है। परंतु इस समानता से हमारा जी नही भरता। जो हमारा सखा है वह दूसरे का भी सखा हो सकता है; उसके प्रेम का भागी दूसरा हो सकता है। हम तो अपने प्रेम-पात्र के ऊपर अपना पूर्ण एकाधिकार या इजारा चाहते है। हमारी कामना तो यही होती है कि हम सर्वथा उसीके हो जायं और वह सर्वथा हमारा ही, केवल हमारा ही, बस एकमात्र हमारा ही हो जाय।

सख्य-भाव में प्रेम की अद्वैतता नही मिलती। हम अपने प्यारे सखा को सर्वथा एकान्तत. 'अपना' नही बना सकते। इसमे 'ना मै देखौ और को, ना तोहि देखन देऊँ' की अभिलाषा पूरी नही हो पाती। प्रेम तो एकाधिपत्य ही चाहता है, इसमे तीसरे की गुंजाइश ही नही है। वात्सल्य-भाव मे यह एकाधिपत्यता प्राप्त हो जाती है। वात्सल्य रति में भगवान् को अपना प्रिय वत्स बना लिया जाय अथवा उस जगज्जननी का अबोध शिशु बन जाया जाय—दोनों ही तरह से इस रस का आस्वादन होता है। किसी भी सम्बन्ध से अपनाना चाहिये—भगवान् बाहे फैलाये तैयार है। जो हमारा पुत्र है वह किसी और का नही हो सकता। उसे प्यार चाहे जितने करे परन्तु हमारा उसका सम्बन्ध तो अविच्छिन्न बना रहेगा। उसके भी मित्र, सखा कितने ही हो परन्तु माता तो एक ही होगी, जिसके प्रेम-पूर्ण अधिकार में कोई भी अन्य सम्बन्ध बाधा नही डाल सकता। पुत्र पर माता की एकमात्र अनन्यता होती है। कहावत है, 'डायन को भी अपना बेटा प्यारा होता है।' भगवान् कृष्ण के विराट् रूप को देख, अर्जुन, जिनकी उपासना सखा-भाव की थी, भय से कॉपने लगे, परन्तु वही रूप यशोदा के हृदय में भय का सञ्चार न कर सका। अर्जुन अपनी भूलो, त्रुटियो एवं अपराधो के लिए भगवान से क्षमा माँगने लगे परन्तु यशोदा अपनी प्यार-जन्य प्रताड़ना के लिए क्षमा माँगने न गई।

प्रेम की पराकाष्ठा कान्ता-भाव में ही प्राप्त होती है। सर्वात्म समर्पण की पूर्ण अभिव्यक्ति यही होती है। पत्नी पति के संपूर्ण प्रेम की अधिकारिणी है; उससे उसकी कोई लाज नही, कोई दुराव-छिपाव नही। पत्नी पति के प्यार स्नेहादि की भी अधिकारिणी है, सेवा की भी। पति पत्नी का सखा भी है, स्वामी भी, प्रेमी भी है, प्राणनाथ भी। अवसर पर पत्नी माता के अभाव को भी पूरा करती है। इसी हेतु इस 'परम भाव' में सभी भावो का रसायन तैयार हुआ है।

प्रभु के साथ दास, वत्स, सखा अथवा उसकी परम प्रणयिनी का संबंध स्थापित हो जाने के बाद हमारे जीवन मे एक विचित्र आनन्द का उन्मेष हो उठता है और अपने स्वजन, परिजन, वर्ग, समाज, आदि मे हम उसी दिव्य सबध का दर्शन करते हुए सदा आनन्द-मुग्ध रहते हैं—जगत के साथ हमारे सभी सबधो मे एक प्रकार का दिव्य रोमान्स (romance) आ जाता है और हमारे माता-पिता, भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र—यहाँ तक कि सेक्स-सबधो में भी एक अकथनीय आनन्द का सचार हो जाता है। सब सबध धर्ममूलक हो जाते हैं।

परमभाव की साकार प्रतिमा राधा है। महाभाव में राधा और कृष्ण का चिरन्तन विहार होता रहता है। कभी-कभी राधा ही कृष्ण तथा कृष्ण ही राधा रूप में आकर केलि क्रीडा करते हैं। कृष्ण कभी-कभी कालिन्दी-कूल के करील-कुंजो की सघन छाया में राधा के पाँव पलोटते हुए तथा रूठी हुई प्रियाजू से 'देहि मे पदपल्लवमुदारम्' की याचना करते हैं। राधा की भाँति मीरा की उपासना भी परम भाव की थी। स्वप्न मे मीरा ने अपने अधरों पर कृष्ण के चुम्बन का शीतल-मधुर, विद्युत-स्पर्श का अनुभव किया, आलिंगन का अमृत पान किया—(like the passionate lover's resting on the heaving bosom of his beloved) और यह स्वप्न ही उसके लिए महान जागरण, चिर जागरण का कारण बन गया। फिर क्या था, गिरिधारीलाल को ही मीरा ने अपना प्राणवल्ललभ पति मानकर सर्व्वात्म-समर्पण कर दिया।

सतो ने भी इसी परम-भाव मे अपनी अनुभूति की उपलब्धि की है। कबीरदास ने भी अपने को 'हरि की बहुरिया' कह कर परिचय दिया है। सूफी फकीरो मे तो यही भाव ओतप्रोत है। 'साजन के घर' का आह्वान सुनने वाले 'सून्न महल' में सेज बिछाने वाले भावुक भक्तो ने 'प्रीतम' को ही सम्बोधित कर अपनी अनुभूति-मूलक प्रेमोपासना की दिव्य सगीत-धारा में हृदय की लालसा और आत्मा की भूख-प्यास को बुझाया है। दास्य-भाव के उपासक गोस्वामी जी तक ने भी 'कामिहि नारि पियारि जिमि' की भावना में ही हृदय को तृप्त होने का आदर्श स्वीकार किया है। यहाँ 'नारि' में परकीया का ही बोध होता है जिसमे 'रति' की चरम अभिव्यक्ति होती है। तात्पर्य यह कि निर्गुण सतो तथा मर्य्यादावादी लोक-सग्रही भक्तों ने भी जीवन की पूर्णावस्था में पति-पत्नी भाव के गहरे प्रेम के रूप मे भगवत्प्रेम को ग्रहण किया है।

महाप्रभु श्री चैतन्य देव जब दक्षिण भारत मे तीर्थाटन कर रहे थे, वहाँ उन्हें राय रामानन्द के दर्शन हुए थे और दोनो मे साध्य तत्व के सबध में बहुत विस्तार के साथ बाते हुई थी। श्री राय रामानन्द ने बहुत ही विस्तार के साथ साध्य साधन के क्रम-विकास पर प्रकाश डाला है।

प्रभु ने पूछा—मनुष्य का जो कर्त्तव्य है उसका कथन कीजिये।

राय महाशय ने कहा—प्रभो! मै समझता हूँ, अपने-अपने वर्णाश्रम धर्म के अनुकूल कार्य करते रहने से मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त हो सकता है।

प्रभु ने कहा—हाँ, यह तो ठीक ही है। कोई और उपाय बताइये।

'अपने सब कर्मो को भगवान के चरणो मे अर्पित कर दिया जाय। सब कुछ भगवत्प्रीत्यर्थ किया जाय।'

'बात तो बडी सुन्दर है परन्तु इससे भी आगे कोई बात हो तो कहिये।'

'सत्-असत् का विचार करते हुए भगवान् की निरन्तर भक्ति करते रहना ही मनुष्य का मुख्य कर्तव्य है।'

'कोई सरस-सा उपाय बताइये।'

'भगवान् की विशुद्ध भक्ति ही मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्य है।'

'यह तो मै स्वीकार करता हूँ, किन्तु भक्ति किस प्रकार की जाय, यह और बताइये।'

'प्रेमपूर्वक भक्ति करने से ही प्रेममय प्रभु का प्रेम प्राप्त होता है। प्रेम ही उनका स्वरूप है, वे रसराज रसिकशेखर है, इसलिये जैसे भी हो उस रससिंधु में घुस कर खूब गोते लगाना चाहिये।'

'परन्तु उस रस का आस्वादन कैसे हो?'

'भगवान् के प्रति दास्य भाव रखना ही सर्व-श्रेष्ठ है।'

'परन्तु इससे भी बढकर तो कोई सम्बन्ध होगा न?'

'हाँ, सख्य-सम्बन्ध इससे भी बढकर है। यथार्थ रसास्वादन तो सख्य-प्रेम में ही होता है।'

'परन्तु प्रेम का कोई ऐसा रस बतलाइये जो हर हालत में एकरस बना रहे।'

'वह है वात्सल्य-भाव।'

'इससे आगे भी कोई भाव हो तो उसे मुझसे कहिए।'

'वह है कान्ता-भाव। बस, इसी मे जा कर सभी रसो और सभी भावो की परिसमाप्ति हो जाती है।'

'परन्तु कान्ता-स्नेह से भी बढकर जो कुछ हो, उसे कृपया बता दीजिये ।'

'बस बस प्रभो ! इससे आगे अब कह नही सकता, वह अत्यन्त गोपनीय है । भला श्री राधारानी के प्रेम की प्रशसा कौन कर सकता है ? उनका ही प्रेम तो सर्वश्रेष्ठ है ।'

भगवत्प्रेम की इस दिव्य मधुर साधना मे शरीर को कसना नही पडता; यम नियमादि के चक्कर में नही पड़ना पडता । साधारणत: देखा जाता है कि लोग सयम के पीछे ही परीशान रहते है, विषयो से मन को मोडने मे ही जीवन को खो देते है और इस सघर्ष मे ही उनकी सारी शक्ति लग जाती है, फिर भी वे मन को जीत नही पाते । परतु भगवान् के प्रेम का एक कण भी जिसे मिल गया उसकी सारी इच्छाएँ, सारी वासनाएँ नष्ट हो कर निर्मूल हो जाती है । जिन इन्द्रियो पर यती और तपस्वी लोग सयम करते है फिर भी नही कर पाते, उन इन्द्रियो को भक्त भगवान के चरणो मे निवेदित कर देता है । स्त्री, पुत्र, घर, शरीर, सब-का सब कृष्णार्पण कर देता है और सच पूछा जाय तो वास्तविक पूजा है भी यही ।

प्रेम तो परस्पर हृदय का आदान-प्रदान है—भगवान् को अपना हृदय देकर हमने भगवान् का हृदय पाया क्योकि इस प्रेम पथ मे तो भगवान भी मनुष्य का प्रेम पाने के लिए उतना ही पागल है जितना मनुष्य भगवान का प्रेम पाने के लिए । भगवान को भी हमारी उतनी ही आवश्यकता है जितनी हमे उनकी है । इस प्रेम में दोनो ही एक दूसरे के पीछे दीवाने है । भगवान अपनी सारी भगवत्ता भुलाकर भक्त के पीछे-पीछे प्रेम की भीख माँगते फिरते है ।

रवि बाबू का इस विषय पर एक बहुत ही सुन्दर गीत है जिसका सक्षेप भावार्थ यो है—

युग-युग से मेरा हृदय-कमल खिलता चला आ रहा है जिसमे हम तुम बँधे हुए है । इस कमल के दल एक-पर-एक खुलते जा रहे है—मानो कही इस का अत ही नहीं है और इस कमल-कोष का मधु इतना मीठा है कि तुम एक मुग्ध भ्रमर की तरह इसे एक क्षण के लिए भी छोड नही पाते—इसी लिए तो तुम बँधे हुए हो, और मै भी बँधा हुआ हूँ । इससे मुक्ति कहाँ ?

यह स्थूल जगत् जिसमे विषमता तथा विरोध के प्रवाह चल रहे है, वस्तुत. भगवान की लीलाओ का विलास मात्र है । तह मे प्रवेश करनेवाले भावुक भक्तो ने अणु-अणु मे उसी 'एक' परम रूप की मोहक छवि को ही

देखा है । इस विभिन्नता के भीतर से एकता को निकालना यथार्थ ज्ञान है । बर्फ की इस विशाल चादर के नीचे मधुर प्रेम का अविच्छिन्न सोता बह रहा है । चराचर के यावत् पदार्थों मे एक शृखला है, एक सिद्धात है, एक नियम है, एक व्यवस्था है । इसी विराट् विश्व-प्रवाह मे, इस अविच्छिन्न रस-स्रोत मे आ मिलना ही सच्ची साधना है, अणु-अणु मे विकीर्ण उस परम रूप की परिछाही के स्पर्श मे आ जाना ही सच्चा पुरुषार्थ है । यह तभी सभव है जब 'बुतो के परदे मे छिपे हुए खुदा' को देखते हुए सब भूतो तक, विश्व के यावत् चराचर तक हृदय को फैलाकर जगत मे भाव-रूप मे हम रम जायँ । यही परम भाव का उत्कृष्ट स्वरूप है ।

अध्यात्म और शृंगार

All music is only the sound of His laughter,
All beauty the smile of His passionate bliss;
Our lives are His heart beats, our rapture the bridal
Of Radha and Krishna, our love is their kiss
—Sri Aurobindo

अध्यात्मने शृगार को अस्वीकार नही किया है, प्रत्युत् उसे पूर्णतः स्वीकार कर उसे पार्थिव स्तर से ऊँचा उठाया है, दिव्य बनाया है, सब्लिमेट (Sublimate) किया है। 'रति' शब्द जिसका व्यवहार साधारणत: हल्के अर्थ मे होने लगा है अध्यात्म के क्षेत्र में बहुत गम्भीर एवं रहस्यमय भाव का द्योतक है। 'आत्मरति' अध्यात्म की एक परम दिव्य स्थिति है। जिसमें आत्मा स्वय आत्मा में ही 'रति' करता है।

आधुनिक मनोविज्ञान ने शृगार को ही आध्यात्मिक साधना का प्रमुख हेतु माना है। स्टॅनली हाल ने तो यहाँ तक कहा है कि भगवत्प्रेम मानव हृदय की शृगार वासना का ही दूसरा रूप है।* इसे अस्वीकार नही किया जा सकता कि शृगार का कला और अध्यात्म के साथ गहरा सम्बन्ध है। शृगार के आकर्षण से मनुष्य के हृदय मे एक भाव विशेष की सृष्टि होती है सौदर्योपासना की वृत्ति जागृत होती है और यही है धर्म की मधुर अनुभूति का श्रीगणेश। सन्त ज्ञानदास ने गाया है—

रूप लागि आँखि झूरे गने मन मोर
प्रति अग लागि कांदे प्रति अंग मोर।
हियार परश लगि हिया मोर कांदे,
परान पीरिति लागि स्थिर नाहि रांधे॥

---

*Love of God and the LIBIDO have the same mechanisms and religious and sex normality and abnormality are very closely connected. Love rules the camp, the court, the grove for, Love is God and God is love'

रूप-रस के लिये आँखे झुरा रही है; गुण श्रवण कर मन विभोर हुआ जा रहा है। मेरा प्रत्येक अग तुम्हारे प्रत्येक अग का सग प्राप्त करने के लिये व्याकुल है। तुम्हारे हृदय का स्पर्श पाने के लिये मेरा हृदय तडप रहा है और तुम्हारी प्रीति के लिये प्राणो को एक क्षण भी शान्ति नही, चैन नही।

ससार के प्राय सभी धर्मो ने मनुष्य की कोमल स्नेह-वृत्तियो को भगवान् के पथ में मोडकर भगवत्प्राप्ति के एक अचूक साधन रूप में स्वीकार किया है। शृगार वृत्ति मे सभी वृत्तियो का समाहार होता है और जब यह वृत्ति अध्यात्म-पथ म मुडती है तो मनुष्य आध्यात्मिक प्रणय एवं तज्जन्य आनन्द की दिव्य मगलमयी, मोदमयी रसानुभूति मे अपनी समस्त चेतना को खो बैठता है। भगवान् के साथ उसका एक निराला सम्बन्ध हो जाता है—वह सर्वथा भगवान् का और भगवान् सर्वथा उसके हो जाते है। और इसी आनन्दातिरेक की अवस्था मे वह गाता है—

लाख लाख युग हिय बिच राखल,
तबु हिया जूड़ न भेल।

लाख-लाख युगो से मैंने उसे अपने हृदय मे छिपाया है फिर भी हृदय जुडाया नही।

कितनी विचित्र-सी बात है कि जो शृगार-वृत्ति उच्छृङ्खल दशा मे हमारे लिये घोर पतन एव पापाचार का कारण थी वही जब सयत होकर पति-पत्नी के सम्बन्ध मे मर्यादित हो जाती है तो समाज के महान कल्याण का कारण बन जाती है और फिर वही जब अध्यात्म के पथ में प्रवाहित होती है तो भगवत्साक्षात्कार का सुदृढ सेतु बन जाती है क्योकि उस समय हमारी सारी इन्द्रियाँ प्रेमस्वरूप प्रभु के प्रेमास्वादन मे छकी रहती है, उसके रूप-रस का पान करती रहती है। अध्यात्म का पथ हमारे लिये अत्यन्त सरल एवं सरस हो जाता है, परम स्वाभाविक, परम मनोहर।

'इन नैनन मेरा साजन बसता
डरती पलक न लाऊँ री।'

सूफियो ने तो इश्क मजाजी को इश्क हकीकी का एक प्रबल कारण माना है। जब हमारी सभी इन्द्रियाँ भगवान् के रूप-रस का पान करने लग जायँ, भगवान् का आस्वादन करने लगे तब समझना चाहिये कि हमारा प्रेम मजाजी से हकीकी की ओर मुड़ गया है। इस ससार में जो कुछ भी 'सुन्दर' है वह भगवान की सुन्दरता की ही झलक है और इस सुन्दरता का आस्वादन करने

के लिये मनुष्य युग-युग से नाना नाम और नाना रूपो की चादर ओढ़े, नाना जन्मो के द्वार को लाँघता चला आया है।

पृथ्वी के एक-एक कण मे, जर्रे-जर्रे मे भगवान् की दिव्य रूप-सुधा छलक रही है। गुलाब मे, शमा मे, सूर्य मे, लैला के जुल्फो में, सुरा मे, साकी में, सुराही मे—बस उसी प्यारे का सौन्दर्य-मधु छलक रहा है। सर्वत्र रूप का हाट लगा हुआ है, सौन्दर्य का सागर उमडा आ रहा है। उसी का आकर्षण पाकर शलभ दीपक की लौ मे अपने आपको दे डालता है। उसी का इशारा पाकर बालारुण की कोमल किरणो के शीतल मधुर स्निग्ध स्पर्श में कमल अपना हृदय-कोष खोल देता है। आम की रसभरी मजरी की मदमाती बयार कोयल के हृदय में एक दर्द, एक मीठी व्यथा जगा देती है। लैला के अलको मे मजनू का हृदय बँधा हुआ बल खा रहा है। शीरी के अधरो पर फरहाद ने अपना जीवन-मधु उँड़ेल दिया। अरे, जहाँ भी 'पर्दा' है, उस पर्दे के भीतर वह 'पर्दानशी' है ही। हृदय जहाँ भी, जिस कारण भी प्रेम से आकृष्ट हुआ है, यह निश्चय है आकर्षण का जाल बिछानेवाला वही रसिको का सरदार है। उसके प्रेम का आस्वादन करके ही हम जीवित है, उसके प्रेम की भिक्षा के लिये हम दर दर ठोकरे खाते फिरते है,—जिसने भी जब कभी किसी 'सुन्दर' को प्यार किया,सच मानो उसने 'उसे' ही प्यार किया।

या मोहन के मै रूप लुभानी।
सुन्दर बदन कमलदल लोचन बांकी चितवन मंद मुसकानी।।
जमना के नीरे तीरे धेनु चरावै बसी में गावै मीठी बानी।
तनमन धन गिरवर पर वारूँ चरण कँवल मीरा लपटानी।।

रूप का प्यासा मानव अनन्त जन्मो से उस रूप-सुधा का पान करता आया है और इस अमर अनन्त यौवन-वसन्त मे वह सदा ही अपने प्राणप्यारे के प्रगाढ आलिङ्गन मे आबद्ध है—कभी एक क्षण के लिये भी छुटकारा हुआ ही नही, अलग हुआ ही नही—प्रेमी प्रियतम की गोद मे, प्रियतम प्रेमी की गोद में—

I am He whom I love,
He whom I love is I
We are two Spirits
Dwelling in one body.

सहजिया सम्प्रदाय जिसका विशेष विकास उत्तरकालीन बौद्ध बिहारो और सघो में हुआ था श्रृङ्गार को अध्यात्म का सर्वोत्तम साधन स्वीकार

करता है। वासना-रहित प्रेम के द्वारा स्त्री पुरुष की और पुरुष स्त्री की उपासना करे—इसीसे उसे आत्म-प्रकाश का दर्शन होगा। इसमें कोई सन्देह नही कि इस मार्ग में आनेवाली विघ्न-बाधाओ और कठिनाइयो की ओर भी साधक का ध्यान बार-बार आकृष्ट किया गया है और उसे सावचेत रहने का आदेश किया गया है। 'सहज' का अर्थ ही है स्वभाव-सिद्ध। इन्द्रियजन्य आकर्षण एव वासना को सहजिया स्वभाव का विकार मानते है और इस पर विजय प्राप्त करके ही इस साधना-पथ मे प्रवृत्त होने की स्वीकृति देते है। प्रणय की अत्यन्त प्रगाढ अवस्था मे भी वासनारहित होकर जो इस प्रेम-साधना के मार्ग मे शून्यवत् होकर प्रवृत्त होता है वही इस दिशा म सफलता प्राप्त कर सकता है। इस सहजिया सम्प्रदाय मे पीछे कई वैष्णव तथा तान्त्रिक भी सम्मिलित हो गये। वैष्णवो ने इसके प्रेम अश पर ही विशेष जोर दिया और तान्त्रिको ने नारी-पूजन पर।

सहजिया सम्प्रदाय के गुप्त हस्तलिखित ग्रन्थो मे इनकी पूजा-अर्चा का विधि-विधान बहुत विस्तार से मिलता है। आरम्भ में साधक को किसी परम सुन्दरी से परिचय बढाकर उसका प्रेम प्राप्त करने की चेष्टा करनी पडती है; परन्तु इस बात की बडी सावधानी रखनी पडती है कि वह एक क्षण के लिये भी स्खलित न हो जाय। फिर चार महीने तक उस प्रियतमा के चरणो मे पडा रहना पडता है—परन्तु शर्त्त यह है कि उसका शरीर-स्पर्श न करे। इसके उपरान्त चार महीने तक उसकी शय्या मे उसके पार्श्व मे सोवे परन्तु अग सग न होने पावे और इसके अनन्तर उसके प्रगाढ आलिङ्गन मे बँधकर भी एक क्षण के लिये भी अपनी स्थिति से विचलित न हो। सहज साधना मे प्राणायाम आदि योग की कुछ क्रियाएँ भी चलती है और आत्मा का '*सनातन नारी*' के रूप मे ध्यान करने की विधि है और अपने शरीर के भीतर ही 'चार चाँद' पर ध्यान जमाया जाता है। पीछे जाकर चाहे जो भी विकृति इस सम्प्रदाय मे आ गयी हो, आरम्भ मे इसका उद्देश्य यह था कि पुरुष के भीतर नारी के प्रति और नारी के भीतर पुरुष के प्रति जो आकर्षण एव उत्सुकता है उन्हे साधना के द्वारा जीत लिया जाय।

बगाल के परम वैष्णव कवि चण्डिदास माता वाशुली के उपासक थे परन्तु उनका 'रामी' नाम की एक रजक-कन्या से अटूट प्रेम था। इस 'अशिष्ट' प्रेम के कारण समाज से वे वहिष्कृत भी हो गये थे परन्तु उनके आध्यात्मिक प्रेम की प्रेरणा 'रामी' ही थी और उसे जगज्जननी, महामाया,

महासरस्वती, महाकाली, महालक्ष्मी, गायत्री, सीता और राधा के रूप में देखते थे । उसी रामी को सम्बोधित कर चण्डीदास ने गाया है—

तुमि हउ पितृ, तुमि वेदमाता गायत्री ।
तुमि से मंत्र तुमि से तंत्र
तुमि से उपासना रस

चण्डीदास की उपासना-पद्धति एव अनुभूति में प्यार और उपासना मे कोई अन्तर नही है और स्त्री-पुरुष का जो प्रेम है वही प्रेम भक्त-भगवान् के बीच भी है । यह अनुभूति केवल चण्डीदास की ही नही है । भक्ति जब एकान्तत प्रेमाश्रयी हो जाती है तो वहाँ समस्त प्रेम का केन्द्र-विन्दु भगवान् ही बन जाते है और भगवान् से ही भक्त समस्त सुखों का उपभोग करता है । मैदम ब्रूयर (Me Bruyere) फ्रास के एक बहुत सम्भ्रान्त कुल की ललना थी । उन्होने स्पष्ट लिखा है कि मुझे 'उस' के अपार प्रेम का आस्वाद मिला है—'Most intimate favours of the Bridegroom' उसके प्यार मे मैंने अपना सतीत्व गँवा दिया । उसने अपने चुम्बनो से मेरे अन्तरतम के प्राण को पी लिया और मै 'उस' में मिलकर डूब गयी ।*

मीरा ने गाया है—

आली रे मेरा नैनाँ बाण पड़ी ।
चित्त चढ़ी मेरे माधुरी मूरत उर बिच ग्रान अडी ।।
कबकी ठाढ़ी पंथ निहारूँ अपने भवन खड़ी ।।
कैसे प्राण पिया बिनु राखूँ जीवन मूर जड़ी ।
मीरा गिरधर हाथ बिकानी लोग कहैं बिगड़ी ।।

दुनिया ने ऐसों को 'बिगडी' कहा ही है, बराबर 'बिगडी' ही कहा है परन्तु इन 'बिगडी' को संसार की आलोचनाएँ सुनने का अवकाश ही कहाँ है ? वे क्या जाने कि इससे भी 'बनी' हुई कोई स्थिति होती है ।

हसीनाने जहाँ उजडी हुई महफिल में रहते है ।
जिन्हे बरबाद करते है उन्हीं के दिल में रहते हैं ।।

---

*" Love of the Bridegroom triumphed over my chaste humility. What a swoon of love when the lips of the Bridegroom drew the substance of life from me and through His caresses when I felt myself passed into Him"

रास और चीर-हरण का रहस्य

वैष्णव-संप्रदाय के कृष्ण-भक्त कवियो में 'परम भाव' के उपासकों को यमुनातट, वशीवट, करील-कुञ्ज, वृदावन की गलियाँ तथा उनमे होनेवाली रास की क्रीडा ने बहुत अधिक आकृष्ट किया है। परम भाव की सम्यक् उद्भावना में रास का बहुत हाथ है। मीरा की प्रेम-भावना भी रास और चीर-हरण की इन लीलाओ से मूलतः ओत-प्रोत है। मीरा ने इन लीलाओ का कही वर्णन तो नही किया है परन्तु इसके मधुर रस का आभास यत्र-तत्र उसके पदो की अन्तर्धारा मे स्पष्टतः परिलक्षित हो रहा है। गोपियो के साथ श्रीकृष्ण के रास-रसोत्सव का वर्णन मीरा के पदो मे मिलता नही। इसका एक मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि स्वय मीरा श्रीकृष्ण की प्रणयिनी है। उसकी यह नित्य निरन्तर स्थिति है, किसी साधना के द्वारा नही अपितु स्वय हृदय के भीतर उसने श्रीकृष्ण को पति रूप मे पाया है। एक सती साध्वी पत्नी अपने प्राणाधार पति का अन्य स्त्रियो के साथ रासविलास का वर्णन करती तो कैसे? भारतीय ललना के हृदय मे यह भाव आ ही कैसे सकता है कि उसका पति किसी अन्य रमणी पर आसक्त है?

शरद की शोभनीया यामिनी मे यमुना के तट पर दूर तक फैली हुई, लहराती हुई, कुज-कुटीर मे चद्र-ज्योत्सना छिटकी-बिखरी है। यमुना के नीले-नीले जल-प्रवाह पर भगवान् चन्द्रदेव अमृतवर्षा कर रहे है। वृदावन की समस्त वन-भूमि मधुमयी हो गई है। निर्मल ज्योत्सना में स्नान कर कुसुमों से लदी हुई तरुलताएँ, ज्योत्स्नाप्लावित यमुना का पुलिन आज किसी अपूर्व आनद मे 'किसी' के साथ क्रीडा करने की तैयारी मे है।

सैकडो कुञ्ज-कुटीर है। श्रीभगवान् की विहार-वासना ने आज इसे पागल बना दिया है। वशी बजती है और —

बंशी धुनि सुनि गोप-कुमारी।
अति आतुर ह्वै चली श्याम पै
तन मन की सब सुरति बिसारी ।।
गल को हार पहिर निज कटि महँ,
कटि की किंकिणि गल महँ डारी।
पग पायलने धारण कर में,
कर की पहुँचिया पगन मँझारी ।।
कान बुलाक, कपोलन बेंदी,
नाक में पहिरि कान की बारी।
एक नैन अंजन बिनु सोहै,
एक नैन में काजर सारी ।।
कोउ भोजन पति परसत दौरी,
कोउ भोजन तजि दीन्ही थारी।
'नारायण' जो जैसी हुती घर,
सो तैसेहि उठि विपिन सिधारी ।।

भगवान् के अकस्मात अन्तर्धान हो जाने पर उन्हे न देखकर गोपाङ्गनाएँ व्याकुल होकर विलाप करने लगी। उन्मत्त के समान एक वन में जा-जा कर श्रीहरि का पता वृक्षो से पूछने लगी। इधर, भगवान् श्रीकृष्ण और सब गोपियो को छोड कर जिस एक गोपी को लेकर एकान्त में आये थे उस प्रेमगर्विता गोपाङ्गना ने श्रीकृष्ण से कहा—प्यारे! मुझसे अब अधिक नहीं चला जाता; तुम्हारी जहाँ चलने की इच्छा हो मुझे कधे पर चढ लो'। ऐसा भगवान् ने उस प्रियतमा से कहा, 'अच्छा तुम मेरे कधे पर चढ लो'। ऐसा सुन ज्योही वह कधे पर चढने के लिए तैयार हुई, भगवान् तुरन्त अन्तर्धान हो गये। तदनन्तर कृष्णचन्द्र के आगमन के लिये अत्यन्त उत्सुक वे समस्त गोपियाँ फिर जमुना की रेती मे लौट आयी और परस्पर मिलजुल कर उन्हीं का गुणगान करने लगी।

'गोपीगीत' यही से आरभ होता है जिसमें गोपियो ने अधरामृत पिला-कर जीवनदान की प्रार्थना की है। 'गोपी गीत' रास पञ्चाध्यायी का प्राण है। गोपियाँ भाँति-भाँति से प्रलाप करती हुई कृष्णदर्शन की लालसा से फूट-फूट कर रोने लगी और फिर—

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमान मुखाम्बुजः ।
पीताम्बरधरः स्त्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथ : ।।

कामदेव के भी मन को मथनेवाले भगवान् कृष्ण पीताम्बर और वनमाला धारण किये मधुर-मधुर मुसकान की फुलझडियाँ छोडते हुए उनके आगे प्रकट हुए । प्रियतम को आया देख समस्त ब्रजबालाओ के नेत्र आनन्द से खिल गये और सब-की-सब इस प्रकार खडी हो गई जैसे प्राणो के आ जाने से शरीर उठ बैठता है । उनमे से किसी ने अति आनन्दित हो अपनी अञ्जलि से भगवान् का करकमल पकड लिया, किसी ने उनकी चन्दन-चर्चित भुजा अपने कधे पर रख ली और किसी ने उनका चबाया हुआ पान अपने हाथ मे ले लिया । एक विरह-सतप्ता बाला ने अपना चित्त शान्त करने के लिये अपने वक्षस्थल पर उनका कोमल चरणकमल रख लिया । किसी ब्रजबाला ने भगवान् को नयनो के पथ से हृदय में ले जाकर आँखे मूँद ली, फिर भीतर ही भीतर आलिङ्गन करने से उसके शरीर मे रोमाच हो आया और वह परमानन्द मे लीन हो गयी । फिर गोपियो ने कृष्ण के बैठने के लिए अपने कुचकुकुम-मण्डित दुकूल बिछा दिये ।

यही महारास शुरू होता है । दो-दो गोपियो के बीच योगेश्वर श्रीकृष्ण उनके गले मे हाथ डाल कर खडे हुए । उस समय सब गोपियो ने उन्हे अपने ही निकट समझा । रासोत्सव देखने के लिये उत्सुक देवगण तथा देवाङ्गनाओ के सैकडो विमानो से सम्पूर्ण आकाश भर गया । इधर, रासमण्डल में अपने प्रियतम के साथ नृत्य करती हुई गोपाङ्गनाओ के कङ्गण, पायजेब और करधनी के घुँघरुओ का महान शब्द होने लगा ।

अङ्गनामङ्गनाअन्तरे माधवो, माधवोमाधवो चान्तरेऽनंगना ।
इत्थमाकल्पितं मंडलं सुन्दरं संजगौ वेणुना देवकीनन्दनः ।।

बीच मे राधा और कृष्ण की युगल जोडी है, चारो ओर गोपियाँ और प्रत्येक गोपी के साथ कृष्ण । सारी प्रकृति रसमय, रासमय, आनन्दमय, कृष्णमय, मधुमय हो रही है । गोपियो के प्राण कृष्ण रसामृत से ओत-प्रोत है । नाचते नाचते सारी सुध-बुध खो जाती है—

"लोचन श्यामरु, बचनहिं श्यामरु
श्यामरु चारु निचोल ।
श्यामरु हार हृदय मणि श्यामरु
श्यामरु सखि करु कोल ।।"

श्रीमद्भागवत का 'रास पञ्चाध्यायी' इसी लीला-माधुर्य से ओत-प्रोत है। भगवान् की यह लीला अपने साथ अपनी ही लीला है। 'रेमे रमेशो व्रज-सुन्दरीभिर्यथार्भक स्वप्रतिबिम्बविभ्रम.।' जैसे नन्हा-सा शिशु दर्पण में पडे हुए अपने प्रतितिबिम्ब के साथ खेलता है वैसे ही श्रीकृष्ण और व्रज-सुन्दरियो ने रमण किया। निखिल ब्रह्माड रास के फाँस में गँथा हुआ है। राधा और कृष्ण का केद्र मे होना प्रकृति तथा पुरुष की कौतुक-प्रियता तथा सयोग का ही व्यजक है। चारो ओर गोपियाँ-रूपी आत्माएँ अपने प्राणवल्लभ कृष्ण के साथ नाच रही है। कृष्ण सर्वत्र ओत-प्रोत है। सभी को 'वे' अपना-अपना भिन्न दिखाई पडते है। परन्तु सभी गोपियो के हृदय-प्रवाह मे कृष्ण 'एक रस' समान भाव से विद्यमान है। हमारा हृदय ही वृन्दावन का विहारस्थल है—जिसमे हमारे प्रेम के प्रवाह के तट पर श्रद्धा के कुजो के नीचे हमारी राधा-रूपिणी आत्मा अपने प्राणवल्लभ कृष्ण के साथ अनत रास मे सलग्न है। भगवान् श्रीकृष्ण हमारी आत्मा है। आत्माकार वृत्ति श्रीराधा है और शेष आत्माभिमुख वृत्तियाँ गोपियाँ है। उनका धाराप्रवाह रूप से निरन्तर आत्म रमण ही 'रास' है।

चीर-हरण की लीला भी श्रीमद्भागवत् के दशम स्कन्ध मे वर्णित है। एक बार गोपियो ने कात्यायनी देवी का व्रत किया और उसी व्रतकाल मे वे सब वस्त्र उतार कर स्नान कर रही थी। इसी बीच मे श्रीकृष्ण भी वहाँ पहुँचे। गोपियो के नग्न स्नान पर उन्हे कुतूहल हुआ। वे उनके वस्त्रो को लेकर कदम्ब के ऊपर चढ गये और गोपियाँ जब अपना वस्त्र माँगने लगी तब वे कहने लगे—

भवत्यो यदि मे दास्यो
मयोक्त वा करिष्यथ।
अत्रागत्य स्व वासासि
प्रतीच्छन्तु शुचिस्मिताः॥

हे सुहासिनियो! यदि तुम मेरी दासी हो मेरी आज्ञा मानने को तैयार हो तो यहाँ आकर अपने वस्त्र माँगो।

परन्तु सकोच की मारी गोपियाँ आगे बढ नही पाती। अपना नग्न रूप वे अपने प्राणवल्लभ के भी सम्मुख खोलने में हिचकती है। इसके उपरान्त का श्लोक है—

यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रता
व्यगाहतैतत्तदु देव-हेलनम् ।
बद्धाञ्जलिं मूर्ध्न्यपनुत्तयेऽंहसः
कृत्वा नमोऽधो वसनं प्रगृह्यताम् ।।

तुमने व्रतधारण करके भी वस्त्रहीन होकर जल मे स्नान किया इससे तुम्हारे द्वारा वरुणदेव का अपराध हुआ है । अत उस दोष की शान्ति के लिये तुम मस्तक पर हाथ जोड कर उन्हे झुक कर प्रणाम करो । और फिर अपने वस्त्र ले जाओ । भगवान् के इस प्रकार कहने मे उन व्रजबालाओ ने समझा कि वस्त्रहीन होकर स्नान करने से हमारा व्रत खण्डित हो गया अत· उसकी निर्विघ्न पूर्ति के लिए उन्होने समस्त कर्मों के साक्षी भगवान् कृष्ण को प्रणाम किया । कृष्ण ने गोपियो से छल की बाते की, उनकी लज्जा छुडाई, उनसे हँसी की, उन्हे कठपुतलियो के समान नचाया और उनके वस्त्र हर लिये तो भी वे उनसे रुष्ट नही हुई बल्कि अपने प्रियतम के सग से परम प्रसन्न हुई । उन्होने अपने वस्त्र पहन तो लिए किन्तु प्रियतम के समागम में आसक्त होकर उनका चित्त ऐसा विवश हो गया कि वे वहाँ से चल न सकी बरन् लजीली दृष्टि से उन्ही की ओर निहारती रही ।

सामीप्य और साहचर्य के रहते हुए भी हम अपने प्राणनाथ और अपने बीच परदा बनाये रखना चाहते है । हम पूर्णत अपना नग्न हृदय अपने हृदय-सर्वस्व के सम्मुख रखने मे सकोच करते है । हमे अपना आवरण ही प्रिय है । जो हमारे हृदय का स्वामी है उससे लाज किस बात की ?

निरावरण हो जाना ही साधन है । मन की गति विचित्र है । भगवान् को पाए बिना भी नही रहा जाता, पर्दा भी हटाते नही बनता । भगवान् भी मिले और आवरण भी रहे, यही जीव की इच्छा है । दुनिया के हँसने और अनावृत हो जाने का भय ही हमे भगवान से मिलने नही देता । परन्तु 'वह' तो हमारे अनावृत हृदय को ही देखना चाहता है । गोपियाँ नग्न होकर, प्रेम-विभोर होकर, सब कुछ छोडकर, सर्व-शून्य होकर, लोकलाज को तिलांजलि देकर परम प्रियतम को प्राप्त करने के लिये 'उन' के चरणो मे दौड़ी आई है । इसी को 'Lifting of the veil' कहते है ।

श्रीकृष्णोपनिषद में वर्णन आया है कि रामावतार मे भगवान के सुन्दर रूप को देखकर दण्डकारण्य के मुनिजन मुग्ध हो गये । भगवान् के रूप-रस का पान तो उन्होने किया ही पर वे भगवान् का अङ्ग-सङ्ग चाहते थे,

भगवान् का आलिंगन करना चाहते थे और उनके अधरामृत से अपने प्राणों को तृप्त करना चाहते थे। उनकी इस आन्तरिक लालसा को देख कर भगवान् राम ने उन्हे वर दिया और वे ही गोपियो के रूप में प्रकट हुए।* कुछ गोपियाँ चित् शक्ति की और कुछ साक्षात् श्रुतियो की अवतार है। उन्होने अपना कुल, परिवार, धर्म, सकोच और व्यक्तित्व भगवान् के चरणों में सर्वथा समर्पण कर दिया था–वे यही जपती रहती थी कि– "नन्दगोपसुत देवि पति मे कुरु ते नम "—हे महामाये, हे महायोगिनि, हे कात्यायिनि! आप नन्दगोप के पुत्र कृष्ण को हमारा पति बनाइये, हे देवि! हम आपको नमस्कार करती है। 'नन्दनन्दन हमारे पति हो'—यही उनके हृदय की निगूढ़तम लालसा है। फिर भी निरावरण रूप से वे श्रीकृष्ण के पास नही हैं। थोडी सी झिझक थी। यही झिझक दूर कर देने के लिये, उनकी साधना, उनके समर्पण को पूर्ण कर देने के लिये भगवान् ने उनका आवरण भग कर दिया, उनका आवरण रूप चीर हर लिया।

प्रेमी और प्रियतम के बीच एक हार का व्यवधान भी खलता है। इसी लिये श्रीकृष्ण ने कहा—मुझसे अनन्य प्रेम करनेवाली गोपियो! एक बार, बस एक बार अपने सर्वस्व को और अपने को भी भूलकर मेरे पास आओ तो सही। गोपियो ने कहा—श्रीकृष्ण! हम अपने को कैसे भूले? हमारे जन्म-जन्म की धारणाएँ भूलने दें तब न? हमारा हृदय तुम्हारे सामने उन्मुक्त है। हम तुम्हारी दासी है। परन्तु हमें निरावरण करके अपने सामने मत बुलाओ।

परन्तु श्रीकृष्ण इस परदे को कैसे रहने देते? उन्होने प्रणय का जादू डाल कर इस आवरण को हटा ही दिया। आत्मा के आत्मा श्रीकृष्ण का निरावरण मिलन का मधुर आमत्रण पाकर गोपियाँ प्रेम में निमग्न होकर प्रियतम के चरणो में दौड आयी। फिर न उन्हे वस्त्रो की सुध रही न लोगों का ध्यान रहा—उन्होने न जगत् की ओर देखा न अपनी ओर!

---

*श्रीमहाविष्णुं सच्चिदानन्दलक्षण रामचन्द्रं दृष्ट्वा सर्वाङ्गसुन्दर मुनयो विस्मिता बभूवुः। तं होचुर्नोऽवयमवताराम्वै गण्यन्ते आलिंगामो भवन्तमिति। भवान्तरे कृष्णावतारे यूय गोपिका भूत्वा मामालिंगथ अन्ये येऽवतारास्ते हि गोपाः नः स्त्रीश्च नो कुरु। अन्योन्यविग्रहं धार्यं तवागस्पर्शनादिह। शश्वत्स्पर्श-यितास्माकं गृह्णीयोऽवतारान्वयम्।

वैष्णव भक्तों मे चीरहरण और रास की लीलाएँ बहुत ही व्याप्त हैं। उनकी प्रेम-साधना का सम्बल ही यही है। इसी भावना के मधुर रस में वे डूबे। मीरा का सरल, निश्छल भावुक रमणी-हृदय इसके लिए सर्वथा उपयुक्त था। वह गाती है—

आज अनारी ले गयी सारी, बैठी कदम की डारी,
म्हारे गेल पड़्यो गिरधारी।
मैं जल जमुना भरन गई थी आ गया कृष्ण मुरारी।
ले गयो सारी अनारी म्हारी, जल में ऊभी उघारी;
सखी साइनि मोरी हँसत है, हँसि हँसि दे मोहि तारी॥
सास बुरी अरु नणद हठीली, लार लार दे मोहि गारी।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कमल की वारी॥

इस पद मे मीरा बार-बार कृष्ण को 'अनारी' कह रही है। इस 'खीझ' की मिठास पर बरबस मन खिंच जाता है। मीरा के पदो मे बस इस एक ही स्थान पर चीर हरण का सकेत आया है। लज्जामयी 'कुलललना' का हृदय उक्त 'रस' मे डूबकर भी अभिव्यक्ति से बचता रहा, और, रस की गोपनीय साधना में अभिव्यक्ति होती भी कैसे! बाइबिल की भाषा में कहना चाहे तो भगवान् के लिए उसकी साध ही उसे खा गयी—"My zeal for the Lord has eaten me up"

इस ऐकान्तिक माधुर्य-भावपूर्ण भक्ति की साधना मीरा के लिये सहज स्वाभाविक थी। उसमें स्वाभाविक भोलापन और उस रस के ग्रहण के लिये हृदय को पूरी रसमग्नता थी। मीरा के लिये कुछ बनना नही था—वह तो नित्यसिद्ध गोपी थी, स्वय श्री राधारानी की प्रिय सखी ललिता की अवतार थी।

वेदना का सौन्दर्य

पिउ हिरदय मँह भेंट न होई

को रे मिलाव कहौं केहि रोई ?—जायसी

मजनूं को लैला के वियोग के कष्ट से सहसा एक शारीरिक बीमारी उत्पन्न हो गयी। शोक की तीव्र जलन से उसके खून में उबाल आ गया जिसके कारण मजनूं के शरीर पर दाने पड गये। वैद्य इसका इलाज करने को आया और कहा कि रग से खून निकालने के अतिरिक्त इसका अन्य कोई इलाज नही। खून को निकालने के लिये इसकी रग फाड देनी चाहिये। इसको सुनने के पश्चात् एक चतुर फस्द खोलनेवाला आया। फस्द खोलनवाले ने मजनूं के हाथ बाँध दिये और अपना नश्तर निकाला। मजनूं ने उसको डॉट कर पूछा, यह क्या है ? तू अपना वेतन ले ले और मेरी फस्द न खोल। फस्द खोलनेवाले ने कहा—भला तुम इस फस्द से क्यो डरते हो ? तुम तो वन के शेर, भेडिये, रीछ, चीते जैसे फाड खानेवाले जानवरो से नही डरते। मजनूं ने कहा—मै नश्तर से नही डरता। मै तो पहाड से भी अधिक धैर्य में अटल हूँ। मै तो वह तीर खानेवाला हूँ कि बिना तीर लगे मेरे शरीर को चैन नही मिलता। मै तो प्रेमी हूँ और जख्म खा-खाकर अकडा करता हूँ। परन्तु मेरे सपूर्ण शरीर मे तो लैला ही व्याप्त है और *इस शरीर रूपी सीपी में उसी मोती की झलक भरी है।* इसलिए ऐ उस्ताद ! मुझे डर है कि यदि तू मेरी फस्द खोलेगा तो यह नश्तर कही लैला के न लग जाय। मुझमें और लैला में कुछ अन्तर नही। मै लैला हूँ और लैला मै हूँ। प्रत्यक्ष में दो शरीर दृष्टिगोचर है परन्तु वास्तव मे दोनो मे एक ही प्राण है।

कहीं सुन्दर रूप देख कर, कही मधुर शब्द सुनकर सुखी प्राणी भी उत्सुक

हो उठता है। उसके हृदय में किसी बिछुड़े हुए 'अपने' से मिलने के लिये कातर लालसा जग उठती है, अपने इष्टजन के विरह में प्राण रो उठते हैं—कुछ समझ में नही आता कि 'वह' कौन है, पर इतना तो समझ में आता ही है कि 'कोई' है जो हमारे प्राण को प्रणय की डोर से खीच रहा है—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत् सुखितोऽपि जन्तु ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोध पूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि—शाकुन्तल

यह उत्सुकता, यह प्रणयोत्कण्ठा जीव-जीव की हृदय-कन्दरा के भीतर निर्मल मणि की तरह जगमग-जगमग कर रही है। कविता सदा इस हृदय-मणि को उद्घाटित करती आई है।

मध्याह्न का समय था। महर्षि वाल्मीकि माध्याह्निक सन्ध्या करने के लिये तमसा के तट पर आये। उन्होने पार्श्व मे ही व्याधा के बाणो से क्रौंच के जोडे मे एक को आहत देखा और दूसरे को उसके विरह मे छटपटाते। ऋषि इस करुण दृश्य को देख कर अपने को सँभाल नही सके। उनका हृदय रो उठा। ऋषि के हृदयमें करुणा का जल हलचल मचाने लगा। हृदय उमड आया। आँखो से अश्रुधार बहने लगी। इसी हृदयावेग में अनायास, अन्त का शोक श्लोक बन गया—

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः ।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ।।

ऋषि का शोक श्लोक के रूप मे छलक पडा। छन्द, लय, ताल तो स्वयं आ गये। पीछे जाकर इस छन्द का 'अनुष्टुप' नाम पडा। करुणा की गहरी ठेस से ऋषि में सोया हुआ 'कवि' जाग गया! फिर तो छन्दो का वह अबाध प्रखर प्रवाह चला कि सारा ससार उसमें बह गया! आदि कवि की यह व्यथा उनके 'महाकाव्य' का कारण बन गयी और काव्य की दृष्टि से अब भी वह महाकाव्य ससार का शिरोमणि है। दाते ने वियेट्रिस को बस एक ही बार देखा था—नदी-तट पर, उस अनिद्य सुन्दरी की रूप-श्री में कवि का विह्वल हृदय सदा के लिए डूब गया और उसका समस्त काव्य उस प्रणय-स्मृति से ओत-प्रोत है। प्रणय तथा तज्जन्य वेदना की बांसुरी समस्त हृदयों में एक-सा आघात करती है, क्योकि हृदय हृदय एक है—सब हृदयो में एक ही सुर बजता रहता है।

प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी अश में दार्शनिक, सन्त एव कवि होता है। ठीक उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी अश में पुरुष एव नारी दोनो होता है, किसी में पुरुषत्व भी विशेषता रहती है किसी में स्त्रीत्व की। एक व्यक्ति मे दार्शनिक का चिन्तन जिस अश में है उतने अश में वह पुरुष है और जितने अश में कवि का सवेदन है उतने अश में स्त्री है। लगता है कि कविता प्रधानत नारी हृदय का धर्म है। परन्तु बिना पुरुष और नारी के 'एक' हुए जीवन का कोई भी यज्ञ पूरा नही होता। इसी को प्रेमियो की भाषा मे प्रिया और प्रियतम का मधुर आलिङ्गन मे 'एक' हो जाना—'identification with the Almighty Lover in a passionate embrace' कहते हैं।

दार्शनिक के चिन्तन में कवि की सवेदनशील अनुभूति तथा कविके सवेदन में दार्शनिक का गूढ चिन्तन जब पूर्णत अलक्ष्य रूप से ओत-प्रोत होकर मिल जाता है तभी दर्शन एवं कविता दोनो अपने सच्चे स्वरूप को प्राप्त करते हैं। अतएव दार्शनिक मे अनुभूति एव कवि मे चिन्तन का होना अपरिहार्य्य है। प्रेम और ज्ञान का जब सम्मिलन होता है तभी जीवन का अन्त सौन्दर्य खिल उठता है। प्रेम ही ज्ञान का रस है—ज्ञान ही प्रेम का प्रकाश है। प्रेम गहरे मे उतरकर ज्ञान बन जाता है और ज्ञान हृदय के रस में डूबने पर प्रेम का रूप धारण कर लेता है। इस सबध में मेटरलिंक की ये पक्तियाँ स्मरण हो जाती है—'Wisdom is the lamp of love and love is the oil of the lamp Love sinking deeper grows wiser; and wisdom that springs up aloft comes over the nearer to Love' हृदय और मस्तिष्क का पूर्ण सामजस्य ही तो जीवन की चरम अभिव्यक्ति है।

खिले हुए फूलो, गदराई हुई अमराइयो, फूलो से लदी हुई लतावल्लरियों' झरनो के चिर अभिनव सगीत, तारो की अलौकिक झिलमिल भेदभरी छटा, पीयूष-वर्षी चन्द्रमा को देख विशाल समुद्र के हृदय-देश मे अपूर्व उद्वेलन, ऊषा-संध्या की मनोहारिता, रमणी के निखरे हुए सौदर्य तथा शिशु की कोमल, मधुर मुसकान आदि में एक अपूर्व आकर्षण है जो हमें अपनी ओर केवल आकर्षित ही नही करता अपितु हमारे हृदय को गुदगुदा देता है। इनमे हम उस 'परम छवि' की विकीर्ण आभा पाते है। 'देखेउँ परमहस परिछाई। नैन जोति सो बिछुरत नाही।' हमारे अन्तस् में कोई शीतल अथच मधुर सस्पर्श की अनुभूति होती है। कोई हमारा 'अपना' है जो

इस शोभा का जाल बिछा कर हमे अपनी ओर खीच रहा है, बुला रहा है । प्रेम की बसी लगा कर वह हमारे हृदय को आकर्षित कर रहा है । बसी की डोरी इतनी लम्बी है कि हम उस अलक्ष्य 'शिकारी' को देख नही पाते, फिर भी हमारा हृदय उस बसी की गॉस में बेतरह उलझ गया है । हम अनुभव करने लगते है कि उस महातेजस् के हम भी एक अश है जिसके चारो ओर अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड अपने ग्रह-नक्षत्रो के साथ चक्कर काट रहे है । हम अनुभव करते है और हमारे हृदय मे एक हूक उठती है—

ये सब स्फुलिङ्ग है मेरी—
उस ज्वालामयो जलन के,
कुछ शेष चिह्न है केवल,
मेरे उस महा मिलन के—आँसू.

प्यार की चोट खायी हुई मीरा ने स्थान-स्थान पर 'पूरब जनम की ब्याही', 'जनम-जनम की कँवारी', 'मेरी उनकी प्रीत पुराणी', 'पूरब जनम को कौल', 'जनम-जनम की दासी' आदि पदो में अपना उनका अनन्त सम्बन्ध माना है और इस सबध के कारण ही उसे उस पर 'अधिकार'-सा प्रतीत होता है । मीरा के काव्य मे जितना भी भाव-सौन्दर्य है उसके मूल मे यह आत्मीयता की भावना ही है । मीरा का सारा काव्य परम प्रियतम के पथ मे आत्मा के अभिसार तथा अभिसारपथ की अनुभूतियो से भरा पडा है । इसीलिए उसमें जीवमात्र की व्यथा प्रतिबिबित हो रही है । कवि का अपना अनुभव जब जीव-जीव के अनुभव के रूप मे प्रकट होता है, जब उसके निजी अनुभव का 'साधारणीकरण' हो जाता है तभी उसका काव्य काव्य है । मीरा का 'दु ख' सर्वथा अपना होते हुए भी मानवमात्र का है । हम सभी उस दु.ख मे घुलते रहते है, उसकी तीव्रता का गहरा अनुभव हम मीरा की तरह भले ही न करे । मीरा के काव्य की प्रभविष्णुता का सबसे प्रबल कारण है उसका सरल निश्छल भावाभिव्यजन । मीरा की वेदना जीवमात्र की वेदना है, भगवान से बिछुडे हुए और उसके प्यार मे तडपते हुए जीवमात्र की अन्तर्व्यथा है ।

शेक्सपियर के दु खान्त नाटक सुखान्त नाटको की अपेक्षा हमारे हृदय को क्यो अधिक प्रभावित करते है ? हैमलेट, मैकबेथ और आथेलो तथा लियर को पढते समय हमें अनुभव होता है कि जीवन की यही सही तस्वीर है । उनकी समस्या हमारी अपनी समस्या हो जाती है, उनका दु ख हमारा

दुःख हो जाता है और इसीलिए इन नाटकों में 'मानस-प्रक्षालन' (katharsis) की अपूर्व क्षमता है। यही बात 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के साथ भी है। यदि दुष्यन्त चुपचाप शकुन्तला को स्वीकार करके अपने अन्तःपुर मे रख लेता तो फिर हम 'शाकुन्तल' को क्यो पढते? 'शाकुन्तल' का सौदर्य तो इसीमे है कि निर्दोष शकुन्तला का प्रत्याख्यान हुआ, वह मरीचि के आश्रम मे प्राणधन की प्रणय-प्राप्ति के लिये साधना मे लीन हो गयी। शृङ्गार जब करुणा मे डूबता है तभी उसका वास्तविक सौदर्य निखर उठता है। हमारी वेदना को उभारनेवाले दृश्यो एव उपकरणो का हमारे हृदय पर जो प्रभाव पडता है उसके आघात-प्रत्याघात से स्वय हमारे 'भीतर' सगीत छिडता है और वही सगीत 'कविता' है।

कुमारसभव के प्रथम सर्ग मे रूप-रस की मदिरा छलक रही है, परन्तु वह पाँचवें सर्ग में तपस्या की आँच मे पवित्र हो जाने के बाद ही 'पेय' होती है। शाकुन्तल के तीसरे अक में जिस सभोग शृङ्गार का वर्णन है वह इतना मादक है कि उसे स्थिर और स्थायी बनाने के लिए कवि ने उसे तपश्चर्या की आँच में तपाया है। उत्तर रामचरित का तीसरा अक पढकर 'अपि ग्रावारोदत्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्'—वज्र का हृदय भी फूट-फूट कर रो पडता है। छाया सीता का समावेश कराकर भवभूति ने 'उत्तर रामचरित' को विश्व के करुणरस-काव्य मे सर्वश्रेष्ठ बना दिया है।

कवि के हृदय की व्यथा जब पाठक के हृदय मे ढलकर अपना नशा लाती है तभी काव्य का सच्चा और पूर्ण रसास्वादन हो पाता है। इसे सभी जानते है कि सगीत मे वेदना और उल्लास के दो तार है; वेदना का गभीर एव प्रभावशाली तथा उल्लास का हलका और क्षणिक। वेदना के गीतो का स्थायी प्रभाव सभी आचार्यो ने स्वीकार किया है। करुणा हृदय का प्रधान आहार एव आधार है। महाकवि भवभूति ने 'एकोरस करुण एव', शेली ने "Our sweetest songs are those that tell of saddest thoughts" तथा पत ने 'वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान' द्वारा इसी सार्वभौम सत्य को व्यक्त किया है। 'करुणा' ही हमारे जीवन के अन्तर्जगत की मूल एव सच्ची अभिव्यक्ति है। इसी मे वह शक्ति है जो हमारे हृदय के तार-तार को पूर्णतः झकृत कर दे। उपेक्षिता की आहो के सामने सृष्टि का समस्त शृङ्गार बेकार है। मृत्यु की भीषणता के सम्मुख जीवन का सारा साज-शृगार कितना सारहीन प्रतीत होता है। इसी भावोन्मेष में शेक्सपियर ने कहा था—

"We are such stuff as dreams are made on,
Our little life is rounded with a sleep"

हमारा यह लघु जीवन स्वप्न-तन्तुओ से निर्मित है—और वह चारों ओर निद्रा से घिरा हुआ है।

पर संसार के प्रत्येक रूप मे 'उसी' का सौन्दर्य छलक रहा है, मानो पर्दे की ओट में, जहाँ भी पर्दा है, आवरण है, उसके भीतर वही 'जल्वागर' वही 'पर्दानशीं' छिपा हुआ है। हृदय जहाँ भी जिसके द्वारा भी मुग्ध होता है, यह निश्चय है वह मुग्ध करनेवाला और कोई नही है, वही 'छलिया' है। उसके प्यार में हृदय रम रहा है, उसकी खोज में हृदय का स्पन्दन है। इस ससार के जिस किसी भी सु दर पदार्थ को हम प्यार करते है—हमारा प्यार उसी 'एक' को ही पहुँचता है, हम उसी 'एक' को ही वस्तुत प्यार करते है।

विरह और मिलन, वेदना और उल्लास, दुख और सुख मानव-जीवन के दो तार है। अद्वैत रूप में तो निखिल ब्रह्माण्ड तेजोमय, प्रणवमय, प्रकाशमय परमात्म स्वरूप है। सब कुछ 'एक' है। यह विश्व उस 'एक' की छाया या कृति ही नही है अपितु वही वह है। जायसी ने 'रूख समाना बीज मँह' तथा 'दूध माँझ जस धीउ' है—द्वारा उस परम रस से ओतप्रोत इस ब्रह्माण्ड की भावना प्रकट की है। मीरा ने कहा है, 'तुम बिच हम बिच अतर नाही, जैसे सूरज घामा'। मिश्री में मिठास वाली उपमा भी दी जाती है। 'वह' भीतर बाहर ऊपर नीचे ओत-प्रोत हो रहा है स्वय अपने को बिखेर कर अणु-अणु में रम रहा है। निमित्त भी वही है, उपादान भी वही है। विश्व ब्रह्ममय है, सच्चिदानन्द-स्वरूप है; जो परिवर्त्तन हम देख रहे है वह मायाकृत, अज्ञानजन्य है। सोने के अलकार रूप में बदल जाने पर भी उसका स्वर्णत्व नही मिटता। कलाकार अपनी कला रूपमें स्वय विद्यमान है—उसके भीतर भी और बाहर भी। उस चरम सौन्दर्य को उपनिषद् के 'कवि' ने—

"न तत्र सूर्यो भाति, न चन्द्र तारकं
नेमा विद्युतो भाति कुतोऽयमग्निः
तमेव भान्तमनुभाति, तस्यैव भासा सर्वमिदं विभाति।"

द्वारा उसी एक परम ज्योति की ओर लक्ष्य किया है जिसकी ज्योति से सूर्य चन्द्र एव नक्षत्र भासमान है। पुनः साधना के सँकरीले पथ की फिसलन का ध्यान रखते हुए उन्होने साधक को पैर टिकाने के लिये कहा—

"प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेधव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥"

अर्थात् जिस प्रकार वाण अपने लक्ष्य मे एकाकार हो जाता है उसी प्रकार साधक सावधानी से प्रणव के धनुष पर आत्मा का वाण चढाकर ब्रह्म मे तन्मय हो जाय ।

वही सच्चिदानन्दघन ब्रह्म भक्तो का परम प्रियतम प्राणाधार प्राणसखा है जो भक्तो के प्रेम के लिए उनके पीछे-पीछे घूमा करता है, भक्तो की चरण धूलि से अपने को पवित्र करने के लिए—'पूययेदङ्घ्रिरेणुभि.' । वही परब्रह्म परमात्मा भक्त के प्रेम-परवश होकर भक्त का सखा, स्नेही, मित्र, पुत्र, पत्नी बन कर भक्त के प्रेम का रसास्वादन करता और अपनी प्रीति का आस्वादन कराता है । प्रेम-लीला की स्फूर्त्ति के लिए ही यह सारा द्वैत है जो अद्वैत का ही चिद्विलास है । श्रीमद्भागवत में इसी का सकेत है—

वदन्ति यत्तत्त्वविदस्तत्वं यद्ज्ञानमव्ययम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥ १ २. ११.

हमारी आत्मा ही उस परम प्रियतम की प्रणयिनी है और जब तक दोनों का मिलन नही होता, जब तक दोनो मिलकर 'एक' नही हो जाते तब तक हमारा एकमात्र यही कर्त्तव्य है कि असीम धैर्य के साथ उस प्रियतम के आगमन की प्रतीक्षा करे, हृदय का द्वार खोल कर, अन्तर मे प्रेम की बाती बाल कर । यह प्रतीक्षा ही जीवन की परम मधुर अनुभूति है—

"The bride of the soul must be patiently waiting before the divine bridegroom can visit her—but the light of faith should be ever burning in her to welcome the divine consort in her heart of hearts and to be united with His consoling and all absorbing embrace."

मोह से आक्रात अर्जुन को भगवान् ने जब अपना विराट विश्वरूप दिखाया तब अर्जुन के अन्तश्चक्षु खुले । आँखे खुली तो देखा कि सब कुछ कृष्णमय है । अणु-अणु मे केवल वही 'एक' है । सर्वत्र उसी एक जल्वे को देखकर अर्जुन काँप उठे और भगवान् के चरणो मे गिरकर साष्टाग दण्डवत करते हुए, भय से काँपते हुए स्वर मे कहने लगे—

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीडयम् ।

पितेव पुत्रस्य, सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ।।

'प्रभो ! तुम्हारे चरणो मे आर्त्त होकर गिरा हूँ । तुम विश्ववरेण्य हो । जिस प्रकार पिता पुत्र के, मित्र मित्र के, पति पत्नी के अपराध को क्षमा कर देता है उसी प्रकार तुम भी मेरे अपराध को क्षमा कर दो ।' 'उसे' हम सर्वत्र देखते है परतु पहचान नही पाते ! पता नही 'वह' किन-किन रूपो मे हमारे पास आता है और हम से तिरस्कृत होकर लौट जाता है । फिर भी उसका आना और हमारा भूलना चलता रहता है । हमारी खोज हमारे निजी जीवन के वास्तविक व्यापार से अलग होकर चलती रहती है परन्तु, वह तो हमारे जीवन के अन्तस् मे, सूक्ष्म रूप मे, प्रतिपल, प्रति क्षण बोल रहा है, सम्मुख आ रहा है । हम इसे जीवन का साधारण व्यापार समझ आँखे फेर लेते है और 'उसे' पा नही पाते । 'वह' हमारे जीवन की चलती धारा मे ही हमारी आसक्ति के पर्दे को हटाने आता है । पर 'उस' के चुबन का रस हमारे अधर अनुभव नही कर पाते, उसके आलिगन का आनद हमारे हृदय को पूरी तरह नही मिल पाता, उसकी आँखो का नशा हमारी आँखो मे नही उतर पाता । वस्तुत हम कुछ ऐसे व्यस्त-से है कि हमे इस महामिलन की सुध तक भी नही आती इसके स्पर्श की सिहरन को अनुभव करना तो दूर रहा । परतु एक बार ठेस लगती है और हमारी आखें खुलती है । हम देखते है जीवन की प्रत्येक धडकन मे 'वही' बोल रहा है । लज्जा से हमारा सिर झुक जाता है । हम उसके चरणो मे अपना सिर टेक कर कहते है— प्रभो । क्षमा करो ! मेरी इस चिर विस्मृति को क्षमा कर दो ! तुम मेरे भाई हो, माता हो, पिता हो, मित्र हो, सखा हो·· नही-नही पति हो, सर्वस्व हो, प्राणाधार हो । मेरी भूल क्षमा कर दो, प्यारे । उस समय जब हम उसके साथ अपने इस सबध का अनुभव करने लगते है तब हमारा पहाड सा भी अपराध कितना नन्हा दीखता है । प्रणयी अपनी प्रियतमा के अपराध की ओर ध्यान नही देता । वह सर्वथा सब काल उसी की है अत वह उसके अपराधो का ध्यान न कर उसे सदा हृदय में बसाये रहता है । उस समय अपराध स्वय प्रणय का रूप धारण कर लेते है । इस प्रकार परमात्मा को परम प्रियतम के रूप मे पाकर आत्मा की चिरन्तन भूख प्यास शान्त होती है क्योकि उस अवस्था मे हम अपने 'प्यारे' को शरीर-मन-प्राण से, सब प्रकार से, शरीर से शरीर को मनसे, मनको, प्राण से प्राण को पाकर अपने आपको पूर्णत· जुडा पाते है । मिलन के इसी आनन्दोल्लास में मीरा ने कहा—

म्हाँरी ओलगिया घर आया जी ।।
तन की ताप मिटी सुख पाया, हिलमिल मंगल गाया जी ।
घन की धुनि सुनि मोर मगन भया, यूँ आणंद आया जी ।
मगन भई मिली प्रभु अपणासूँ, भौ का दरद मिटाया जी ।।
चद को देखि कमोदणि फूलं, हरखि भया मेरी काया जी ।
रग रग सीतल भई मेरी सजनी, हरि मेरे महल सिधाया जी ।।
सब भगतन का कारज कीन्हा, सोई प्रभु मैं पाया जी ।
मीरा बिरहणि सीतल होई, दुख दुन्द दूर नसाया जी ।।

तथा

जोसीड़ा ने लाख बधाई रे, अब घर आयो स्याम ।।
आजि आनन्द उमँगि भयो हैं, जीव लहै सुखधाम
पाँच सखी मिली पीव परसि कै, आनँद ठाँम ठाँम ।।
बिसरि गई दुख निरखि पिया कँ, 'सुफल मनोरथ काम ।'
मीरा के सुखसागर स्वामी, भवन गवन कियो राम ।।

यहाँ 'पाँच सखी' का अर्थ है—शरीर, मन, प्राण, हृदय और आत्मा। इन सभी के द्वारा उस परम प्रियतम के मिलन की आनन्दोपलब्धि हुई। ये धन्य हुए।

'Mystical love then burns with a sacred flame which lights up and dedicates to God all that is noble and pure as well as the ignoble and sensual in the mind. In the cup of reciprocal tenderness and devotion, full to the brim and spilling on all sides repression or fulfilment, holiness or unholiness are swept away and in the new innocence and spontaniety of the senses a human passion stands unmasked and unabashed only for Unity with God"—*Theory & Art of Mysticism*

परमात्मा को पति के रूप मे अनुभव करते हुए अपने को उसके चरणो मे सम्पूर्ण भाव से आत्म-समर्पित करने की भावना को ही 'परम भाव' या मधुर भाव कहा गया है। उस समय जीवन और मृत्यु, सुख और दुख, मिलन और विरह का द्वैत नष्ट हो जाता है। अपना भला बुरा सब कुछ प्राणधन के चरणो मे निछावर हो जाता है। बस एक ही राग, एक ही आलाप, एक ही ताल और एक ही स्वर रह जाता है—'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।" हम अनुभव करने लगते है कि ससार की जो कुछ

छवि है 'उस' की है, जो कुछ रूप-माधुरी है—उसीकी है। यहाँ द्वैत रहते हुए भी अद्वैत है, अद्वैत होते हुए भी द्वैत है। स्पष्टत कुछ द्वैत और अद्वैत की भाषा मे इस रस को नापा नही जा सकता। इसीसे यह अचिन्त्य भेदाभेद की अनिर्वचनीय स्थिति है। लहर समुद्र से उठती और समुद्र में ही लीन हो जाती है और वह जल ही जल है। फिर भी लहर और समुद्र का परस्पर विलास प्रेम का आधार लेकर ही तो है। बस यही स्थिति प्रेम की चरम स्थिति है।

> **सदा लीन आनन्द में सहज रूप सब ठौर**
> **दादू देखे एक को दूजा नाहीं और।**
> **हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हिराई**
> **बूँद समानी समंद में सो कत हेरया जाइ।।**
> **हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हिराई।**
> **समँद समाना बूँद में सो कत हेरया जाइ।।**

उस विराट् मिलन में सारी प्रकृति सराबोर है। बूंद में सारा समुद्र डूब रहा है। नक्षत्र और ग्रह उसी मिलन की तैयारी में चक्कर काट रहे है। उसीसे मिलने के लिये समुद्र अपना हृदय-सिहासन बिछाए हुए है। उसी के लिए पृथ्वी अनवरत गति से गतिशील है—रात दिन, प्रति पल, प्रति क्षण। व्यक्तिगत साधना की चरम अनुभूति मे जब हम अपने उपास्य में एकाकार हो जाते है, 'तन्मय' हो जाते है तब हमारे लिए दूसरा कुछ रह नही जाता—

> **लगी मोहि राम खुमारी हो**
> **रम झम बरसै मेहड़ा भीजै तन सारी हो।।**
> **चहुँ दिस चमकै दामणी गरजै घन भारी हो।**
> **सत गुरु भेद बताइया खोलि भरम किवारी हो।।**
> **मीरा दासी राम की इमरत बलिहारी हो।।**

मरुभूमि के एक रास्तागीर ने मजनूं को एक मैदान में चुपचाप शान्त और अकेला बैठा हुआ देखा। रेत को कागज और अपनी अँगुलियो को लेखनी बना कर वह किसी के लिए पत्र लिख रहा है। उसने मजनूं से पूछा, ऐ मजनूं! यह क्या बात है। तू पत्र लिखता है। यह किसके नाम लिखता है। मजनूं ने उत्तर दिया, मै लैला के नाम की मश्क कर रहा हूँ, अपने हृदय को इसी प्रकार से धैर्य देता हूँ।

ऐसा भान होता है कि एक क्षण के लिये मिल कर हम उससे बिछुड़ गये है, उससे जिसके बिना हमारा जीवन ही असभव है, जो हमारे प्राणो का प्राण एव हृदय का सर्वस्व है । क्षणिक मिलन में पाए हुए उस अमर चुबन के दाग को हम अपने अधरो पर देखकर वेदना से विह्वल हो उठते है । हृदय की धडकन मे भी वही 'परदानशी' अपना राग आलाप रहा है, हमारी साँसो मे भी उसी की तान छिड़ी हुई है फिर भी वह हमारी पकड़ में नहीं आता ! यह कैसी पहेली है ! हमारी 'स्मृति' को जगाकर 'वह' छिप जाता है । हम कराह उठते है—हाय ! यह क्या हुआ—हमारा तुम्हारा मिलन इन असख्य नक्षत्रो ने देखा है, इस वसुन्धरा ने तुम्हे हमारे अधरों का चुबन लेते देखा है । इस चन्द्रमा ने हमारे तुम्हारे आलिगन को देखा है । इस ससार के सभी प्राणी हमारे तुम्हारे इस मधुर गोपनीय सबध को जानते हैं, और आज उस का यह उपहास, उस प्रेम की यह उपेक्षा ? अरे आज तुम मुझे लज्जित क्यो कर रहे हो ? इन नक्षत्रो, चन्द्रमा, सूर्य, वसुन्धरा के विविध उपकरणो के सामने कौन-सा मुख लेकर आऊँ ? एक क्षण के लिए अपने भुजपाश में बाँध कर अनन्त काल के लिए तुमने विरह की आग में जलने के लिये छोड दिया है ! फरियाद भी किससे की जाय ? तुमसे परित्यक्त होने पर फिर किससे शिकवा-शिकायत की जाय ?

इस प्रकार प्रेम और सौन्दर्य के रूप में प्रभु को पाकर उसके मधुर मिलन और रसमय विरह मे मनुष्य की सारी वासनाएँ और लालसाएँ अपने आपको लय कर देती है; आनन्द और विषाद, ज्ञान और अबोधता सब कुछ उसी 'एक' में लोप कर मनुष्य अमर जीवन के आनन्द का उपभोग करने लगता है । एक बार प्रेम के मधुर आकर्षण में मुग्धा राधा को बाँध कर आजीवन तड़पने के लिये छोड कर नटनागर चले गये । कण्व के आश्रम मे अल्हड़ शकुन्तला को प्रेम-वाण से घायल कर दुष्यन्त ने उसे अपनी भुजाओ में बाँध लिया, परन्तु फिर उसी छद्म प्रणयीने अनाथ, गर्भवती शकुन्तला का भरी सभामें प्रत्याख्यान किया । स्त्री-सुलभ कौतूहल-प्रियता में पार्वती ने शिव से राम के विषय में पूछा । जरा सा अपराध परन्तु युग-युग के लिये परित्याग ! आग मे अपनी परीक्षा दे चुकने पर भी गर्भवती सीता का अवधिहीन निर्वासन ! इन्ही अल्हड़ परित्यक्त गोपियो, राधा, पार्वती, सीता और शकुन्तला की मूर्तियाँ जो हमारे काव्य की चिर निधि हैं हमारे अन्तस्तल से बोल रही है और हमें हमारे उस 'महामिलन' की स्मृति दिला रही है ।

"God as Love and Beauty fulfils all man's fundamental impulses and interests. Love becomes the eternal expression of infinite beauty. The human lover becomes timeless in his sense of joy and beauty and foretastes the life immortal"

उस रूप-सुषमा का कभी भी अन्त नही होता। वह नित्य नूतन और अनन्त यौवन है। इसलिये वहाँ सदा ही अनन्त उपभोग है—वहाँ इस उपभोग मे मन-प्राण को किसी प्रकार की क्लान्ति या थकान का बोध नही होता।

जिस वस्तु को हम पा लेते है अथवा इच्छा करते ही पा सकते है उसके प्रति हमारा वैसा कुछ 'अनुराग' नही रहता। किन्तु 'उस' को पाकर भी हम पूरे तौर से नही पाते, 'उसे' लेकर भी पूरे तौर से लेना नही होता,—'नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च'—उसकी रूप-श्री और लावण्य की कही इति नही है, उसके सौदर्य-माधुर्य की सीमा नही बाँधी जा सकती। उस रूपवान चिर सुकुमार को सदा पाकर भी सदा पाते रहने की इच्छा बनी रहती है और हृदय बार-बार कुहक उठता है—

भज सखे ! भवत्किङ्करीः स्म नो
जलरुहाननं चारु दर्शय।

———

मीरा के आविर्भाव-काल में भक्ति की धाराएँ

भगवान् शकराचार्य के शुष्क ज्ञानवाद मे जनता की वृत्तियो का पूरा-पूरा रमना सभव न था। विशिष्टाद्वैत के प्रतिष्ठापक स्वामी रामानुज ने जन-समुदाय के हृदय को आकृष्ट करने के लिए एक बहुत बडा सहारा ढूंढ निकाला। स्वामी रामानुज के विशिष्टाद्वैत मे 'प्रपत्ति' या शरणागति की साधना मुख्य रही और महाविष्णु के साथ महालक्ष्मी की उपासना चली। महालक्ष्मी ही इस सम्प्रदाय की आचार्या है इसीलिए इसका नाम 'श्रीसम्प्रदाय' हुआ। क्रमश भगवान् श्रीकृष्ण का लोकरक्षक, लोकरजक रूप जनता के सामने आया, परन्तु श्रीमद्भागवत् के पीछे श्रीकृष्ण का लोकसग्रही रूप क्रमश हटता गया और वे कार्यक्षेत्र से हट कर प्रेम के मधुर आलम्बन मात्र रह गये। श्रीमद्भागवत मे अनेक दुष्टो और राक्षसो को सुगति देने वाले, गोवर्धन धारण करने वाले श्रीकृष्ण के रूप पर हमारा ध्यान उतना नही गया जितना गोपियो के साथ उनकी मधुर-मधुर लीलाओ पर। महाभारत के वीराग्रगण्य श्रीकृष्ण का रूप हमारी आँखो के सामने उतना नही ठहर सका जितना भागवत के प्रेमी श्रीकृष्ण का। श्रीवल्लभाचार्यजी ने तो लोक और वेद दोनो का अतिक्रमण कर के भगवान् श्रीकृष्ण के लोकसग्रही रूप को स्पष्ट शब्दो मे हटाया। इस प्रकार कृष्ण-भक्ति व्यक्तिगत एकान्त प्रेम-साधना के रूप में आ गई और इसी से इस मे रहस्य भावना की गुजाइश हुई। स्वामी वल्लभाचार्य (स० १५३६–१५८७ वि०) ने जनता के सामने सच्चिदानन्द स्वरूप श्रीकृष्ण की एकान्त भक्ति का एक बहुत ही सुव्यवस्थित निखरा हुआ रूप उपस्थित किया। स्वामी श्रीनिम्बाकाचार्य ने इसी भक्तिधारा को और भी अधिक हृदय-ग्राहिणी और आकर्षक बनाया।

राधा का स्पष्ट उल्लेख जो श्रीमद्भागवत में खटक रहा था वह इन वैष्णव आचार्यो द्वारा पूरा हुआ। भावित प्रेम मे लय हो जानेवाली कही गई और प्रेम के आलबन, आश्रय, उद्दीपन, सञ्चारी आदि की पूर्ण व्यवस्था द्वारा जनता के सपूर्ण हृदय को इन प्रेममार्गी आचार्यों ने प्रेम-भक्ति से अभिभूत कर दिया। हृदय मे प्रेम की प्रेरणा द्वारा समस्त इच्छाएँ एव कामनाएँ भी कृष्णार्पण हो गई। भक्तजन अपना और भगवान् का सबध लेकर चलने लगे।

व्यक्तिगत आत्मानुभूति के लिये 'सोऽहमस्मि' की अखण्ड वृत्ति भले ही सभव हो परन्तु जनता के हृदय में प्रवेश कर भगवान् के प्रति श्रद्धा एवं विश्वास का भाव दृढ करनेवाले तो ये भावुक, भक्तिवादी, द्वैत-सम्प्रदाय के आचार्य ही हुए। अद्वैत को लेकर जीवन के सभी कर्म और व्यवहार में ब्रह्मात्मैक्य की अक्षुण्ण भावना बनाए रखना असभव नही तो कठिन अवश्य है। स्वामी शकराचार्य ने भी इस कठिनाई का अनुमान पहले ही कर लिया था और इसी हेतु गीता-भाष्य के आरभ मे श्रीकृष्ण को परमेश्वर, मया के अधीश्वर, नियता तथा साक्षात् नारायण माना है। उनके प्रसिद्ध अनुयायी 'अद्वैतसिद्धि' के रचयिता, अद्वैत में परम निष्णात और तत्त्वविद् ब्रह्मज्ञ श्रीस्वामी मधुसूदन सरस्वती ने तो 'कृष्णात्पर किमपि तत्वमह न जाने' ही कहा था। उनका प्रिय श्लोक आज भक्तो के गले का हार हो गया है:—

वशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दु सुन्दर मुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्पर किमपि तत्वमहं न जाने॥

जिन के कोमल हाथ मुरली से सुशोभित हो रहे है, दिव्य अंगो की आभा नूतन जलधर के समान साँवली है, तथा जिनके पीले वस्त्र, बिम्ब फलके समान लाल लाल ओठ, पूर्ण चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख और कमल जैसे खिले हुए बड़े बडे नेत्र है—उन श्रीकृष्ण से बढकर मै दूसरे किसी तत्त्व को नही जानता। इस प्रकार स्पष्ट है कि कट्टर से कट्टर मायावादियों ने भी भक्ति का आश्रय लिया है और श्रीकृष्ण को सच्चिदानन्द ब्रह्म का साक्षात् स्वरूप माना है।

मीरा का जन्म लगभग सं० १५५५ विक्रम माना जाता है। इस समय देश में भक्ति और ज्ञान की अनेक धाराएँ चल रही थी। इनकी गतिविधि को जान लेना आवश्यक होगा।

सब से पहली धारा निर्गुण सन्तो की है। मीरा के ठीक सौ वर्ष पूर्व कबीर का जन्म हुआ था। उनका पथ अभी भी बडे वेग से चल रहा था यद्यपि उसमें भी जप, माला, छापा, तिलक का प्रवेश हो चुका था। फिर भी मूर्तिपूजा, छूआछूत, तीर्थाटन, सस्कार, जाति-पाँति आदि का विरोध करनेवाली रमते फक्कड साधुओ की टोली देश में 'निर्गुन' के पद गा-गा कर तथा अपने मन से भी रचे हुए पदो को 'कहत कबीर सुनो भाई साधो' का भोग लगाकर प्रचार-कार्य मे व्यस्त थी। उनमे न कबीर की तरह आत्मानुभूति ही थी और न आत्म-विश्वास का प्रखर तेज ही। हाँ, 'निर्गुन'-चिन्तन का लग्गा लगा रहा।

इन्ही 'निर्गुनिये' फकीरो की भाँति गोरखपथी दल भी तत्र, रसायन और हठ-योग द्वारा 'योग' का प्रचार कर रहा था। 'त्रिकुटी महल' में 'प्रीतम की सेज' सजानेवाले इला, पिगला, और सुषुम्ना को साधकर ब्रह्मानद मे लय हो जाते थे। मेरुदण्ड जहाँ पायु और उपस्थ के बीच मे लगता है वही एक त्रिकोण चक्र मे स्थित स्वयभू लिंग है जो साढे तीन वलय मे लिपट कर सर्प की भाँति अवस्थित है। इसे ही 'कुडलिनी' कहते है। मेरुदण्ड की बाई ओर इडा और दाहिनी ओर पिगला है। इन दोनो के बीच मे सुषुम्ना है। उसी के भीतर 'ब्रह्मनाडी' है जो कुण्डलिनी के ऊपर चढने का असली मार्ग है। इसे ही जगाकर सुरग सुषुम्ना नाडी द्वारा ब्रह्म-रध्र तक पहुँचनेवाले इन तान्त्रिक हठयोगियो का भी दौर-दौरा राजस्थान मे विशेष रूप से था। उन दिनो, सच पूछा जाय तो राजस्थान मे निर्गुणियो और इन गोरखपथियों की अजीब खिचड़ी पक रही थी।

मीरा के जीवन काल में ही उत्तर की ओर पजाब मे गुरु नानकदेव (सं० १५२६-१५९६ वि०) ने अपने मत का प्रचार किया जिसमे निर्गुण निराकार की साधना के साथ-साथ नाम-प्रेम का अटूट सबध था।

जायसी का 'पद्मावत' वि० स० १५९७ मे लिखा गया था। 'पद्मावत' के पूर्व 'मृगावती', 'मधुमालती' आदि प्रेम-गाथा की पुस्तके लिखी जा चुकी थ। इससे स्पष्ट है कि सूफी फकीरो का प्रभाव उस समय देश मे कम न था। 'प्रेम की पीर' लेकर हिन्दू जीवन के भीतर अपनी प्रेमसाधना को जाग्रत करनेवाले 'इश्कहकीकी' के इन प्रेम-प्रवण भावुक कवियो ने देश में एक अपूर्व लहर चला दी थी। अवधी भाषा में, सीधे-सादे दोहे चौपाइयो में

अपूर्व सहृदयता से अपने 'हिय की पीर' को व्यक्त करनेवाले इन प्रेममार्गी सूफी कवियो के गीत का देश ने बड़े उत्साह, चाह और उल्लास के साथ स्वागत किया ।

महाप्रभु श्री चैतन्यदेव (स० १५४२-१५६०) श्री वल्लभाचार्य के समकालीन थे । इधर ब्रजमण्डल, गुजरात-काठियावाड मे वल्लभाचार्य कृष्णभक्ति मे लीला-विहार का प्रचार कर रहे थे उधर बंगाल मे महाप्रभु श्री चैतन्यदेव नाम-प्रचार मे लीन थे । श्री चैतन्य देव ने भाव-प्रवाह मे रम कर कीर्त्तन की प्रथा चलाई और 'महाभाव' का मूर्त्तिमान् आविर्भाव हुआ । प्रेम, आनद तथा सौन्दर्य ही भगवान् की प्रधान विभूति मानी गई जिसका गौराग महाप्रभु ने अपने प्रेम-परायण भावमग्न हृदय मे पूर्णतः अनुभव कर व्यक्तिगत साधना का वह स्रोत बहाया जिसमे लोक-हृदय को रम जाने का पूर्ण अवकाश एव क्षेत्र मिला । पथभ्रान्त मानवता को नाम और लीला का आधार मिला ।

रूप एव लीला मे विहार करनेवाले नवद्वीप के इस परम भावुक प्रेमी भक्त ने आनंद का जो स्रोत बहाया वह जयदेव के 'धीर समीरे यमुना तीरे वसति वने वनमाली' मे पूर्णत. व्याप्त था । शृगार की, मिलन-माधुरी की जो पराकाष्ठा 'गीत-गोविंद' में मिलती है वह अन्यत्र दुर्लभ है । इसी प्रकार मैथिल-कोकिल विद्यापति के 'जनम अवधि हम रूप निहारल नैन न तिरपित भेल' में भी प्रेम की अनन्त अतृप्त आकाक्षा की बड़े ही भावपूर्ण, मधुर छन्दो में उद्‌भावना हुई है । जयदेव तथा विद्यापति सभोग शृगार के अपूर्व कवि है । नवद्वीप की यही पुनीत प्रेमधारा जो गीतो में बह रही थी मिथिला की अमराइयो मे विरमती हुई ब्रजभूमि में अपने प्राणवल्लभ की चरणरज को लेकर नवीन चेतना एव प्राण से अनुप्राणित होती हुई राजस्थान की प्रेम की उस पगली पुजारिन के आँगन में उतरी ।

रागानुगा भक्ति और गोपीभाव

इष्टे स्वारसिको रागः परमाविष्टता भवेत् ।
तन्मयी या भवेद्भक्तिः सात्र रागात्मिकोच्यते ।।

—भक्तिरसामृतसिंधु

इष्ट विषय में गाढ तृष्णा—यह है रागानुगा भक्ति का स्वरूप लक्षण और इष्ट मे आविष्टता—यह है तटस्थ लक्षण । श्री जीव गोस्वामी अपने 'भक्ति-सदर्भ' मे इसकी यो व्याख्या करते है—

तत्र विषयिणः स्वाभाविको विषयसंसर्गेच्छामयः प्रेमराग. यथा चक्षुरादीना सौन्दर्यादौ तादृशा एवात्र भक्तस्य श्री भगवत्यपि राग इत्युच्यते ।

अर्थात् जैसे विषयी पुरुषो को स्वभावत. ही विषय-ससर्ग की इच्छा होती है—जैसे आँखो से सौन्दर्य के प्रति आकर्षण, कानो से मधुर राग के प्रति खिचाव, उसी प्रकार भक्त को जब श्री भगवान् में आकर्षण या तृष्णा उत्पन्न हो जाती है तो उसे 'रागानुगा' कहते है ।

श्री कृष्णदास कविराज ने 'श्री चैतन्य चरितामृत' मे इसी विषय की व्याख्या की है जो श्री जीव गोस्वामी कृत 'भक्ति रसामृतसिधु' की व्याख्यासे बहुत मिलती जुलती है—

इष्टे गाढ़ तृष्णा रागस्वरूप लक्षण ।
इष्टे आविष्टता तटस्थ लक्षण कथन ।
रागमयी भक्तिर हय रागात्मिका नाम ।
ताहा सुनि लुब्ध हय कोन भाग्यवान ।।

ब्रज के भक्तो की प्रेमसेवा की चर्चा सुनकर किसी भाग्यवान् के चित्त में जो लोभ होता है वह लोभ ही इस रागानुगा का मूल कारण है । श्री जीव गोस्वामी कहते है—

अस्य पूर्वोक्त रागविशेषे रुचिरेव जातास्ति न तु राग विशेष एव स्वयं तस्य तादृश रागसुधाकरकराभास समुल्लसित हृदयस्फटिकमणेः शास्त्रादि-श्रुतासु तादृश्या रागात्मिकाया भक्ते परिपाटीष्वपि रुचिर्जायते ।

इसी रागानुगा भक्ति को पुष्टि मार्ग मे 'अविहिता भक्ति' कहते हैं—

माहात्म्यज्ञानयुतेश्वरत्वेन प्रभौ भक्तिर्विहिता, अन्यतः प्राप्तत्वात् कामाद्युपाधिजात्वविहिता —अणुभाष्य ।

श्री जीव गोस्वामी अविहिता का निर्णय यों करते हैं—

'अविहिता रुचिमात्रप्रवृत्या विधिप्रयुक्तत्वेनाप्रवृत्तत्वात्'

रुचिमात्र प्रवृत्ति के कारण ही इस प्रकार की भक्ति को 'अविहिता' कहते हैं । श्री गोविन्दभाष्य में श्री वलदेव विद्याभूषण इसी को 'रुचि भक्ति' कहते हैं—

रुचिभक्तिर्माधुर्यज्ञानप्रवृत्ता, विधिभक्तिरैश्वर्यज्ञानप्रवृत्ता । रुचिरत्रराग: । तदनुगता भक्ति रुचिभक्ति रुचिरभक्ति । अथवा रुचिपूर्ण भक्तिः । इयमेव 'रागानुगा' इति गदिता । श्री निम्बार्क सम्प्रदाय मे श्री हरिव्यासजी ने अपनी 'सिद्धान्त रत्नाञ्जलि' टीका मे अविहिता भक्ति का उल्लेख किया है । 'महावाणी' मे उन्होने सखी भाव से नित्य वृन्दावन मे श्री राधा गोविन्द की युगल सेवा-प्राप्ति की साधना बतलायी है । महावाणी मे दास, सखा या पिता माता का उल्लेख नही है । गौडीय वैष्णवो की रागानुगा भक्ति के साथ श्री हरि व्यासजी की साधना का भेद सुस्पष्ट है । महाप्रभु के सप्रदाय में किसी भी भाव का तिरस्कार नही है—'कुत्रापि तद्रहिता न कल्पनीया' । श्री हरि व्यासजी में श्री कृष्ण की देवलीला-परायणता है परन्तु गौडीय वैष्णव केवल नरलीला मे माधुर्योपासक है ।

रागानुगा भक्ति में स्मरण की ही प्रधानता है । श्री सनातन गोस्वामी ने 'वृहद्भागवतामृत' मे इसका विस्तार से वर्णन किया है । इस साधन में मानसिक सेवा और सकल्प ही मुख्य है । रघुनाथदास गोस्वामी के 'विलाप कुसुमांजलि' और श्री जीव गोस्वामी के 'सकल्प कल्पद्रुम' मे रागानुगा भक्ति के अनुकूल सकल्प और मानसी सेवा के क्रम का बहुत सुदर वर्णन मिलता है—

सेवा साधकरूपेण सिद्धिरूपेण चात्रहि ।
तद्भावलिप्सुना कार्या ब्रजलोकानुसारतः ।।

यथावस्थित देह ही साधक देह है और अदर मे अपने इष्ट श्री राधा गोविन्द की साक्षात् सेवा करने के लिये जो उपयोगी देह है वह सिद्ध देह है ।

सिद्ध देह से ही ब्रजभाव प्राप्त होता है। सिद्ध देह की भावना के सबध में 'सनत्कुमारतंत्र' में कहा गया है—

आत्मान चिन्तयेत्तत्र तासां मध्यं मनोहराम् ।
रूपयौवनसंपन्नां किशोरीं प्रमदाकृतिम् ।।

अर्थात् गोपीभाव या ब्रजभाव में अपने को रूपयौवन सम्पन्न परम मनोहर किशोरी के रूप में सिद्ध देह से भावना करनी चाहिये। रागानुगा साधन में जो 'अजात रति' साधक है—अर्थात जिसे रति की प्राप्ति नही हुई है उनको अपने लिये गुरुदेव के उपदेशानुसार सखी की सगिनी के भाव से मनोहर वेशभूषण से युक्त किशोरी रमणी के रूप में भावना करनी चाहिये। सखी की आज्ञा के अनुसार सदा सेवा के लिये उत्सुक रहते हुए श्री राधाजी के निर्माल्य स्वरूप अलकारो से विभूषित साधनो के सिद्ध रूप इस मजरी देह की भावना निरन्तर करनी चाहिये। मजरी स्वरूप मे तनिक भी सभोग की वासना नही है। इसमे केवल सेवा-वासना है। जो 'जात रति' है—अर्थात् जिनको रति पाप्त हो गयी है उनमे इस सिद्ध स्वरूप की स्फूर्ति अपने आप हो जाती है। प्राचीन अलवार भक्त शठारिमुनि के साधक देह में ही सिद्ध देह का भाव उतर आया था। उन्होने अनुभव किया कि श्रीभगवान् ही पुरुषोत्तम है और अखिल जगत स्त्री स्वभाव है। अन्त में शठारि मे कामिनी भाव का आविर्भाव हो गया था—

पुस्त्व नियम्य पुरुषोत्तमताविशिष्टे
स्त्रीप्राय भावकथनोज्जगतोऽखिलस्य ।
पुसां च रञ्जकवपुर्गुणवत्तयापि
शौरेः शठारि यमिनोऽजनि कामिनीत्वम् ।

—वैष्णव धर्म

गौडीय वैष्णव साधकगण 'गोविन्दलीलामृत' और 'कृष्ण भावनामृत' आदि ग्रथो के क्रमानुसार गुरु गौराङ्गदेव के अनुगत भावो से श्री राधागोविन्द की अष्टकालीन लीला का स्मरण करते है। इस लीला के ध्यान मे ही मानसोपचार से इच्छित सेवा होती रहती है। श्री वल्लभाचार्य के पुष्टि मार्ग में भी अष्टयाम की लीलाओ का स्मरण तथा पदकीर्त्तन मुख्य साधना है। प्रात काल की मगला आरती से लेकर रात के विश्राम काल तक भिन्न-भिन्न समयो की भिन्न-भिन्न लीलाओ के लिये भिन्न भिन्न राग रागिनियो मे अनेकानेक पद गाये जाते है जिस मे सहज ही भगवान् की विविध

लीलाओ का स्मरण चिन्तन एव ध्यान होता है और भक्त शरीर से चाहे जहाँ हो भाव-देह से निरन्तर भगवान् की सन्निधि मे रहते हुए उनके अग-सग का अमृतोपम सुख लूटता है । वल्लभकुल के मन्दिरो मे पदगायन लीला-विहार का परम दिव्य साधन है ।

बगाल के साधक श्री निवास आचार्य किसी समय मजरी देह से श्री राधाकृष्ण का ध्यान कर रहे थे । उन्होने देखा श्री गोपीजनो के साथ श्री कृष्ण जमुना जी मे जल-क्रीडा कर रहे है । श्री राधा के कान का एक कुण्डल जल में गिर गया । सखियाँ खोजने लगी । अन्तर्देह से इस कुण्डल की खोज मे श्री निवास का एक सप्ताह का पूरा समय हो गया । साधक देह निस्पन्द आसन पर विराजमान था । रामचन्द्र कविराज आये तो वे भी सिद्ध देह से श्री निवास की अनुगता दासी के रूप में उनके साथ हो लिये और चतुर रामचन्द्र को एक कमल पत्र के नीचे राधाजी का कुडल दिखलायी पडा । उसी क्षण उन्होने श्री निवासजी के हाथ मे दे दिया । सखी मजरियो मे आनन्द की तरगे उछलने लगी । श्री राधारानी ने प्रसन्न होकर अपना चबाया हुआ पान इन्हे पुरस्कार रूप मे दिया । रामचद्र और श्री निवास दोनो ही सोकर उठनवालो की तरह साधक देह में लौट आये । देखा गया कि सचमुच श्री राधाजी का दिया हुआ पान-पुरस्कार उनके मुख मे था ।

स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर की तरह एक भाव शरीर या सिद्ध देह भी होता है और साधक इसी भावदेह से भगवान् की लीलाओं का रसास्वादन करता है । मीरा तो नित्य इसी भावदेह मे ही विचरती थी । उसे कुछ बनना तो था नही । वह तो महाप्रभु चैतन्यदेव की तरह जगत् को प्रेम का पाठ पढाने के लिए इस धराधाम पर आई थी और अपने जीवन की प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक श्वास-प्रश्वास के द्वारा भाव-भक्ति का आचारणात्मक उपदेश देकर वह अपने प्राणधन प्रभु के श्री-विग्रह मे सशरीर समा गई ।

तेरो कोई नहिं राखणहार, मगन होई मीरा चली ।
लाज सरम कुल की मरजादा सिर से दूरि करी ।
मान अपमान दोउ धर पटके, निकसी हूँ ज्ञान गली ।
ऊँची अटरिया लाल किबड़िया, निरगुण सेज बिछी ।
पचरंगी झालर सुभ सोहे सिन्दुर मांग भरी ।

सुमिरन थाल हाथ में लीन्हा सोभा अधिक खरी।
सेज सुखमणा मीरा सोहै सुभ है आज घरी।

मीरा के पदो में भक्ति का पूर्ण विकसित रूप मिलता है, उसके प्रत्येक स्तर के दर्शन होते हैं। यह नही कहा जा सकता कि मीरा ने इस रागानुगा भक्ति की दीक्षा पुष्टि-साधना से प्राप्त की या गौड़ीय-साधना से। जन्म से उसे वल्लभकुल का सस्कार प्राप्त था पर आगे चलकर प्रेम की परवशता मे वह वृन्दावन भी आयी थी और यहाँ जीव गोस्वामी से उसका मिलना हुआ था। अत: यह स्पष्ट है कि उसे वल्लभीय तथा गौडीय दोनो ही साधनाओ का मधु प्राप्त था और उसने सप्रदायो की सीमाओ का अतिक्रमण कर परम प्रेममयी 'रसीली भक्ति' का अमृत पीया।

भगवान् के 'अनुग्रह' को ही 'पुष्टि' कहते है—'पोषण तदनुग्रह'। उस अनुग्रह से जो भक्ति या भगवत्प्रेम होता है उसे पुष्टि भक्ति कहते हैं। यह भक्ति स्वरूप से रागमयी है। शाडिल्य ने इसकी परिभाषा—'सा परानुरक्तिरीश्वरे' की है। नारद इसी को 'सात्वस्मिन्परमप्रेमरूपा' कहते हैं तथा 'पाचरात्र' मे उसकी परिभाषा इस प्रकार है—

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तस्या मुक्तिर्न चान्यथा॥

यह स्नेहमयी रागात्मिका भक्ति भगवान् के अनुग्रह से प्राप्त होती है। भगवान् का अनुग्रह साधन साध्य नही, वह साधन से प्राप्त होनेवाली वस्तु नही है, वह किसी साधन के परतत्र नही है। भगवान् भक्त के अधीन हैं, भक्त के भक्त हैं। अत यहाँ असाधना ही साधन है।

जैसे स्वर्ग, विसर्ग आदि श्री पुरुषोत्तम की लीलाएँ है यह भक्ति-अनुग्रह या पुष्टि भी भगवान् की लीला ही है। वह 'लीला' क्या है, 'सुबोधिनी' भा० ३, स्कध १ मे वर्णित है—'लीला नाम विलासेच्छा। कार्यव्यतिरेकेण कृतिमात्रम्। न तया कृत्या वहि कार्यं जन्यते। जनितमपि कार्यं नाभिप्रेतम्। नापि कर्तरि प्रयास जनयति। किन्त्वन्त करणे पूर्णे आनन्दे तदुल्लासेन कार्य-जनन सदृशी क्रिया क्वाचिदुत्पद्यते।'

भगवान् स्वत परिपूर्ण है, तृप्त है अतएव बिना प्रयोजन के ही—'लीला एव प्रयोजनत्वात्' लीला करते रहते हैं। भगवान स्वत तृप्त होते हुए भी चिर अतृप्त हैं। निष्काम होते हुए भी विलासेच्छु है। अद्वितीय होते हुए भी भक्त के प्रेम-पराधीन है।

गुरु भक्त के हृदय में भगवान् की प्रीति का दान देकर उसका भगवान से संबध करा देता है जिसे पुष्टिमार्ग में 'ब्रह्म-सबध' कहते है और इसी ब्रह्म-सबध के बाद शिष्य के हृदय में मिलन की लालसा होती है जिसे 'ताप' कहते है। यह ताप ही पुष्टिमार्ग की साधना का प्राण है। मीरा के पदो में यह ताप व्याप्त है।

भवनपति तुम घर आज्यो हो।
बिथा लगी तनमाँहिने (म्हारी) तपन बुझाज्यो हो ।।
रोवत रोवत डोलताँ सब रैण बिहावै हो।
भूख गयी निदरा गयी, पापी जीव न जावै हो ।।
दुखिया को सुखिया करो मोहि दरसण दीजै हो।
मीरा व्याकुल विरहिणी अब विलम न कीजै हो ।।

तथा

दरस बिन दूखण लागै नैन।
जब से तुम बिछुरे प्रभु मोरे कबहुँ न पायो चैन ।।
सबद सुणत मोरी छतिया काँपै मीठे-मीठे बैन।
बिरह व्यथा कासे कहुँ सजनी बह गयी करवत ऐन ।।
कल न परत पल हरि मग जोवत भई छमासी रैन।
मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे दुख मेटण सुख दैण ।।

यह 'ताप' या दुख की ज्वाला ही प्रेम-साधना का प्राण है क्योकि इसी के सहारे सब के मूल आश्रय तत्व स्वय भगवान् श्रीकृष्ण के लिए जो अनुकूलता युक्त अनुशीलन होता है उसी का नाम भक्ति है। इस रागानुगा भक्ति मे दो उपाधियाँ है—(१) अन्याभिलाषिता (२) कर्मज्ञानयोगादि का मिश्रण। अन्याभिलाषा में भोगकामना और मोक्षकामना दोनो ही सम्मिलित है। सच्चा भक्त भुक्ति और मुक्ति दोनो को हेय समझकर छोड देता है। कर्मज्ञानयोगादि भी उपाधि है परन्तु ज्ञान द्वारा यदि भगवान् के स्वरूप और भजन का रहस्य जाना जाय, योग से चित्त भगवान् के गुण, लीला आदि मे लगे, कर्म द्वारा भगवान की सेवा बने तो ये ज्ञान, योग, कर्म बाधक न होकर भक्ति के साधक बन जाते है।

सकाम भक्ति मे भोग कामना होती है। यह कामना तीन प्रकार की होती है—सात्विक, राजसिक और तामसिक। मोक्ष-कामना सात्विक सकाम भक्ति है, विषयोपभोग, यश, कीर्ति आदि की कामना से की गई भक्ति

राजसिक सकाम भक्ति है; और हिंसा, दंभ, मत्सर आदि से की हुई तामसिक सकाम भक्ति है।

उत्तमा भक्ति—अथवा निष्काम भक्ति के तीन भेद—साधन भक्ति, भावभक्ति, प्रेमभक्ति। उत्तमा भक्ति के दो गुण होते हैं—(१) क्लेशघ्नी, (२) शुभदायिनी। क्लेश तीन प्रकार के—पाप, वासना, प्रारब्ध। पाप का बीज है वासना, वासना का कारण है अविद्या। इन सब क्लेशों का मूल कारण है भगवद्विमुखता। भक्तों की संगति से भगवान् की सम्मुखता प्राप्त होती है फिर क्लेशों के सारे कारण अपने आप नष्ट हो जाते हैं। इसी से साधन भक्ति में 'सर्व दुःख-नाशकत्व' गुण आ जाता है।

'शुभ' शब्द का अर्थ है साधक के द्वारा समस्त जगत् के प्रति प्रीति-विधान और सारे जगत् का साधक के प्रति अनुराग, समस्त सद्गुणों का विकास। सुख के तीन भेद—विषय-सुख, ब्राह्मसुख, पारमेश्वर सुख। ये सभी सुख साधन भक्ति से प्राप्त होते हैं।

भावभक्ति में दो गुण—'मोक्ष लघुताकृत' और 'सुदुर्लभा'। इसमें साधन भक्ति के दो गुण क्लेशघ्नी और शुभदायिनी अपने आप आ जाते हैं। प्रेमा-भक्ति में 'सान्द्रानन्दविशेषात्मा' एवं 'श्रीकृष्णाकर्षिणी' ये दो गुण होते हैं—

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा॥

—भक्तिरसामृतसिंधु

'मोक्षलघुताकृत्'—यह भक्ति धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष (सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सार्ष्टि और सायुज्य—इन पाँच प्रकार की मुक्ति)—इन सब में तुच्छ बुद्धि पैदा करके सब से चित्त हटा देती है।

सुदुर्लभा—साम्राज्य, सिद्धि, स्वर्ग, ज्ञान आदि तो भगवान् सहज दे देते हैं पर अपनी भावभक्ति नहीं देते।

सान्द्रानन्दविशेषात्मा—करोड़ों ब्रह्मानंद इस प्रेमामृतरूपी भक्ति सुख-सागर के एक कण की भी तुलना में नहीं आ सकते। यह अपार और अचिन्त्य प्रेम-सुख सागर में निमग्न कर देती है।

श्रीकृष्णाकर्षिणी—यह प्रेमभक्ति श्रीकृष्ण को भक्त के वश में कर देती है।

साधन भक्ति के दो भेद—वैधी और रागानुगा। शास्त्राज्ञा से भजन में प्रवृत्ति को वैधी कहते हैं। भगवान में प्रेममयी तृष्णा का नाम है राग।

ऐसी रागमयी भक्ति का नाम है रागात्मिका। रागात्मिका के दो भेद—(१) कामरूपा, (२) सबधरूपा। जिसमे सब चेष्टा श्रीकृष्ण सुख के लिए, अर्थात् जिसमें काम ही प्रेमरूप मे परिणत हो गया है उसी को कामरूपा रागात्मिका भक्ति कहते है। यह भक्ति श्री गोपीजनो में ही है।

'प्रेमैव गोपरामाणा काममित्यगमत् प्रथाम्'। श्रीकृष्ण के साथ सम्बन्ध अनुभव करते हुए प्रेम का नाम सम्बन्धरूपा रागात्मिका भक्ति है।

रागानुगा भक्ति मे स्मरण का ही अग प्रधान है। इसके भी दो भेद—कामानुगा और सम्बन्धानुगा। कामानुगा के दो भेद—भोगेच्छामयी और तत्तद्भावेच्छामयी। केलि सम्बन्धी अभिलाषा से युक्त भक्ति का नाम सभोगेच्छामयी और यूथेश्वरी ब्रजदेवी के भाव और माधुर्य प्राप्ति विषयक वासनामयी भक्ति का नाम तत्तद्भावेच्छात्मा है।

भावभक्ति—भगवत-प्राप्ति की अभिलाषा, उनकी अनुकूलता की अभिलाषा और उनके सौहार्द की अभिलाषा के द्वारा चित्त को स्निग्ध करनेवाली जो एक मनोवृत्ति होती है उसी का नाम 'भाव' है। भाव का ही दूसरा नाम रति है। रस की अवस्था मे इसीका वर्णन स्थायी भाव और सचारी भाव—दो प्रकार से किया जाता है। इसमे स्थायी भाव भी दो प्रकार का होता है–प्रेमाकुर या भाव और प्रेम। स्नेह, प्रणय, अनुराग आदि प्रेम के ही अतर्गत प्रीति के नौ अकुर बतलाये गए है—

(१) क्षान्ति—धन, पुत्र, मान आदि के नाश, असफलता, निन्दा, व्याधि आदि क्षोभ के कारण उपस्थित होने पर भी चित्त का जरा भी चचल न होना।

(२) अव्यर्थकालत्व—क्षणमात्र का भी समय सासारिक कार्यो मे वृथा न बिता कर मन, वाणी, शरीर से निरन्तर भगवत्सेवा सम्बन्धी कार्यो मे लगे रहना।

(३) विरक्ति—इस लोक और परलोक के समस्त भोगो से स्वाभाविक अरुचि।

(४) मानशून्यता—स्वय उत्तम आचरण, विचार और स्थिति से सपन्न होने पर भी मान, सम्मान सर्वथा त्याग करके अधम का भी सम्मान करना।

(५) आशाबन्ध—भगवान के और भगवत्प्रेम के प्राप्त होने की चित्त मे दृढ और बद्धमूल आशा।

(६) समुत्कठा—अपने अभीष्ट भगवान् की प्राप्ति के लिए अत्यन्त प्रबल और अनन्य लालसा।

(७) नामगान में सदा रुचि—भगवान् के मधुर और पवित्र नाम का गान करने की ऐसी स्वाभाविक कामना कि जिसके कारण नामगान कभी रुकता ही नही और एक-एक नाम में अपार आनन्द का बोध होता है।

(८) भगवान के गुणकथन में आसक्ति—दिन रात भगवान् के गुणगान, भगवान की प्रेममयी लीलाओ का कथन करते रहना, और ऐसा न होने पर बेचैन हो जाना।

(९) भगवान् के निवास-स्थान में प्रीति—भगवान् ने जहाँ-जहाँ मधुर लीलाएँ की है, जो भूमि भगवान् के चरणस्पर्श से पवित्र हो चुकी है, वृन्दावनादि—उन्ही स्थानो मे रहने की इच्छा।

भाव की परिपक्वावस्था का नाम 'प्रेम' है। चित्त में पपूर्ण रूप से निर्मल और अपने अभीष्ट श्री भगवान मे अतिशय ममता होने पर ही प्रेम का उदय होता है। किसी भी विघ्न के द्वारा जरा भी न घटना या बदलना प्रेम का चिह्न है। यह प्रेम दो प्रकार का होता है—महिमा ज्ञानयुक्त और केवल। विधि मार्ग से चलनेवाले भक्त का प्रेम महिमा ज्ञानयुक्त है और रागमार्ग से चलनेवाले भक्त का प्रेम केवल अर्थात् शुद्ध माधुर्यमय है। ममता की उत्तरोत्तर जितनी ही वृद्धि होती है प्रेम की अवस्था भो उत्तरोत्तर वैसे ही बदलती जाती है। प्रेम की एक ऊँची स्थिति का नाम है स्नेह। स्नेह का चिह्न है चित्त का द्रवित हो जाना। प्रेम जब चित्त को द्रवित कर इष्टमय हो जाता है तो वह स्नेह कहलाता है। उससे भी ऊँची अवस्था का नाम है राग। राग का चिह्न है गाढ स्नेह। उससे ऊँची अवस्था का नाम प्रणय। प्रणय का चिह्न है गाढ विश्वास या विश्रभ। भक्त और भगवान् का प्राण, मन, बुद्धि शरीर और शृगार में भेदाभेद—भेदमय अभेद या अभेदमय भेद होता है। इसके बाद की अवस्था का नाम है मान। प्रणय मे जहाँ प्रेमास्पद के प्रति अनन्यता आ जाने पर उसके समग्र मनचित्त को अपनी ओर आकृष्ट कर लेने की लालसा का उदय होता है और उसमे कभी कभी कोई अन्तराय देखकर मन में सात्विक ईर्ष्या या द्वेष हो आता है उसे प्रणय-मान कहते हे। इसके बाद की स्थिति का नाम है अनुराग। अपने इष्ट के प्रति राग जब गाढ हो जाता ह तो अपने प्रेमास्पद मे उस नित्य नवनवायमान सौंदर्य, लावण्य, सौकुमार्य और 'क्षौल्य' का अनुभव होने लगता है उसे ही अनुराग कहते हुं। इसके अनन्तर महाभाव की स्थिति आती है। जब अनुराग-मे भगवान और भक्त

दोनों उत्क्षिप्त हो जाते है और परस्पर मिलन की वासना अत्यन्त प्रगाढ हो जाती है तो अनुराग की सज्ञा महाभाव की हो जाती है। भगवान् भक्त से और भक्त भगवान से मिलने के लिए आतुर हो जाते है और मिलन की अत्यन्त प्रगाढावस्था मे भी भावी विरह की आशका सताती रहती है। कवि बलराम दास के एक पद में इसका बहुत भावपूर्ण वर्णन हुआ है जब श्रीकृष्ण राधारानी की गोद में सिर रखे हुए है तो भी वे विरह की आशका में व्याकुल है और रो रहे है। महाभाव की परम परिणत स्थिति है दिव्योन्माद। महाप्रभु की गंभीरा लीला जिसमे लगातार महाप्रभु ने जगन्नाथपुरी के एक कमरे मे व्याकुल रोते-तडपते श्रीकृष्ण के दिव्य प्रेमोन्माद में लगातार चौदह वर्ष बिता दिये। श्रीमद्भागवत का गोपी-गीत भी इसका उत्कृष्ट उदाहरण है।

श्रीकृष्ण-रति स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव सात्विक भाव, और व्यभिचारी भाव के साथ मिल कर आस्वादन युक्त पाँच प्रकार की होती है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। जिसमे जिसके द्वारा रति का आस्वादन किया जाता है उसको विभाव कहते है। इनमें, जिसमें रति विभावित होती है उसका नाम है आलबन विभाव, जिसके द्वारा रति विभावित होती है उसका नाम है उद्दीपन विभाव। आलबन विभाव भी दो प्रकार का होता है—विषयालबन, आश्रयालबन। इस श्रीकृष्ण-रति के विषयालंबन है श्रीकृष्ण और आश्रयालबन है उनके भक्तगण। जिनके द्वारा रति का उद्दीपन होता है वे श्रीकृष्ण का स्मरण करानेवाली वस्त्रालकारादि वस्तुएँ है उद्दीपन विभाव।

नाचना, भूमि पर लोटना, गाना, जोर से पुकारना, अग मोड़ना, हुकार करना, जँभाई लेना, लबे श्वास छोडना आदि अनुभाव के लक्षण है। अनुभाव भी दोकार के होते है—शीत और क्षेपण। गाना, जँभाई लेना लेना आदि को शीत और नृत्यादि को क्षेपण कहते है।

सात्विक भाव आठ है—स्तभ, स्वेद, रोमाच, स्वरभग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय (मूर्च्छा)। ये सात्विक भाव स्निग्ध, दिग्ध और रुक्ष भेद से तीन प्रकार के होते है। इनमें स्निग्ध सात्विक के दो भेद होते है—मुख्य और गौण। साक्षात् श्री कृष्ण के सम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाला स्निग्ध सात्विक भाव मुख्य है और परम्परा से अर्थात् किंचित व्यवधान से श्रीकृष्ण के सबंध में उत्पन्न होनेवाला स्निग्ध सात्विक भाव गौण है। स्निग्ध सात्विकभाव नित्य सिद्ध भक्त में ही होता है।

जातरति—अर्थात जिनमें प्रेम उत्पन्न हो गया है उन भक्तों के सात्विक भाव को दिग्ध भाव कहते है और आजात रति—अर्थात जिनमें प्रेम नही उदय हुआ है ऐसे मनुष्य मे कही आनन्द विस्मयादि के द्वारा उत्पन्न होने वाले भाव को रुक्ष भाव कहते है ।

ये सब भाव भी पाँच प्रकार के होते हैं—धूमायित,ज्वलित, दीप्त, उद्दीप्त, सूद्दीप्त । बहुत ही प्रकट परन्तु गुप्त रखने योग्य एक या दो सात्विक भावो का नाम 'धूमायित' है । एक ही साथ दो तीन भावो का नाम 'ज्वलित' है । ज्वलित भाव को भी बडे कष्ट से गुप्त रखा जा सकता है । बढे हुए और एक ही साथ उत्पन्न होनेवाले तीन, चार या पाँच सात्विक भावों को 'दीप्त' कहते है । यह दीप्त भाव छिपा कर नही रखा जा सकता । अत्यन्त उत्कर्ष को प्राप्त एक ही साथ उदय होनेवाले छ, सात या आठ भावो का नाम 'उद्दीप्त' है । यह उद्दीप्त भाव ही महाभाव मे सूद्दीप्त हो जाता है ।

इसके अतिरिक्त रत्याभास जनित सात्विक भाव भी होते है । उनके चार प्रकार है । मुमुक्षु पुरुष मे उत्पन्न सात्विक भाव का नाम 'रत्याभासज' है । कर्मियो और विषयी जनो मे उत्पन्न सात्विक भाव का नाम 'सत्वाभासज है' । अभ्यासियो के फिसले हुए चित्त में उत्पन्न सात्विक भाव को 'नि सत्व' कहते है । भगवान से विद्वेष रखनेवाले मनुष्यो मे उत्पन्न सात्विक भाव को 'प्रतीप' कहते है ।

व्यभिचारी भाव ३३ है—निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व, शका, त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्मार, व्याधि, मोह, मरण, आलस्य, जाड्य, लज्जा, अनुभाव-गोपन, स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति धृति, हर्ष, उत्सुकता, उग्रता, अमर्ष, असूया, चपलता, निद्रा, सुप्त और बोध । इन तैंतीस व्यभिचारी भावो को 'सचारी' भी कहते हैं क्योकि इन्ही के द्वारा अन्य सारे भावो की गति का सचालन होता है । स्थायीभाव—सामान्य, स्वच्छ, शान्तादि भेद से तीन प्रकार का होता है । किसी रसनिष्ठ भक्त का सग हुए बिना ही सामान्य भजन की परिपक्वता के कारण जिनमें एक प्रकार की सामान्य रति उत्पन्न हो गई है उसे सामान्य स्थायीभाव कहते है । शान्तादि भावो के सग से, सग के समय, जिनके स्वच्छ चित्त मे सग के अनुसार ही रति उत्पन्न होती है उस रति को स्वच्छ स्थायीभाव कहते है और पृथक् पृथक् रसनिष्ठ भक्तो की शान्तादि पृथक्-पृथक् रति का नाम ही शान्त स्थायीभाव है । भाव पाँच प्रकार के होते है -शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, और मधुर । इनमे किसी भी भाव से भगवान के साथ सबन्ध हो जाना चाहिये ।

प्रेम की चिनगारी

श्री नाभादासजी ने 'भक्त-माल' मे मीरा का परिचय यो लिखा है—

सदरिस गोपिन प्रेम प्रगट, कलियुगहिं दिखायो ।
निर अकुस अति निडर, रसिक जस रसना गायो ।।
दुष्टनि दोष विचारि, मृत्यु को उद्यम कीयो !
बार न बाको भयो, गरल अमृत ज्यो पीयो ।।
भक्ति निसान बजाय के, काहू ते नांही लजी ।
लोक लाज, कुल-शृंखला तजि मीरा गिरिधर भजी ।।

इसके कुछ ही काल अनन्तर मीरा के सबध में श्री ध्रुवदास जी ने अपनी 'भक्त-नामावली' मे लिखा है—

लाज छांडि गिरिधर भजी, करी न कछु कुल कानि
सोई मीरा जगविदित प्रगट भक्ति की खानि ।।
ललिता हू लइ बोलिकै तासो अति हेत
आनन्द सो निरखत फिरै वृन्दावन रस-खेत ।।
नृत्यत नूपुर बाँधि कै, नाचत लै करतार ।
विमल हियौ भक्तनि मिली, तृन सम गन्यो ससार ।।
बधुनि विष ताको दियौ, करि विचार चित आन ।।
सो विष फिरि अमृत भयौ तब लागे पछितान ।।

श्री प्रियादासजी ने पूरे दस पदो मे मीरा के जीवन की प्राय प्रत्येक उल्लेखनीय मार्मिक घटना का बडे ही सजीले शब्दो में विवरण दिया है ।

मीरा के हृदय में कृष्ण-प्रेम की चिनगारी बहुत बचपन से विद्यमान थी और यही चिनगारी आगे चलकर विराट् प्रेमज्वाला बन गई और इसने मीरा को आत्मसात् कर लिया । कुल-सस्कार एव परिस्थितियाँ तो निमित्त-मात्र थी । गुरु की महिमा सभी सतो और भक्तो ने गायी है । 'गुरु साक्षात्परब्रह्म' तक भी कहा गया है । इस निविड अधकार-पूर्ण जगत् में स्वय पथ ढूंढ लेना असभव ही है । इसमें तो अपना हाथ तक नही सूझता ।

इसी हेतु गुरु की सहायता भगवत्पथ में अत्यन्त आवश्यक एवं अनिवार्य है। यही कारण है कि नवधा भक्ति में 'श्रवण' प्रथम सोपान है, अध्ययन नही। 'वाक्य-ज्ञान' में निपुणता प्राप्त कर लेने से ही यदि भक्ति का पथ सुगम हो जाता तो केवल तर्क की ही पूजा होती रहती। कबीर तथा सहजो ने तो गोविद से भी बढ कर गुरु को माना है। घूघट का पट खोलकर गुरुदेव ही हमें 'राम' से मिला सकते है। हृदय पर पडे हुए मोह और अज्ञान के पर्दे को वे ही हटा सकते है। हृदय की आँखे गुरु की कृपा से ही खुल सकती है। मीरा रैदासजी की शिष्या थी। रैदासजी स्वामी रामानन्द के शिष्य, 'रामनाम' के उपासक कबीर के गुरु-भाई, निर्गुणपथी सत थे। कबीर रैदास और पीपा प्राय समकालीन थे और 'वाणी' द्वारा अपने उपदेश से जनता में शुद्ध ज्ञान का प्रचार कर रहे थे। रैदासजी कबीर की अपेक्षा अधिक, भाव प्रवण साधु थे। परमात्मा के साथ अपने मधुर प्रेम-भाव को उन्होने बडे ही सुन्दर, भाव-पूर्ण शब्दो मे व्यक्त किया है—

> प्रभु जी! तुम चदन हम पानी
> जाकी अंग-अग बास समानी।
> प्रभु जी! तुम दीपक हम बाती
> जाकी ज्योति बरे दिन राती॥

रैदास की सहृदयता, भावुकता एव परमात्मा के साथ हृदय के मधुर सबध की अनुभूति अन्य सतो से अधिक गहरी थी। कहा जाता है कि जूते बनाते समय रैदासजी चमडे पर टाँकियाँ देते जाते थे और कोने मे, पास ही रखी हुई ठाकुरजी की मूर्त्ति का स्मरण कर प्रेम-विह्वल, गद्गद् हृदय से भजन गाते जाते थे, आँखो से प्रेमाश्रु की धारा बहती जाती थी। यह तो सर्वविदित ही है कि कबीर, रैदास, आदि निर्गुणिये सत मूलत. सिद्धान्त-रूप मे मूर्ति-पूजा आदि न मानते हुए भी वैष्णव मत के थे और राम, गोपाल तथा हरि को सबोधित कर अपने हृदय की भूख-प्यास शान्त किया करते थे। कबीर ने तो कई स्थलो पर अपने को 'वैष्णो' कहा है तथा 'साकत' को 'कुतिया और सूअर' से भी बुरा माना है। कबीर की यह घृणा शाक्तो के प्रति न समझकर शाक्तो की हिंसा-वृत्ति के प्रति समझ जानी चाहिए। रैदास जी कबीर की भाँति अक्खड न थे। उनके जो थोडे से पद मिले है उनमें आत्मानुभूति-पूर्ण हृदय की कोमल भावनाओं की ही व्यञ्जना है। रैदास जी मूर्त्ति-पूजा के कट्टर विरोधी थे—ऐसा भी नही कहा जा सकता क्योकि विष्णु भगवान् की मूर्त्ति उनके घर मे थी जिसकी वे अहर्निश पूजा

किया करते थे। रैदासजी कृष्ण, गोपाल, हरि, राम आदि को ब्रह्म की व्यक्त सत्ता मानकर साधना की मधुर अनुभूति मे लीन होनेवाले आत्मदर्शी सत थे। उन्होने शाक्तो को गालियाँ नही दी हैं—ऐसा करने के लिए न उन्हे रुचि ही थी और न अवकाश ही था।

निर्गुणिये सतो के समान रैदास मे जगत् के प्रति तीव्र वैराग्य था, सदाचार के प्रति अटूट आस्था थी और नाम-स्मरण की अन्तर्मुखी साधना का चिरन्तन विलास था। वे सदा मधुर भाव मे मग्न रहनेवाले, लोकपक्ष से उदासीन, जगत् के प्रपचो से तटस्थ और आत्मानुभूति म डूबे रहनेवाले हृदय-प्रधान सत थे। कोरी कथनी में उनका रच मात्र भी विश्वास नही था—वे 'कथनी' की अपेक्षा 'करनी' पर अधिक जोर देते दे। प्रीतिपूर्वक अपने हृदय के भीतर भगवान् का स्मरण ही उनकी साधना का प्राण है। भगवान् की मधुर स्मृति जगाये रखना तथा उसी ने निमग्न रहना—यही थी उनकी साधना-प्रणाली। बाहरी आचार-विचार पर उतना ही ध्यान था जिससे समाज के नियमो का तिरस्कार न हो जाय परन्तु समाज के विविध नियमो और विधानो मे अपने को जकडे रखना भी उनके मत से अनुचित था। सत प्राय. सामाजिक प्राणी नही होते—उनका समाज, उनकी जाति अपनी एक अलग ही होती है।

रैदास का 'निर्गुण' कबीर का निर्गुण' नही है। रैदास का अद्वैत कबीर का अद्वैत नही है। रैदास हृदय की मधुर माँग को स्वीकार करनेवाले सत थे। प्रेम से ओत-प्रोत, ज्ञानोत्तर भक्ति के विकसित रूप मे हरि को ही सर्वत्र देखनेवाला, आत्मानुभूति के गहरे रग मे रगा हुआ, 'ईश्वर सर्वभूताना हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' को माननेवाला, सर्वभूतमयहरि तथा 'हरिरेव जगत् जगदेव हरिः' के रस में पगा रैदास का कोमल हृदय प्रतिपल अपने 'प्रभुजी' के लिए बेचैन था, तडप रहा था, तड़फडा रहा था।

मीरा इसी भावुक भक्त एव प्रेमी-संत की शिष्या थी। रैदास के चमार होने से मीरा के गुरु होने में कोई बाधा नही पडती। महाप्रभु श्री चैतन्यदेव ने कहा है—

> किवा न्यासी, किवा विप्र शूद्र केन नय।
> जे कृष्ण-तत्त्ववेत्ता सेई गुरू हय॥'

मीरा के दो-तीन पदो मे, 'मेरे गुरु रैदासजी' का उल्लेख है, साथ ही साथ एक 'जोगी' का भी वर्णन मिलता है जिसने मीरा के हृदय मे प्रेम की चिनगारी बोई है। यह योगी स्वप्न में आए हुए श्री गिरिधारी लालजी का

अवधूत रूप हो सकता है अथवा रैदासजी या अन्य सन्त योगी हो सकते हैं, जिससे मीरा को प्रेम साधना में सहायता प्राप्त हुई हो। इन पदों मे से कुछ की बानगी लीजिए—

तेरो मरम नहिं पायो रे जोगी।
आसण मारि गुफा में बैठो, ध्यान हरी को लगायो।
मीरा को प्रभु हरि अविनासी, भाग लिखो सोई पायो।।

तथा

जोगी मत जा, मत जा, मत जा, पाइँ परूँ चेरी तेरी हौं।
प्रेम भगति के पैड़ो ही न्यारो, हम कूं गैल बता जा।
अगर चंदणरी चिता बनाऊँ अपने हाथ जला जा।।

× × × ×

जाबा दे, जाबा दे, जोगी किसका मीत।
सदा उदासि रहै मोरि सजनी निपट अटपटी रीति!
मैं जाणूं या पार निभैगी छाँड़ि चलै अधबीच।।

× × × ×

योगियारो प्रीतडी है दुखड़ारी मूल।
हिलमिल बात बनावत मीठी पीछे जावत भूल।।

× × × ×

जोगिया कहाँ गया नेहड़ी लगाय।
छोड गया बिसबास संघाती प्रेम की बाती बराय।
मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे तुम बिन रह्यो न जाई।।

× × × ×

जोगिया जी निसदिन जोऊँ बाट। इत्यादि।

उपर्युक्त पदो में 'आसण माणि मारि गुफा में बैठो ध्यान हरी को लगायो' में स्पष्ट ही योगी गुरु का सकेत है, कृष्ण का नही। क्या यह उस साधु के सम्बन्ध में तो नही है जिसकी पूजा में मीरा को श्री गिरधारीलालजी की मोहिनी मूर्ति प्राप्त हुई थी? जो कुछ भी हो, इन पदो से ऐसा प्रतीत होता है कि किसी साधु ने मीरा को प्रेम-साधना का मत्र दिया और पता नही फिर वह कहाँ अन्तर्हित हो गया। उससे मीरा फिर न मिल सकी। वह मीरा से न मिल सका। प्रेमाराधना की वही चिनगारी जिसे उस योगी अवधूत ने लगाई थी काल और परिस्थिति की अनुकूलता से इतने बिराट् रूप में बढी कि मीरा को उसने आत्मसात् कर लिया—

न पा सकते जिसे पाबद रहकर कैदे हस्ती में।
सो हमने बेनिशा होकर तुझे ओ बे निशां पाया।।

लौ

If thy soul is to go to higher spiritual blessedness, it must become a woman, however manly thou mayest be among men.

—*Newman*

ज्यों तिरिया पीहर बसै, सुरति रहै पिय माँहि ।
ऐसे जन जग में रहै, हरि को भूलत नाहिं ।।

विवाहिता स्त्री मायके में रहते हुए जिस प्रकार मन, चित्त और प्राण से अपने पति का ही स्मरण करती रहती है उसी प्रकार इस ससार में रहते हुए भी हम अपने प्राणाराम जीवन-धन हरि का ही स्मरण करते रहें—यही सभी सन्तो और समस्त धर्मग्रथों के उपदेश का सारतत्त्व है । जीव की यही साधना है । मन को हरि में डालकर मस्त हो जाना ही आनन्द की चरम अवस्था है । जप, तप, पूजा, पाठ, तीर्थ, व्रत, सेवा, दान, सत्सग, सदाचार सभी प्रकार के सत्कर्मों का फल है श्री वासुदेव का अखड स्मरण । यह स्मरण ही भगवान के चरणो में सच्ची प्रणति है, यह स्मरण ही सर्वात्मसमर्पण की सच्ची अभिव्यक्ति है । घनीभूत अखड स्मरण की हँसती हुई ज्योति का नाम है 'लौ' । साधना का प्राण है स्मरण, और 'लौ' है स्मरण की आत्मा ।

'लौ' का साधारण अर्थ है दीपक का जलता हुआ प्रकाश । दीये में तेल भर दिया जाता है, बत्ती डाल दी जाती है और सलाई से उसे एक बार जला देते हे । फिर जब तक तेल दीये में है, बत्ती बनी हुई है और बाहर के आँधी-तूफान से वह सुरक्षित है तब तक वहाँ प्रकाश बना रहेगा, लौ जलती रहेगी । ध्यान इस बात का रखना होगा कि तेल समाप्त न होने पावे, बत्ती बुझने न पावे । और जहाँ अखड दीप की बात है वहाँ तो सतत

सावधान रहना ही पडेगा। एक क्षण की विस्मृति में दीपक के बुझ जाने और घोर अन्धकार के घिर आने की आशका है।

ठीक यही बात अतर की 'लौ' के सम्बन्ध में है। वहाँ भी सतत सावधान रहना पडता है। एक पल के लिए भी वृत्ति बहिर्मुख हुई नही कि सब कुछ मिटा। मन, प्राण, चित्त, बुद्धि, आत्मा सभी श्रीहरि के चरणों से झरते हुए मकरन्द का पान करते रहें। वही उस परम दिव्य स्पर्श की पावन अनुभूति में बेसुध बने रहें। बाहर आने का ध्यान भी न रहे, बाहर के किसी भी पदार्थ के अस्तित्व का भान भी न हो। कोई रूप आँखो को लुभा न सके। कोई शब्द कानों को मोह न सके। स्मृति सदा हरि के चरणो को छूती रहे। प्राण सदा प्रभु के पाद-पद्मो में प्रणिपात करते रहें। यही अखण्ड जागरण है।

हसा पाये मानसरोवर ताल तलैया क्यों डोले ?

वहाँ के आनन्द और शोभा का वर्णन कैसे किया जाय ? वहाँ की तो चर्चा भी नही हो सकती। बात चलते ही जी थहराने लगता है। जिसने एक बार भी उस रस का आस्वादन किया है उसके लिये फिर वहाँ से हटना कठिन ही नही अपितु असम्भव है।

बात कहूँ मोहि बात न आवै नैन रहे झर्राई।
किस बिध चरण कमल मैं गहिहौं, सबहि अग थर्राई ॥

सच्चे प्रेमी को प्रियतम का स्मरण करना नही पडता। जब तक स्मरण करना पडता है, जब तक स्मरण और विस्मरण का युद्ध जारी है; तब तक तो 'उस' से प्रेम क्या, परिचय भी नही हुआ ऐसा ही मानना चाहिये। पत्नी पति के नाम की माला नही जपती। वह एकान्त में आँखें मूँद कर, आसन मारकर प्राणायाम आदि करके पति के ध्यान में डूबने का स्वांग नही भरती। वह सब कामो से छुट्टी लेकर सतसग का सेवन, तीर्थों में घूमना, दान-पुण्य करना आदि में अपने जीवन को इसलिये नही लगाती कि इनके फलस्वरूप उसे अपने पति का स्मरण-ध्यान होगा। वैसा करना उसके लिए अस्वाभाविक होगा। ऐसा करके वह स्वय अपनी दृष्टि में तथा लोगो की दृष्टि में उपहासास्पद बनेगी। वह ऐसा करने ही क्यो जायगी ? अपने प्राणप्यारे प्रीतम के स्मरण के लिए भला योग, जप, तप, ध्यान और एकान्त की आवश्यकता ही क्या है ? वह स्मरण स्मरण नही जो करने से हो। वह ध्यान ध्यान नही जिसमें डूबने के लिए घोर परिश्रम और कठिन प्रयत्न करना पडे। वह प्रेम प्रेम नही जिसमें प्रेमास्पद की सहज स्मृति न हो। वह प्यार प्यार नही जो बिना बुलाये, अपने आप ही उमड-घुमड कर हमारे हृदय के आँगन में न बरसे।

मैं तो गिरधर के घर जाऊँ ।
गिरधर म्हारो सांचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊँ ।
रैण पड़े तब ही उठि जाऊँ, भोर गये उठि आऊँ ।
रैण दिना वाके संग डोलूँ ज्यूँ ज्यूँ वाहि रिझाऊँ ।
जो पहिरावै सोई पहिरूँ, जो दे सोई खाऊँ ।
मेरी उनकी प्रीति पुराणी, उण बिन पल न रहाऊँ ।
जित बैठावें तितही बैठूँ बेचै तो बिक जाऊँ ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर बार-बार बलि जाऊँ ।

× × ×

बिरह जगावै दरद कौ, दरद जगावै जीव ।
जीव जगावै सुरत को, पंच पुकारै पीव

रोम-रोम में प्रियतम की पुकार है । रोम-रोम उसकी प्यार भरी स्मृति में पगे हुए हैं । और कोई वस्तु है ही नहीं जो चित को एक क्षण के लिए भी अपनी ओर आकृष्ट कर सके । प्रति पल प्यारे की स्मृति एक अजीब अदा औ अदाज के साथ आ-आकर प्राणो को नहला जाती है, सराबोर कर जाती है । ध्यान जमाने के लिए त्राटक आदि मुद्राओ का सहारा नही लेना पडता और न आँखे ही बन्द करनी पडती हैं । उनके नूपुरो की ध्वनि सुनने के लिए कान मूँदने नही पडते और न पहाड की खोह में जाकर एकान्त-वास की ही आवश्यकता है; यहाँ तो—

आँख न मूँदौं कान न रूँधौं, तनिक कष्ट नहीं धारौं ।
खुले नैन पहिचानौं हँसि, हँसि सुन्दर रूप निहारौं ।।

खुली आँखों अपने प्राणेश्वर को देखूँ तभी तो देखना है । खुले कान उनकी बशी और नूपुर की ध्वनि सुन सकूँ तभी तो सुनना है । सारे रूप, विश्व के विविध रूप उस एक अपरूप रूप में पलट जाँय; जगत् का सारा कोलाहल, हाहाकार और चीत्कार मुरली की मधुर ध्वनि होकर हमारे कानो में समा जाय, जो कुछ सुनूँ, देखूँ, स्पर्श करूँ सभी मे प्राण-वल्लभ का 'मौन निमन्त्रण' स्पष्ट देख-सुन पडे तब तो समझना चाहिए कि उनके प्रेम का आस्वादन हमरे प्राणों ने किया है । नही तो, सब कुछ कोरा हठ-योग ही है । एक क्षण के लिए भी जिसे हरि का स्पर्श मिल गया वह उस रस को पूरे पिये बिना रह कैसे सकता है ? वहाँ तो पग-पग पर एक अद्भुत आकर्षण बलात् प्राणो को किसी 'अपने' की ओर खीचे लिये जा रहा है । और इस मार्ग मे चलते हुए एक विचित्र उल्लास सगी बना रहता है । वहाँ मिलन

एव विरह का अद्भुत सम्मिश्रण है। यह अखण्ड मिलन एव आमरण विरह की अवस्था है। यहाँ मिलन और विरह दोनों घुले-मिले हैं। इस स्थिति में काम क्रोध, लोभ, आदि का प्रवेश है ही नही। यहाँ माया की मोहिनी नही चलती। यहाँ तो सतत जागरण है। यहाँ की बेहोशी ससार की सारी बुद्धि से परे की है और इसीलिये ससार की किसी भी वस्तु का आकर्षण वहाँ है ही नही। वहाँ तो परम रस, 'रसो वै स.' को पाकर ससार के विविध रसो की ओर से सहज ही विरति हो जाती है। यह तो 'आत्मरति' की सहज स्थिति है। यही सहज समाधि है।

मैं तो म्हाँरा रमैया ने देखबो करूँरी।
तेरी ही उमरण तेरी ही सुमरण तेरी ही ध्यान धरूँ री।
जहाँ जहाँ पाँव धरूँ धरणी पर तहाँ तहाँ निरत करूँ री।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरणां लिपट परूँरी॥

माता पिता के प्यार मे पली हुई कन्या पति की परिणीता होकर, पाणिग्रहण, ग्रन्थि—बन्धन और सिन्दूर-दान के अनन्तर सदा के लिये, जन्म जन्मान्तर के लिये अपने पति की हो जाती है। आश्चर्य होता है कि जिस घर मे वह इतनी सयानी हुई वही घर उसके लिये पराया हो जाता है, और एक 'पुरुष' जिससे पहले वह सर्वथा अपरिचित थी उसी की वह एकान्तत हो जाती है। वह अपना कुल, गोत्र, नाम सब कुछ पति के कुल, गोत्र, और नाम में लय कर देती है। यह प्रायः हम सभी का देखा हुआ, अनुभव किया हुआ रहस्य है।

ठीक वही बात यहाँ भी है। जगत् के प्रपञ्चों में पला हुआ प्राणी, जगत् के विषयो में रचा-पचा पुरुष एक क्षण के इस विद्युत् स्पर्श में आकर अपना लोक-परलोक, पाप-पुण्य, सुख-दु ख—अपना सब कुछ हरि के चरणो में निवेदित कर सदा के लिये 'उसका' बिना मोल का चेरा हो जाता है। खेल-खिलवाड मे ही वह पहले इस ओर आने को ललकता है परन्तु एक बार जहाँ इधर पैर रक्खा कि फिर अपना सर्वस्व अर्पित कर देने की ही सनक सवार हो जाती है। यह विवशता भी कितनी मधुर, कितनी दिव्य है!

मै गिरधर-रँग राती।
पञ्चरँग चोला पाहर सखी मै झिरमिट खेलन जाती।
ओह झिरमिट माँ मिल्यो साँवरो खोल मिली तन गाती॥

'पिय-परिचय' की वह दिव्य बेला साधक के लिये परम महोत्सव की बेला है। 'परिचय' हो जाने पर समर्पण करना नही पडता। वह आप-ही-

आप हो जाता है। वहाँ चारो ओर से संयम नहीं करना पडता। पिय के प्राण में प्राण घुल-से जाते है अतएव वहाँ सहज एकाग्रता होती है। वहां सब धर्मों के बन्धन को छोडने नही जाना पडता, 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' सुनना नही पडता। सभी धर्म आप-ही-आप छ्ट जाते है, सभी धर्म अपना फल देकर, अपने को उसके प्रिय-मिलन में बाधक समझ कर चुपचाप छिप जाते हैं; और वहाँ साधक अपने प्रियतम का प्रेमास्पद बन कर उसके परम प्रेम में अहर्निश छका रहता है।

कोई कछू कहे, मन लागा।
ऐसी प्रीति लगी मनमोहन ज्यूँ सोना में सोहागा॥
जनम जनम का सोया मनुआँ सतगुरु सब्द सुन जागा।
मात पिता सुत कुटुम कबीला टूट गयो ज्यों धागा।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर भाग हमारा जागा।

जिसे मैं चाहता हूँ वह एक बार मेरी ओर निहारे—यह मानव-हृदय की मधुर दुर्बलता है। अपने प्रियतम का प्रेम प्राप्त करना प्रेम—साधना की एक छिपी हुई साध है। और वहाँ तो प्रियतम की ओर से प्रेम की अखण्ड वर्षा होती रहती है जिसमें प्रेमी के प्राण सदा नहाते हैं। यही बेखुदी की हालत है।

हमन है इश्क मस्ताना, हमन को होशियारी क्या?
रहे आजाद या जग से, हमन दुनिया से यारी क्या?
जो बिछुडे है पियारे से, भटकते दरबदर फिरते।
हमारा यार है हम में, हमन को इन्तजारी क्या?

हृदय देश में छिपा हुआ वह हमारा 'यार' अब तक सर्वथा-अपरिचित-सा था। अन्तर का पट हटा और 'वह' सामने आया। और सामने आने पर तो हम सभी वही गायेंगे जो मीरा ने गाया—

ऐसे पियै जान न दीजै हो।
चलो री सखी! मिलि राखिये नैननि रस पीजै हो॥

युग-युग से, जन्म-जन्मान्तर से जिस प्राणाराध्य की खोज में आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में, एक रूप से दूसरे रूप मे, एक नाम से दूसरे नाम में ढलती आयी है उस परम प्रियतम को पाकर अब क्यो छोडना? आओ, उसे सदा के लिये प्राणो म छिपा लें और आँखों की कोठरी में पुतली का पलग बिछा कर और बाहर से पलको की चिक डालकर उसके रस को पीते रहें। इसके आगे अब करना ही क्या रहा?

रूपराग

रति या सङ्गमात्पूर्वं दर्शन-श्रवणादिजा ।
तयोरुन्मीलति प्राप्त्यैः पूर्वराग स उच्यते ।।
—उज्ज्वल नीलमणि. (शृङ्गार-भेद प्रकरण)

कृष्ण के रूप में जो लावण्य है, जो मोहकता एव आकर्षण है वह अन्य अवतारों में नही मिलता । यही कारण है कि कृष्णभक्ति शाखा में श्रीकृष्ण के रूप का बहुत ही विशद् वर्णन मिलता है । राम मे माधुर्य है परतु कृष्ण में लावण्य है । राम के हाथ में धनुष-बाण उनकी कर्त्तव्य-शीलता तथा दुष्टदलनता का ही परिचायक है पर कृष्ण के हाथ में मुरली उनकी अगाध मोहकता, आनन्द विधायिनी प्रेमोर्ज्जस्विता की परिचायिका है ।

सूरदास ने —'सोभित कर नवनीत लिए ।

घुटुरन चलत रेनु तन मडित मुख दधिलेप किए, द्वारा बाल चापल्य एव सहज नटखटी का जो सश्लिष्ट रूप हमारे सामने रखा है वह गोस्वामीजी मे मिलना कठिन है । गोस्वामी जी का दास्य भाव सदा ईश्वर के ऐश्वर्य की ही भावना लिये हुए था । शिशु राम में भी ''स्वामित्व' की भावना ईश्वरत्व लिये हुए बनी हुई है । इस रूप-चित्रण में माधुर्य एव मोहकता का गहरा पुट होते हुए भी रूप के नाना विलास, शिशु राम के विविध क्रीडा-कौतुक का कोई सश्लिष्ट रूप हमारी आँखो के सम्मुख नही आता । हम गोद के 'राम' को पैरो में पैजनी और हाथो में पहुँची तथा 'पीत झँगा' मे ही देख कर तृप्त नही हो पाते । कौशल्या के आँगन में दौडते हुए 'अरबराय करि

पानि गहावत डगमगाय धरै पैयाँ' का रूप-विलास, क्रीडा-कौतुक देखने के लिए उत्सुक-लालायित रह जाते है ।

गोसाईं जी इस बालक राम के सम्मुख भी सिर नवाना ही पसद करेगे, उस निश्छल सौदर्य पर मुग्ध होकर उसे प्यार से चुम्बन लेना नही । उनका दास्यभाव सर्वत्र एव सर्वदा अखण्ड रूप मे बना रहा । इसी हेतु वात्सल्य शृङ्गार में उनकी वृत्ति बहुत ही कम रम सकी । यही कारण है कि बालक राम के इस 'सोच विमोचन' रूप को देख कर मोहित न होने वाले को 'खर सूकर, स्वान' की उपाधि मिली ।

मीरा का प्रेम माधुर्य-भाव का था । इसलिए कृष्ण की बाल लीलाओ की ओर उनका ध्यान नही गया । पत्नी अपने पति के बाल रूप में लीन नही हुआ करती, उसे उसका प्रौढ युवा रूप ही अच्छा लगता है । पत्नी पति के शिशु या बाल-रूप को कौतूहल की दृष्टि से देखती है । दाम्पत्य रति बालक-बालिका की रति नही है, युवा-युवती की रति है । मीरा कृष्ण को जगा रही है—परतु यह जगाना यशोदा का कृष्ण को अथवा कौशल्या का राम को जगाने के समान नही है । यहाँ पत्नी सोये हुए पति को जगा रही है—

> **जागो बंसी वारे ललना जागो मेरे प्यारे ।**
> **रजनी बीती, भोर भयो है, घर-घर खुले किवारे ।।**
> **गोपी दही-मथत सुनियत है कँगना के झनकारे ।।**

सगीत की मृदुल झकार पर ध्यान दीजिए । प्रभात हो चला है, गोपियाँ दही मह रही है—उनके कँगनो की झनकार सुनाई पड रही है । घर घर के द्वार खुल गये है । इस समय भी मीरा की सेज पर श्रीकृष्ण सो रहे है और द्वार बद है । यह देख मीरा कुछ सकोच, कुछ व्रीडा के साथ जल्दी-जल्दी अपने प्राणनाथ को जगा रही है, कि कही सखियाँ देखकर उसे चिढावें न । बहुधा ऐसा होता भी है कि देर तक सोते हुए पति को पत्नी जल्दी-जल्दी इसलिए जगा देती है कि कही उनका देर तक सोना देखकर दूसरे तग न करें, चिढाने न लगें ।

मीरा के कृष्ण एक सुदर तथा परम मोहक प्रौढ युवा कृष्ण है । उनकी भावना मीरा ने यो की है—

> **लंपट बकट छबि अटके । मेरे नैना निपट निपट ।।**
> **देखत रूप मदन मोहन को पियत पियूखन मटके ।**
> **बारिज भवाँ अलक टेढ़ी मनो अति सुगंध रस अटके ।**
> **टेढी कटि टेढी करि मुरली टेढी पाग लर लटके ।**
> **मीरा प्रभु के रूप लुभानी गिरधर नागर नट के ।**

यही मूर्त्ति मीरा के हृदय में घर कर चुकी है। यह छवि उसके रोम-रोम में उलझी हुई है, यही प्रेमामृत उसके रेशे-रेशे मे ओत-प्रोत है। हृदय मे उलझा हुई उस बाँकी छवि की झाँकी लीजिये—

जब से मोहि नदनंदन दृष्टि पड़यो माई।
तब से परलोक लोक कछु ना सोहाई॥
मोरन की चंद-कला सीस मुकुट सोहै।
केसर की तिलक भाल तीन लोक मोहै॥
कुंडल की अलक झलक कपोलन पर छाई।
मानो मीन सरवर तजि मकर मिलन आई॥
कुटिल भृकुटि, तिलक भाल, चितवन में टौना।
खजन अरु मधुप मीन भूले मृग-छौना॥
सुदर अति नासिका सुग्रीव तीन रेखा।
नटवर प्रभु भेस धरे रूप अति बिसेखा॥
अधर बिब अरुन नैन मधुर मद हाँसी।
दसन दमक दाड़िम दुति चमके चपला-सी॥
छुद्र-घटि किंकिनी अनूप धुनि सोहाई।
गिरिधर के अग अंग मीरा बलि जाई॥

कृष्ण के इसी नटवर प्रौढ श्यामल स्वरूप की सुन्दरता पर मीरा ने अपने हृदय को चढाया है। 'अलकार' वालो से यहाँ इतना निवेदन है कि यह 'रूप-राग' का विषय है, मीरा की 'काव्य-कला' का नही। अतएव 'रूपकातिशयोक्ति एव उत्प्रेक्षा दिखाकर मीराकी कविता पर धन्य-धन्य अथवा वाह वाह कहने का यह उपयुक्त स्थल नही है। यहाँ अलकार स्वत. गौण है, रूप-विधान ही मुख्य है। भावना को तीव्र एव कल्पना को सजीव बनाने के लिये ही ये अलकार आए है। ऊपर के पद मे कितनी सुन्दर रूप-व्यजना की उद्भावना हुई है। कुटिल भृकुटि, भाल पर केसर का चदन और चितवन मे टोना देख किसे लोक-परलोक की सुधि रहेगी? किसका हृदय बरबस इस रूप-सागर मे डुबकी लेने के लिये व्याकुल न हो उठेगा? मीरा का भाव-प्रवण साधक हृदय इस 'परम भाव' के लिये सर्वथा उपयुक्त था! उसे कुछ बनना तो था नही। 'माधुर्य भाव' उधार लेने की उसे कोई आवश्यकता तो थी नही। मीरा को कृष्ण के अतिरिक्त और कोई पुरुष कहाँ से और कैसे दीख पडता? यह सारा ससार ही सखी-भाव से स्त्री-स्त्री हो रहा था, यदि कोई पुरुष था तो श्रीगिरिधारीलाल जी।

प्रेम का प्रारभ, जिसे कवियो ने 'अनुराग' की सज्ञा दी है, विशेषत: प्रिय के सगम के पूर्व प्रिय के सौन्दर्य का वर्णन सुन कर या उसके दर्शन से, रूप के ही आकर्षण से होता है। अनजाने हृदय बरबस अरुझ जाता है। आँखो की खिडकी से प्रवेश कर हृदय मे रूप का टोना एक विचित्र हलचल मचाने लगता है। लगालगी आँखे करती है और बँधता है बिचारा मन। जी चाहता है कि वश चलता तो असख्य नक्षत्र, मधुर ऊषा, समस्त ससार के अखिल सौदर्य को अपने 'प्रेम' के चरणो मे चढा देता। कविवर Yeats, (ईट्स) में भी यह भावना मिलती है। कवि का विवशता-पूर्ण कथन है—ऐ मेरे प्रियतम! यदि मेरे पास ये असख्य नक्षत्र, अनन्त आकाश और उस पर बिछी हुई सतरगी चादर होती तो तुम्हारे चरणो मे बिछा देता, जिस पर तुम्हारे कोमल चरण पडते परन्तु—

But, Alas! I am poor and have my dreams only,
I have spread my dreams under Thy feet;
Tread softly, for Thou treadst on my dreams.

परन्तु खेद है कि मुझ गरीबिनी के पास सपनो के सिवा कुछ है नही। ऐ मेरे प्रियतम मैने तुम्हारे चरणो के नीचे अपने सपने बिछा दिये है। इन सपनो पर धीरे-धीरे चलना, मेरे साजन, क्योकि तुम मेरे सुकुमार सपनो पर चल रहे हो।

महादेवी में भी एक स्थान पर ऐसी ही मधुर भावना मिलती है—

मै पलकों में पाल रही हूँ
　　यह सपना सुकुमार किसी का।
जाने क्यों कहता है कोई
　　मै तम की उलझन में खोई।
धूममयी वीथी वीथी में
　　लुक छिपकर विद्युत सी रोई।
मै कण कण में ढाल रही हूँ
　　आँसू के मिस प्यार किसी का।

प्रेम की आँखो से देखने पर वही रूप कुछ और हो जाता है। इसी से तो कहा है कि 'अल्लाह भी मजनूँ को लैला नजर आता है।' रूप की चोट सबसे करारी होती है। प्रीति का घाव बड़ा ही गहरा होता है। उसे वही समझ सकता है जो स्वय घायल हो, भुक्तभोगी हो—

'जाके लगै सोइ पै जाने प्रेम बान अनियारो'

'घायल की गति घायल जानै

कि जिन पीर लगाई होय ।'

प्रेम-जन्य, आकर्षण-मूलक यह 'दर्द' ही तो प्रेमियो का एकमात्र सहारा है। प्रेम के इस दुख को दुख भी तो नही कह सकते। जहाँ 'कुछ और' की कामना बनी रहती है वहाँ दुख कैसा ? किसी अँगरेज कवि ने ठीक ही कहा है, 'Love is a pleasant woe' अर्थात् प्रेम सुखद वेदना है। प्रेम की विकलता मे पडे हुए प्राणी इससे बाहर आना पसद नही करेगे—

Love ! in what a prison is thy dart
Dipped when it makes a bleeding heart ?
None know but they who feel the smart.

—Druham

प्रेम की दारुण दशा भी प्रेमियो को सहारा ही देती है। किसी के रूप पर मुग्ध हुआ मन ससार मे अपने प्रेम-पात्र के समान ढूँढ आता है, चन्द्र, उषा, कमल, आदि सभी उसको उस परम रूप-शोभा के सम्मुख तुच्छ लगते है। उसकी यह आसक्ति ही, यह एकोन्मुखी वृत्ति ही आगे चलकर 'प्रेम' हो जाती है। रूप पर आसक्त हृदय रूप का पुजारी हो जाता है। अपने प्रेम-पात्र की आँखे, कान, भौ, भुजाएँ, नासिका, कपोल, आदि पर से बिछलती हुई उसकी दृष्टि, प्रिय का मिलना, हँसना, बाते करना, बैठना, सोना यहाँ तक कि रूठने में भी एक अपूर्व माधुरी का आस्वादन करता है। अनुराग अपने को प्रिय के सभी क्रिया-कलाप पर छिडक देता है। इसी हेतु प्रिय की सभी 'हरकतो' मे उसे एक अपूर्व मादकता मिलती है। मीरा का यह 'पूर्वानुराग' इसी प्रकार का है।

विषाद की अमावस्या

भगवान के प्रेमपथ मे चलनेवाले साधक को अनुभूति की अनेकानेक घाटियो से गुजरना पडता है। पहली घाटी अन्वेषण की है। यह बहुत ही कष्टकर और साधक को थका देनेवाली होती है। यहाँ साधक को अपने समस्त भार को पटक कर हलका हो लेना पडता है; अकिञ्चन, निरीह, सर्वथा अकेला, इसमें वह आगे बढता है। प्लॉटिनस ने इसे ही stage of purification कहा है। आत्मदान का यह श्रीगणेश है।

सर्वथा एकाकी, परित्यक्त, नग्न, निरीह होकर जब साधक आगे बढता है तो प्रेम की कठिन घाटी मे प्रवेश करता है। यहाँ उसके अन्तस्तल में प्रकाश की झिलमिल कोमल किरणे क्रीडा करने लगती है। यहाँ अधकार से प्रकाश में अचानक अपने को पाकर वह चकित-विस्मित हो जाता है।

इसके बाद ज्ञान की घाटी आती है जहाँ उसे सत्य से साक्षात्कार होता है और 'रहस्य' धीरे-धीरे उसके सम्मुख खुलने लगता है। वह प्रकृति के नाना रूप और विलास मे भगवान् का हास-विलास देखता है और प्रकाशमय जीवन मे प्रवेश करता है।

ज्ञान की घाटी के अन्तर वैराग्य की घाटी आती है जहाँ दिव्य भागवत प्रेम ने साधक की समस्त सत्ता डूब जाती है, और यहाँ प्रेम ही कर्त्तव्य-रूप में शेष रह जाता है; बाकी सारी बाते अपने आप छूट जाती है।

इसके बाद विस्मय की घाटी आती है जहाँ भगवत्प्रकाश से साधक की आँखे चकाचौध हो जाती है और उसे इस प्रखर प्रकाश के कारण कुछ भी सूझता नही, कुछ भी दिखाई नही पड़ता।

और अन्त में आत्म-विसर्जन की घाटी आती ह जिसमे साधक भगवान् के प्रेम में अपने आपको भुला देता है—जैसे मछली अगाध सागर मे।

हमारा यह एक अभिमान भरा प्रमाद है कि हम भगवान् को ढूंढते हैं और उसके पथ मे चल रहे हैं। वस्तुत खोजने वाला तो स्वय भगवान् ही है और वही इस पथ में चलने की प्रेरणा भी प्रदान करता रहता है। सत एखार्ट ने स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि मिलन की चाह इधर भी है और उधर भी, इधर की अपेक्षा उधर ही अधिक है। प्रेम प्रेम का आवाहन कर रहा है क्योकि परमात्मा जीव का प्रेमी है। हृदय के द्वार पर 'वह' खडा-खडा हमारे द्वार खोलने की बाट देखा करता है। हमारा खोलना और उसका प्रवेश करना एक साथ होता है।* जलालुद्दीन रूमी ने इसी को दूसरे ढग से कहा है—

When in this heart the lightning spark of love arises
Be sure this love is reciprocated in that heart.

भगवान् के प्रेम की चोट खाये हुए साधक की स्थिति ठीक वैसी ही होती है जैसी वाण लगे हुए हिरण की। 'दरद की मारी बन-बन डोलूं दरद न जानै कोय।' प्रेम की तीर छोड कर 'शिकारी' छिप जाता है। हृदय में उस घाव को लिये हुए प्रेमी साधक बेचैनी मे गाता है—'घायल सी घूमूं फिरूँ मेरी बिथा न बूझे कोय'।

रे मेरे पार निकस गया साजन मार्‌या तीर
बिरह भाल लागी उर अंतरि व्याकुल भया शरीर।।
इत उत चित्त चलै नहिं कबहूँ डारी प्रेम जजीर।
के जाणै मेरो प्रीतम प्यारो और न जाने पीर।।
कहा करूँ मेरो बस नहिं सजनी नैन भरत दोउ नीर।
मीरा कहै प्रभु तुम मिलियां बिनि प्राण धरत नहिं धीर।।

मैदम ग्यो (Madame Guyon) ने भी मीरा की ही तरह अपने घायल हृदय की व्यथा में अपनी बडी मीठी अनुभूति को व्यक्त किया है—'After thou hadst wounded me so deeply, thou didst begin, oh my God, to withdraw thyself from me, and the pain of thy

---

* He is no farther off than the door of the heart. There He stands and waits and waits until He finds thee ready to open and let Him in. Thou needst not call Him from a distance, to wait until thou openest is harder for Him than for thee He needs thee a thousand times more than thou canst need Him. Thy opening and His entering are but one moment.

—*Meister Eckhart*

absence was the more bitter to me because thy presence had been so sweet to me, thy love so strong in me."

प्रेमी के आवाहन एव सकेत-भरे आमत्रण पर प्रेमिका 'अभिसार' करती है और इस कृष्णाभिसार में ही प्रियतम के मधुर चुम्बन, आलिंगन एव परिरम्भन का रसास्वादन उसके शरीर, मन, प्राण को जुडा देता है। परतु मिलन का यह अवहनीय सुख कुछ ही देर ठहरता है, और फिर प्रियतम न जाने कहाँ छिप जाता है। रास के प्रसङ्ग मे यह रहस्य बडे मीठे ढग से साकेतिक शैली मे खुला है। गोपियो की जो स्थिति हुई—'त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्'—तुम्हे देखे बिना एक क्षण युग के समान बीत रहा है—ठीक यही स्थिति प्रम पथ के प्राय· प्रत्येक साधक की होती है। मन निराधार होकर मारा-मारा फिरता है। कही किसी का सग-साथ सुहाता ही नही। मानो वह व्यक्ति अधर मे लटका दिया गया हो जो न पृथ्वी पर पैर ही टिका सकता है और न आकाश को ही पकड पाता है। प्यास से उसके प्राण जल रहे हे परतु पानी तक पहुँचने की उसे शक्ति नही। यह ऐसी प्यास है जो एक क्षण के लिए भी सही नही जानी परन्तु ससार की कोई चीज इसे बुझा भी नही सकती क्योकि वह तो प्यारे के प्रेम का प्यासा है। उसकी तो एकमात्र यही पुकार है कि ऐ मेरे प्राणसखा, मुझे अपने अधरो का अमृत पिलाओ।*

प्यारे दरसन दीज्यो आय
तुम बिन रह्यौ न जाय।
जल बिन कमल चद बिन रजनी,
ऐसे तुम देख्याँ बिन सजनी,
आकुल व्याकुल फिरूँ रैन दिन,
बिरह कलेजो खाय॥
दिवस न भूख नीद नहि रैना
मुख से कहत न आवै बैना,

---

*सुरतवर्धन शोकनाशन स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम्।
इतररागविस्मारण नृणा वितर वीर नस्तेऽधरामृतम्॥
भा० १० ३१. १४.

गोपियाँ कहती हैं—हे वीर! जो कामसुख को बढ़ाने वाला, शोक को दूर करनेवाला, बजती हुई बाँसुरी से चुम्बित और मनुष्यो की अन्य आसक्तियो को भुला देनेवाला है वह अपना मधुर अधरामृत हमें पिलाइये।

कहा कहूँ कछु कहत न आवै
मिल कर तपत बुझाय ।।
क्यूँ तरसावो अंतरजामी,
आय मिलो किरपा कर स्वामी ।
मीरा दासी जनम-जनम की
पड़ी तुम्हारे पाय ।।

यह स्मरण रखने की बात है कि यह 'राग' 'इतरराग विस्मारण' है—अर्थात् भगवदासक्ति से ससार की अन्य सारी आसक्तियाँ नष्ट हो जाती है, सारी ममताओ का केन्द्रबिंदु हो जाता है परम प्रियतम भगवान्—जो वस्तुत सब का 'प्रियतम' है, प्राणाधार है ।

एक बार मिलन का आनन्द पा चुकने के बाद प्रेमास्पद की आँखो से ओझल हो जाने के कारण साधक का हृदय विरह की आग मे झुलसने लगता है और विरह की 'छमासी रैन' का आदि अत नही मिलता । एक गभीर विषाद मे वह डूब जाता है । पथ नही सूझता कि बाहर निकले । परम प्रियतम की प्रेमप्राप्ति के लिये फिर वह क्या-क्या नही करता ? जीवन मे मृत्यु का अनुभव करता है और एक ऐसे अधकार से घिरा रहता है जिसमे प्रकाश के लिये कोई मार्ग ही नही है । साधक अपने आप पूछता है—"इस अधकार में तुम कहाँ जा छिपे हो ऐ मेरे स्वामी" । अन्तर से आवाज आती है, "तुम्हारे हृदय की गुफा मे" ।

एकाएक प्रकाश का दिव्य पुञ्ज देख कर जिस प्रकार हमारी आँखे झँप जाती है, जिस प्रकार प्रखर रश्मियो को हम खुली आँखो नही देख पाते उसी प्रकार साधक की आतरिक आँखे भी भगवान के दिव्य तेज पुञ्ज से चौंधिया जाती है और इस विरह की स्थिति मे साधक सर्वथा अपने को परित्यक्त, आश्रयहीन, निराधार, निरवलम्ब समझ लेता है । उसकी चेतना इतनी जड हो जाती है कि वह भगवान् के स्पर्श का अनुभव नही कर पाता । एक विचित्र उदासी, एक अकथनीय गभीरता, एक घना निविड विषाद का कुहरा छा जाता है जब वह साधक स्पष्ट देखता है कि मै कुछ भी नही हूँ, मेरा कुछ भी नहीं है, मुझे कुछ भी नही चाहिये ।*

---

* Desolation and loneliness abandonment by God and by man, a tendency of everything to go wrong, a profusion of unsought trials and grief—all are here. Underhill.

इस गभीर विषाद मे, इस अथाह मौन मे ही भगवान् के दिव्य आश्वासन के शब्द सुन पडते हैं। बाहर का सारा ससार जब घोर तमिस्रा से भर जाता है तभी हृदय के आकाश मे प्राणनाथ की मधुर शीतल कोमल अग से छिटकती हुई किरणो के दर्शन और स्पर्श प्राप्त होता है। अन्तस्तल मे प्रकाश सदा सर्दैव प्रकाशित है परन्तु उसकी अनुभूति चारो ओर से अधकार से घिर जाने पर ही होती है। जब जगत का सारा कोलाहल, सारी इच्छाएँ वासनाएँ मिट जाती हैं तभी प्राणप्यारे की वशी की मधुर ध्वनि सुन पडती है। प्रत्येक साधक के पथ मे वह विषाद आता ही है जिसे 'Dark Night of the Soul, कहते हैं और जिसके गर्भ में आनन्द का उत्स है। ईसाई साधक 'सूसो' का जीवन इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। साधक विषाद की इस घोर निविड़ अमावस्या में, जगत के विलास की ओर से अपनी आँखे बन्द कर लेता है और इस गहरी उदासी की अवस्था में उसे यह अनुभव होता है कि मैं और जो कुछ भी मेरा है तुच्छ है, अकारथ है। और इसी क्षण उसकी हृदयगुफा मे से कोई बोल उठता है—"खोलो, द्वार खोलो, मैं मिलने के लिये युग-युग से खड़ा हूं"। उसी 'आवाज' को सुनकर मीरा ने गाया है-—

सुनी री मैंने हरि आवन की आवाज।
महल चढ़े चढ़ि जोउँ मेरी सजनी कब आवे महाराज॥
दादुर मोर पपइया बोलै कोइल मधुरे साज।
उमँग्यो इँदु चहुँ दिसि बरसै दामिणि छोडी लाज॥
धरती रूप नवा नवा धरिया इन्द्र मिलण कै काज।
मीरा के प्रभु हरि अविनासी वेग मिलो महाराज॥

आँख-मिचौनी

"विषाद की अमावस्या" (The Dark Night ot the Soul) को पार कर प्रेमी भक्त एक ऐसी स्थिति मे आता है जिसे 'आँख-मिचौनी' कह सकते है । इसे आत्म-प्रकाश (Illumination) तथा आनन्द-सभोग (Ecstatic Union) की स्थिति भी कह सकते है जिसमे भक्त और भगवान का मधुर प्रेमालाप होता है—भक्त अपनी सुनाता है, भगवान अपनी । यह परम आत्मीयता की स्थिति है जिसमे भक्त भगवान मे और भगवान भक्त में अपना रूप निहार-निहार कर मग्न होते है और हृदय की भाषा मे एक दूसरे से मौन प्रेमालाप करते है । यह अस्फुट प्रेमालाप उन्हीं के शब्दो में सुनने लायक है । अस्तु ।

इस लुका-छिपी मे, इस धूप-छाँह मे ओ मायावी ! ओ चतुर खिलाडी ! मेरे प्राणो के साथ कैसे-कैसे खेल खेला करते हो ! यह तुम्हारी ललित लीला, यह तुम्हारी मोहिनी माया मुझे एक क्षण भी विराम नही लेने देती ! आते हो, अचानक, चुपचाप, नीरव निशीथ मे पैरो की चाप छिपाये, पैञ्जनी की रुनझुन दबाये, मुरली का स्वर और किंकणी का क्वणन समेटे, आते हो; धीरे से, चुपके से मेरे प्राणो को छू देते हो । उस स्पर्श मे मेरे रोम-रोम जग जाते है, अन्तर मे सोई हुई चिरन्तन लालसा, अमर प्यास जग पडती है, हृदय का रेशा-रेशा उस कोमल मधुर आर्द्र शीतल अमृत स्पर्श मे सिहर उठता है—अतल प्राणो मे तुम्हारे स्पर्श की लहर से उद्भूत एक विचित्र सुखानूभूति होने लगती है—ऐसा मानो मै तुम्हे अपने आलिङ्गन मे बाँधे हुई हूँ—तुम मुझे अपने आलिङ्गन मे बाँधे हुए हो !! आहा ! वह सुख, वह स्पर्श, वह आनन्द !

आँखे खुलती है, रोम-रोम खुलते है, प्राण-प्राण खुलते है, हृदय का कपाट खुलता है, श्वास-श्वास के द्वार खुल पडते है अपने इस अनोखे अतिथि, प्राणेश्वर, प्राण-वल्लभ के स्वागत के लिये ! चिर अभिवाञ्छित साध के कण-कण मे हरि ! हरि ! का आवाहन सुनायी पड़ने लगता है। अब क्या ! मेरे जन्म जन्म की लालसा पूरी हुई; प्रभु ने स्वय दया कर अपने दर्शन और स्पर्श से मुझे निहाल कर दिया ! कितने अकारण दयालु है वे ! स्वय इस अँधेरी अर्धरात्रि मे घने बीहड वन और काँटो का पथ तय कर, इस सुनसान रजनी मे मुझ दासी को अपनाने के लिये आये और आज पहले की भाँति आकर, एक क्षणमात्र के लिए झलक दिखाकर चले नही गये अपितु मुझे अपने मधुर स्पर्श का सुख भी दिया !

ऐसे पियै जान न दीजै हो।
चलो री सखी ! मिल राखिये, नैननि रस पीजै हो।
स्याम सलोनो साँवरो मुख देखत जीजै हो ।।
जोइ जोइ भेषसो हरि मिलें सोइ सोइ कीजै हो।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर बड़भागन रीझै हो ।।

हृदय हिल्लोरें ले रहा है, प्राण बेसुध-से है । मन माता-माता फिरता है। रोम-रोम नहा रहे है इस अमृतवर्षा मे । इस जगती मे तुम्हारे सिवा कुछ रहा ही नही । कण-कण मे तुम्हारी छवि छलकती हुई इठला रही है। धरती धन्य हुई तुम्हारे कमल कोमल चारु चरणो के परम पावन स्पर्श से ! आकाश धन्य हुआ अपने हृदय मे तुम्हारी परछाही की श्यामल आभा पाकर ! वायु धन्य हुआ तुम्हारी आरती उतार कर। समुद्र धन्य हुआ तुम्हारे चरणो को पखार कर ! आज वसुन्धरा मे एक अद्भुत उल्लास छा रहा है, सभी मानो तुम्हारे आगमन और दिव्य स्पर्श के सुख से बेसँभार होकर, मतवाले-से नाच रहे है । आनन्द हृदय मे समा नही रहा है, इसे बाँटने की इच्छा होती है, पर वाणी स्वय उस अमृत मे छकी हुई है, कुछ कहना नही चाहती ! समस्त चराचर अपने प्राणेश्वर को पाकर उसके मधु आलिङ्गन मे डूबा हुआ है ! किसी से कोई क्या कहे, क्या सुने ?

चरचा करी कैसे जाय ।
बात जानत कछुक हमसो, कहत जिय थहराय ।।

रे मन ! रे प्राण ! हृदय ! नयन ! पीओ, पीओ, इस अमृत-सिन्धु मे डूबो, डूब जाओ ऐ हृदय ! ऐ आँखें अपने स्वामी को देखो ! देखते-देखते ऐसा

देख लो कि फिर कुछ देखने को रहे ही नही । जन्म-जन्म की साध ! आज अपना भाग्य सराहो, आज प्रभु के चरणतल मे लोटो ! आज तुम धन्य हो गयी, ओ मेरे प्राणो की चिरविकल प्यास ! तुम्ही तो ढूढ लायी हो इस अप-रूप रूप को, इस मधुर मनोहर श्यामसुदर को ! अहा ! प्रभु के चरणनख की विद्युत् द्युति ने मेरे अन्तस् को आलोकित कर दिया है, जगमग कर दिया है ! यह प्रकाश ! यह शोभा !! यह आनन्द !!!

प्रभो ! मै यह क्या देख रही हूँ ? क्या मैं यह स्वप्न देख रही हूँ ? क्या यह कल्पना का लोक है ? प्यारे, मेरे जीवनधन ! आज तो तुम ससार से भी अधिक स्पष्ट प्रत्यक्ष हो रहे हो । संसार तो मानो तुम्हारे आलोक में विस्मित, तुम्हारे रूप पर विमुग्ध तुम्हारे चरणो के नीचे लोट रहा है । समार के मस्तक पर चरण रखकर तुम आये हो देव ! और मुझे भी अपनी गोद में ऊपर उठा रहे हो । मुझे भी उठा लोगे मेरे प्राण ! अरे इस ससार की क्या हस्ती कि मुझे छू भी सके ! मै तो हरि की गोद मे हूँ, हरि ने मुझे अपने हृदय मे छिपा रखा है । ससार की याद ही इस समय क्यो आवे ? श्री हरि शरण मम !

अरे ! एक क्षण भी तो नही हुआ और ओ छलिया ! ओ कपट ! फिर वही लुका-छिपी ! वही धूप छाँह ! अभी भर आँख देख ही कहाँ पायी थी, हरे ! पूरा एक क्षण भी नही बीतने पाया और तुम्हारी छवि झिलमिल-झिलमिल-सी होकर पता नही कहाँ किस अदृश्य मे छिप गयी ! प्रभो ! इतनी दया कर जब आये ही तो एक क्षण और ठहर जाने मे क्या लगता ! मैं तो तुम्हारी ही बन्दिनी हूँ, अपनी इस चरणो की चेरी को इतना क्यो भरमा रहे हो ? अधिक नही, बस एक बार भर आँख देख लेती, एक क्षण तुम्हारे रूप को निरख पाती, एक बार तुम्हारे परम पावन चरणो को अपने भूखे प्यासे प्राणो से सस्पर्श कर पाती ! इन कमल कोमल, परम शीतल, त्रिविध ज्वाला-हरण चरणो को अपने वक्षस्थल से लगा कर जी की ज्वाला शान्त कर पाती अपने हृदय की इस अल्हड़ लालसा को पूरी कर पाती ! यह तुम्हारी कैसी निष्ठुर लीला है, ओ मेरे जन्म-जन्म के प्यारे साथी !

और, तुम तो मेरे जन्म-मरण के साथी हो देव ! ससार मे जब कोई भी 'अपना' नही होता तब भी तुम मेरा अपना, एकमात्र 'अपना' बनकर सदा-सदैव साथ बने रहते हो ! सब कोई मुझे छोड दे पर तुम मुझे कैसे छोडोगे ? कितने इस हृदय के आँगन मे आये और चले गये; आज उनकी धूमिल छाया भी नही है । भूल से, मोह और आसक्ति से उन्हे ही अपने 'प्राणो का देवता'

मानकर उनके चरणो मे आत्मार्पण करना चाहा परन्तु हरि ! हरि ! तुम कितने उदार, कितने दयालु हो ! उसी समय, ठीक उस पागल बेला मे— मेरे प्राणो में अपना प्रकाश फेककर, मेरे हृदय मे अपनी ज्योति डालकर, मेरे अन्तस्थल मे अपनी प्रीति बरसाकर और मेरी आँखो में अपनी छवि की माधुरी बिखेर कर मुझे जगा लिया—'ओ भोले प्राणी ! ससार मे किस-किस के चरणो मे अपने को निछावर करोगी ? किस-किस रूप पर अपने को लुटाओगी ? रूप की धूप मे यो न जलो ! लावण्य की धार मे यो न बहो ! अपने को सम्हालो और मेरी ओर देखो ! तुम्हारे प्राणो के भीतर जो हाहाकार है, जो आतुर उत्कठा है, अमर लालसा है, अतृप्त वासना है, तुम्हारे रोम-रोम में रूप के प्रति जो रुझान है, सौन्दर्य के प्रति जो आकर्षण है वही तुम्हारी निधि है ! तुम्हारे भीतर जो प्यास है, मुझे देखने, छूने, पाने और मुझमें समा जाने की जो सलोनी साध है वही तुम्हारे अन्तःपुर का रुचिर मणि-प्रकाश है । तुम्हारी स्थूल आँखो से ओझल तो मै हो गया हूँ परन्तु अपना वरदान, अपना प्रीति-प्रतीक तुम्हारी हृदय-गुफा मे छोडकर आया हूँ इसलिए कि तुम मुझ छिपे हुए को खोजो, खोजते रहो और खोजते-खोजते स्वय खोज मे ही खो जाओ । यह 'खो जाना' ही साधना का चूडा-मणि है । इसे प्राप्त कर लेने पर मेरी प्रीति प्राप्त करोगे और उस प्रीति के द्वारा ही तुम्हे मेरा दर्शन और स्पर्श—कभी न हटनेवाला दर्शन, कभी न मिटनेवाला स्पर्श प्राप्त होगा । उस स्पर्श के कारण ही तुम दिव्य हो जाओगे और फिर तो मै तुम्हे अपने हृदय में छिपा लूंगा; मेरे हृदय में तुम होगी और तुम्हारे हृदय मे मै । मेरे चित्त में तुम्हारा चित्त प्रवेश कर जायगा और मेरे प्राणो मे तुम्हारा प्राण ! मेरे मन में तुम्हारा मन मिल जायगा और मेरी इच्छा मे तुम्हारी इच्छा । फिर शेष कुछ रह ही नही जायगा जिसके द्वारा तुम मेरे सिवा अन्य किसी वस्तु को देखोगी ! मेरी दृष्टि मे अपनी दृष्टि मिलाकार फिर ससार को देखो—फिर यह ससार ही मेरी गोद के रूप में तुम्हे प्राप्त होगा ! मै तुम्हे देखता रहूँगा, तुम मुझे ! बीच मे कुछ आवरण जैसी कोई वस्तु रहेगी ही नही ! वह सुख, वह शान्ति, वह प्रेम और वह आनन्द तुम्हे प्राप्त हो इसीलिए तो मैने तुम्हारे भीतर यह अतृप्त पिपासा की उद्दाम भीषण ज्वाला भर रखी है । यह तडप ही, यह ज्वाला ही, यह विकलता ही मेरी 'प्रसादी' है । इसे बडे जतन से प्राणो मे जुगोये रक्खो, और, सावधान ! ससार मे किसी पर भी हमारे तुम्हारे मधुर सम्बन्ध की गोपनीय बात प्रकट न हो ।'

भीतर यह क्या सुन रही हूँ प्रभो ! यह क्या तुम्हारी वाणी है ! क्या मै अपने प्रियतम के ये मधुर आश्वासन के प्रीति भरे बचन सुन रही हूँ ! क्या वह मेरी इतनी सुध रखता है ! क्या पग-पग पर वह मेरी सभाल रखता है ! क्या उसके हृदय में मुझ नाचीज के लिए इतना स्नेह, इतनी प्रीति है ! क्या वस्तुत वह मुझे सदा अपनी छाती में छिपाये हुए है ? क्या हर समय मै अपने प्राणेश्वर हरि की गोद मे न खेल ही हूँ ? उसी की सिरजी हुई, उसी की भेजी हुई, उसी की विश्वगोद मे मै स्वच्छन्द, निश्चिन्त, निर्भय, निर्द्वन्द, अलमस्त विचर रही हूँ। फिर भी मन मे इतनी बेचैनी क्यो है ? क्यो उससे रो-रोकर कातर प्राण बार-बार यही भीख माँग रहे है ?—

तनिक हरि चितवो हमरी ओर !
हम चितवत तुम चितवत नाँही दिल के बड़े कठोर !!

भक्त और भगवान् के बीच इस प्रेमालाप के अनन्तर धीरे-धीरे भक्त की भाव देह अपनी परम पवित्र स्थिति में पलटने लगती है और इस पवित्रता (purification) की स्थिति को पार करता हुआ वह धीरे-धीरे भगवान की एक-एक लीला मे प्रवेश करने लगता है और भगवान् के साथ उसका नित्य लीला विहार हुआ करता है। भक्त का भगवान मे और भगवान का भक्त मे यही 'रमण' है। भक्त और भगवान्—दूसरे शब्दो मे प्रेमी और प्रियतम के बीच 'आँखमिचौनी' की यह प्रणय लीला, यह कुतूहल कितना मधुर, कितना मादक कितना आनन्दोल्लास पूर्ण है !

लीला-विहार

श्री चैतन्य महाप्रभु ने कीर्त्तन-विहार का जो प्रवाह चलाया उसमें भगवान के रूप एव लीलाओ का मधुर विन्यास होने के कारण, भक्तों का हृदय पूर्णत रम गया। इसमें प्रेम एव आनन्द की जो स्रोतस्विनी उमडी वह जयदेव और विद्यापति के काव्य कण्ठ से और भी प्रखर हो चली। सभोग श्रृगार का जो सूक्ष्म निदर्शन जयदेव और विद्यापति मे हुआ वह अन्यत्र दुर्लभ है। आज भी 'चन्दनचर्चित नील कलेवर पीत वसन बनमाली' तथा 'रतिसुख सारे गतमभिसारे मदन मनोहर वेश' को ही गा-गाकर वैष्णव सम्प्रदाय के महाभाववाले भावुक भक्त भावना मे लीन हुआ करते है तथा अपने 'हृदयेश' का अनुसरण किया करते है। इस रूप से आँखें अघाती ही नही, न हृदय जुडाता ही है। विद्यापति ने कहा है—

जनम जनम हम रूप निहारनु,
नयन न तिरपित भेल।
लाख लाख जुग हिया बिच राखनु,
तबू हिया जूड ना गेल।
वचन अमिय अनुक्षण शूनलूँ,
श्रुतिपथ परस न भेल।
कत मधुयामिनि रभसे गँवावल,
ना बुझल कैसन केलि।

जन्म-जन्म से हम उसे देखते आ रहे है फिर भी आँखें तृप्त न हुई। लाख-लाख युग से हमने उसे अपने हृदय के हृदय में रक्खा, तो भी हृदय जुडाया नही। रात-दिन उसकी बातें सुनी फिर भी कानों ने अघाना न जाना।

कितनी मधुर राते उसके परिरभन मे बितायी परन्तु पता न चला कि कभी भी उसके साथ केलि की है। हृदय की यह प्यास कभी बुझना नही जानती।

भगवान् की यह माधुरी चार प्रकार की होती है—ऐश्वर्यमाधुरी, लीला माधुरी, वेणुमाधुरी और विग्रहमाधुरी। ऐश्वर्य-माधुरी मे भगवान् का ऐश्वर्य मुख्य रूप रहता है; इसमे भगवान् के चमत्कारी महत्कार्य तथा लोकसृजन और लोक-सरक्षण की महिमा, जन साधारण मे भयमिश्रित श्रद्धा—जिसे अग्रेजी में 'awe' कहते है, उत्पन्न करती है। क्रीडामाधुरी में गोपबालको के साथ खेलना, माँ से रार मचाना, सखाओ के साथ छेड़-छाड तथा मान मनौवल और सखियो के साथ 'दानलीला' सम्मिलित है। वेणु-माधुरी मे भगवान् की वेणु की विमोहिनी शक्ति का वह जादू है—जिसमे ब्रह्मा, विष्णु, शिव सनकादि मोहित हो जाते है, जड चेतन और चेतन जड हो जाता है। विग्रहमाधुरी मे भगवान् के त्रिभुवनमोहन परम मधुर, परम मनोहर रूप का रसपान है।

निपट बंकट छवि अटके,
मेरे नैना निपट बकट छवि अटके॥
देखत रूप मदनमोहन को पियत मयूखन मटके।
बारिज भवाँ अलक टेढी मनो अति सुगंध रस अटके॥
टेढी कटि, टेढी करि मुरली टेढी पाग लर लटके।
'मीरा' प्रभु के रूप लुभानी गिरधर नागर नट के॥

इस प्रकार, टेढी भौंहे, टेढी कटि, टेढी मुरली तथा टेढी पाग वाले त्रिभगी श्यामसुन्दर की ललित छवि टेढी होकर मीरा के हृदय मे अटकी है। सूरदास ने भी एक स्थान पर इसी प्रकार त्रिभगी रूप का हृदय में अटकना देख कर कहा था कि यह टेढी-सी चीज हृदय से भला निकले तो कैसे ?

गोपियो ने भी यही कहा था—हे कात! जब आप गौ चराते हुए व्रज से बाहर जाते है तब आप के कमल सदृश सुन्दर चरण ककड पत्थर के छोटे छोटे टुकडे, तृण और अकुरो से दुख पाते है ऐसा सोचकर हमारा हृदय व्यथित हो उठता है हे वीर! सायकाल के समय काले घुघराले केश से आवृत और गोधूली से व्याप्त अतएव भ्रमरपक्ति और पराग से आवृत कमल के समान अपने मुखारविन्द को हमें बार बार दिखाते हुए आप हमारे मनमे अपने सस्पर्श की इच्छा प्रदीप्त करते है। मीरा गाती है—,

या मोहन के रूप लुभानी !
सुंदर वदन कमल दल लोचन बाँकी चितवन मंद मुसकानी ।
जमना के नीरे तीरे धेनु चरावै बंसी में गावै मीठी बाणी ।
तन मन-धन गिरधर पर वारूँ चरण कमल मीरा लपटानी ।।

रूप की धूप मे पड़ा हुआ मन कभी तो श्रीकृष्ण के धेनुचरावन में उलझता है और कभी वशी की तान मे । मीरा में लीला-विहार के हेतु वशी तथा गोचारण ही मुख्यत उद्दीपन रूप मे आए है, गोपियो के साथ कृष्ण की क्रीडाएँ नही । इसका मुख्य कारण यह है कि मीरा की भक्ति परम भाव की थी और कोई भी पत्नी अपने पति का दूसरी किसी भी स्त्री के साथ रमण करने की अप्रिय भावना को अपने भीतर स्थान नही दे सकती । मीरा का भाव एक सती साध्वी धर्मपत्नी का भाव है, रूप-मोहिता प्रेयसी या परकीया का नही । हाँ विरह-वेदना मे झुलसे हुए हृदय ने दो एक स्थलो पर 'खीझ'-भरे उपालभ के वचन सुनाए है—

श्याम म्हासू ऐंडो डोले हो ।
औरन सूँ खेलै धमार, म्हासूँ मुखहूँ ना बोलै हो ।।
म्हारी गलियाँ ना फिरै, वाके आँगन डोलै हो ।
म्हारी अँगुली ना छुवै, वाका बँहियाँ मोरै हो ।।
म्हारो अँचरा ना छुवै, वाको घूँघट खोलै हो ।
मीरा के प्रभु साँवरो, रग रसिया डोलै हो ।।

मीरा ने एक और स्थान पर इसी मीठे उपालभ मे कहा है कि तुमने गोपियो के साथ क्या-क्या न किया और मेरे लिए 'ब्रह्मचारी' बनते हो—

म्हारो सगपण तोसूँ साँवलिया, जगसूँ नहीं विचारी ।
मीरा कहे गोपिन को बाल्हो हमसूँ भयो ब्रह्मचारी ।।

यहाँ इस 'ब्रह्मचारी' शब्द में कितना गूढ व्यग्य है ! इसमे खीझ भी है और मनुहार भी । ऊपर के पद 'सगपण' का अर्थ है सगापन, परम आत्मीयता।

अपने प्रेम-पात्र का प्रेमी की ओर निठुराई और दूसरो के प्रति रुझान देखकर हृदय मे गहरी टीस एव कलक किलक उठती है जिसका भाव-पूर्ण चित्र उपर के पद में है । परन्तु सती-साध्वी स्त्री तो पति के इस 'अनाचार' को भी सहती ही है और धैर्य धारण कर अपने को सान्त्वना देती है—

मीरां के प्रभु गहर गभीरा हृदय धरो जो धीरा ।
आधि रात प्रभु दरसण दैहे प्रेम नदी के तीरा ।

लीला-विहार मे मीरा ने व्रजभूमि, भगवान् की बाललीला, वशीवादन लीला, नागलीला, चीरहरण लीला, मिलन लीला, पनघटलीला, फागलीला, दधिबेचन लीला, मथुरा गमन, तथा ऊधव-सवाद को मुख्य रूप मे स्मरण किया है। उसके पदो मे शवरी, सुदामा, गणिका, गज और अजामिल का भी उल्लेख है, पर बहुत ही चलता हुआ और बस उल्लेखमात्र। इन प्रसगो मे स्पष्ट ही मीरा का हृदय रमा नही है केवल परपरा का प्रवाह निबहता गया है ऐसा समझना चाहिए। व्रजभूमि का बहुत भावग्राही वर्णन मिलता है—

आली म्हॉंने लागे वृंदावन नीको।
घर घर तुलसी ठाकुर पूजा, दरसण गोविंद जी को।
निरमल नीर बहत जमना को, भोजन दूध दही को।
रतन सिंघासन आप विराजै मुगट धर्यो तुलसी को।
कुंजन-कुंजन फिरत राधिका सबद सुणत मुरली को।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर भजन बिना नर फीको।

इसमे सबसे मनोहर है वशीध्वनि सुनकर कुञ्ज-कुञ्ज मे राधा का ढूँढते फिरना। बाललीला के पदो में भी मीरा का हृदय पूरा-पूरा रमा है ऐसा नहीं कहा जा सकता। ऊपर कारण बतला आया हूँ कि दाम्पत्य रति बालक बालिका की रति नही है, युवक-युवती की रति है। पत्नी अपने पति के बाल रूप मे नही रमा करती। इस सबध का मीरा का वह पद अमर है। वृंदावन की गलियो मे नाचते हुए नन्दकिशोर के कुण्डलो की झकझोर सामने आ जाती है—

सखी, म्हारो कानूड़ो कलेजे की कोर।
मोर मुगट पीताम्बर सोहै, कुडल की झकझोर।
विद्रावन की कुजगलिन में नाचत नंदकिशोर।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरणकँवल चितचोर॥

वशी की मोहिनी मीरा के हृदय को नचा रही थी, उसके प्राणो में मिलन की उत्कट वासना उद्बुद्ध कर रही थी पर मीरा का हृदय श्रीकृष्ण की विग्रहमाधुरी पर अत्यन्त आसक्त था इसी लिए उसमे रूपमाधुरी के ही पद विशेष मिलते है। जिस वशी को लेकर गोपियो ने अनेक प्रकार की व्यग्योक्तियाँ की है जिस मुरली के अधर रसपान पर गोपियो को ईर्ष्या और 'सौतिया डाह' हो आया है उस वशी पर मीरा का बस एक ही गीत है।

इसका कारण, जैसा ऊपर कह आया हूँ, मीरा की 'रूपासक्ति' ही है। वशी वादन का वह पद यो है—

भई हौं बावरी सुन के बाँसुरी
हरि बिनु कछु न सुहावै।
स्रवन सुनत मेरी सुध बुध बिसरी
लगी रहत तामें मन की गाँसुरी।
नेम धरम कोन कीनो मुरलिया
कौन तिहारे पासु री।।
मीरा के प्रभु बस कर लीने
सप्त सुरन ताननि की फाँसु री।।

वशी-वादन की तरह चीर हरण का भी बस एक ही पद मिलता है—'आज अनारी ले गयो सारी, बैठि कदम की डारी' इत्यादि। पर इस पद में मीरा भागती हुई नजर आती है। जम कर उसने चीरहरण-लीला का वर्णन नही किया है। स्त्री सुलभ सुकुमारता और लज्जा उसे सकोच मे डाल देती है।

श्रीकृष्ण के साथ एकान्त मिलन या 'छेडछाड' के पद भी मीरा में नाममात्र के ही है। उसमे भी श्रीकृष्ण के रूप-रस का ही सकेत विशेष है, उनकी 'शरारत' का बहुत कम। इस लीला मे भी मीरा का हृदय पूरी तरह रम न पाया। रमा हो भी तो उसकी अभिव्यक्ति नही हुई—

आवत मोरि गलियन में गिरधारी,
मैं तो छुप गई लाज की मारी
कुसुमल पाग केसरिया जामा,
ऊपर फूल हजारी
मुकुट ऊपर छत्र विराजे,
कुडल की छवि न्यारी।।
केसरी चीर दरयाई को लॅहगो
ऊपर अंगिया भारी।
आवत देखी किसन मुरारी,
छुप गई राधा प्यारी।।
मोर मुकुट मनोहर सोहै,
नथनी की छवि न्यारी।

गल मोतिन की माल बिराजै,
चरण कमल बलिहारी।
ऊभी राधा प्यारी अरज करत है
सुण जे किसन मुरारी।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर
चरण कमल पर वारी।

तथा

छांडो लंगर मोरी बँहिया गहो ना।
मैं तो नार पराये घर की, मेरे भरोसे गोपाल रहो ना।।
जो तुम बँहियाँ मोर गहत हो, नयन जोर मोरे प्राण हरो ना।
वृन्दावन की कुञ्ज गलिन में रीत छोड़ अनरीत करो ना।।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कमल चित टारे टरो ना।

इस पद मे 'नयनजोर मोरे प्राण हरो ना' की बेवसी भरी मनुहार और आत्मदान के आन्तरिक माधुर्य पर सहृदय पाठको का ध्यान सहज ही जायगा। 'पनघट लीला' का एक बडा ही भावपूर्ण मधुर गीत 'काफी' राग मे है जिसमे प्रेम का दिव्य उल्लास छलक पडा है—

प्रेमनी प्रेमनी प्रेमनी रे।
मन लागी कटारी प्रेमनी रे।।
जल जमुना माँ भरवा गयाँ ता हती गागर माथे हेमनी रे।
काचे ते तातणे हरी जीए बाँधी जेम खीचे तेम तेमनी रे।।
मीरा कहे प्रभु गिरिधर नागर सामली सुरत सुभ एमनी रे।।

मीरा के लीला-विहार मे भगवान् श्री कृष्ण की विविध लीलाओ का विस्तार कम मिलता है, उसमे या तो मिलन का आनन्दजन्य उल्लास है या विरह जन्य वेदना। श्रीकृष्ण का रूप ऐसा लुभावना और छवि ऐसी मोहक है कि उसने प्रेम के कच्चे धागे मे हमारे हृदय को बाँध रखा है कि जैसा चाहता वैसा ही नाच नचाया करता है।

कही-कही प्रेम की 'खीझ' के बडे ही सुदर भाव मीरा में मिलते हैं जहाँ वह अपने प्राणनाथ को औरो के साथ तो स्वच्छन्द लीला-विलास करते देखती है और अपनी ओर उसकी उदासीनता देखती है। उर्दू और फारसी काव्य-साहित्य मे बेवफाई के, शिकवा के भावो का अच्छा विन्यास हुआ है जो उनकी अपनी विशेषता लिये हुए है। मीरा एक स्थान पर कहती है—

स्याम म्हांसूं ऐंडो डोले हो।
औरन सूं खेलै धमार म्हांसूं मुखहू न बोलै हो।

म्हाँरी गलिया ना फिरै बांके आँगण डोलै हो।
म्हाँरी अंगुली ना छुवै वांकी बहिया मोरे हो।
म्हाँरो अचरा न छुवे, वाको घूँघट खोले हो।
मीरा के प्रभु साँवरो, रंगरसिया डोले हो।।

सात्विक ईर्ष्या की रसानुभूति में तडपती हुई मीरा ने कहा कि 'बाहर घाव कछू नहि दीसै रोम रोम में पीर'। वह चारो ओर से देखती है कि प्रिय का पथ उसके लिये बद है वह उससे मिले तो कैसे ?

गली तो चारो बन्द हुई मै हरि से मिलूँ कैसे जाय।

और

पिया दूर पंथ म्हारो झीणो सुरत झकोला खाय।

परन्तु 'पिय के पलग पर पौढने' की उत्कट कामना तीव्र होती जाती है और मीरा निश्चय कर लेती है—

श्री गिरधिर आगे नाचूँगी।
नाचि नाचि पिय रसिक रिझाऊँ प्रेमी जन को जाचूँगी।।
लोक-लाज कुल की मरजादा या में एक न राखूँगी।।
पिय के पलगा जा पौढूँगी मीरा हरि रंग राचूँगी।।

लोक-लाज और प्रेम 'एक म्यान में दो खड्ग' के समान साथ नही रह सकते, इसका प्रेमी साधको को पूरा अनुभव है।

अपने प्राणनाथ के प्रति सच्ची रहनेवाली सती-साध्वी को ससार का क्या भय, लोक-लाज का क्या बधन ?

मै अपने सैयाँ संग साँची।
अब काहे की लाज सजनी परगट ह्वै नाची।
दासी मीरा लाल गिरिधर मिटी जग हाँसी।

जिस जीवनधन के बिना ससार सूना है, जिस एक रस के बिना विश्व के विविध रस नीरस है भला उसके साथ मिलने के लिये विलंब क्यो ? ऐंचातानी क्यों ?

मै तो साँवरे के रंग राची
साजि सिगार बाँधि पग घुँघरू लोक लाज तजि नाची।
उण विण सब जग खारो लागत और बात सब काची।।
मीरा श्री गिरिधन लाल सूँ भगति रसीली जाची।।

जयदेव, चण्डीदास, विद्यापति आदि वैष्णव कवियो में सभोग शृंगार का जो विशद वर्णन मिलता है वह मीरा मे खोजे भी न मिलेगा। मीरा ने

कुल की कानि तथा लोक की लाज छोडी थी, तो केवल अपने श्री गिरिधारी लाल के चरणो मे सर्वात्म-समर्पण के लिये ही; स्त्री-सुलभ आत्म-गोपन का भाव तो बना ही रहेगा। शृगार के सुखद सभोग का वर्णन कौन कहे मिलन के स्वाभाविक सुख का जहाँ-कही सकेत है भी, उसमे आलिगन, चुबन, परिरम्भन आदि का नाम तक नही है। मिलन के आनन्द को हृदय की प्रफुल्लता द्वारा ही मीरा ने प्रकट किया है। सात्विक लक्षणो का भी कम उल्लेख है। रोमाच, वैवर्ण्य, प्रकप, प्रस्वेद आदि के बहुत ही हलके चित्र मिलते है, उनका विशद चित्रण करना मीरा के लजीले हृदय को स्वीकार न था। वैष्णव कवियो मे गोपियो के विरहानल का वर्णन विशेष रूप मे मिलता है और वे गोपियो की विरह-वेदना द्वारा अपनी वेदना व्यक्त करते है। गोपियो की स्थिति में, रखकर विरह की तीक्ष्णता को अनुभव एव व्यक्त करने मे उन्हे कुछ सुगमता हो जाती है। परन्तु मीरा का प्रेम मन-बहलाव का एक साधन मात्र नही रहा। उसमे किसी प्रकार के अधिरोप के लिए गुन्जाइश ही नही थी। वह तो स्वय उसीमे घुल गई जैसे दूध मे मिश्री, जल मे रग। वह हमारे सम्मुख एक प्रेयसी के रूप मे, मुग्धा नायिका के रूप मे नही आती, प्रत्युत् श्रीकृष्ण की एक सती साध्वी भक्तिविह्वला प्रेम-परायणा सखी के रूप मे ही आती है, जिसने अपनी सारी आकाक्षा, सारी अभिलाषा श्रीकृष्णार्पण कर दिया है। इसी हेतु उसे गोपियो को अपने और हरि के बीच मध्यस्थ बनाने की आवश्यकता न पड़ी। *

मीरा का मिलन राधा और कृष्ण का मिलन नही है, स्वत मीरा और कृष्ण का मिलन है। ऐसे मिलन में मध्यस्थ की न कोई आवश्यकता ही है और न गुजाइश ही। मीरा को तो अपने को राधा या गोपी के व्याज से तादात्म्य-भावना करनी थी नही, इसी हेतु 'गोपी-मोहन' 'राधा-वल्लभ' आदि, आदि भाव मे स्मरण न करके मीरा ने श्यामसुन्दर तथा गिरधर गोपाल के रूप मे ही कृष्ण को स्मरण किया है। इसी हेतु अपनी भावना को तीव्र करने के लिये वह अपनी निजी वेदना को ही उडेलती है न कि कृष्ण के विरह में गोपियो की वेदना को। कोई भी साध्वी पत्नी इस विचार को अपने मन में आने न देगी कि उसका पति किसी अन्य स्त्री से भी प्रेम करता है। इसी हेतु ऊपर कहा जा चुका है कि मीरा का प्रेम एव प्रेमजन्य वेदना उधार ली

* Mystic love is a total dedication of the will, the deep-seated desire and tendency of the soul towards its source.

—E. Underhill.

हुई या उखाडी हुई नहीं है। वह तो भक्ति-विह्वल आतुर हृदय की परम पावन पुकार है जिसमे ससार की ओर से आँख मूँद कर अपने प्राणाधार की सजीव मूर्ति मे केलि कर रही है। मीरा का प्रेमोत्सर्गपूर्ण जीवन स्वतः समर्पण का एक अविच्छिन्न सगीत है, अविरल पीयूष-प्रवाह है। मीरा का प्रेम भक्ति और प्रीति का निखरा हुआ सुव्यवस्थित, सुविकसित स्वरूप है। मीरा की भक्ति हृदय की मूक वेदना है जो अपने 'पूरब जनम के साथी' के लिये उसके हृदय के रेशे-रेशे को तर कर देती है।

ढूँढने को तुझे ओ मेरे न मिलनेवाले
वह चली है जिसे अपना भी पता याद नहीं।

उत्फुल्ल प्रेम

श्री रूप गोस्वामी ने 'भक्ति-रसामृत-सिन्धु' मे प्रेम के क्रमिक विकास का वर्णन यो किया है—

> आदौ श्रद्धा, तत. संगस्ततोऽथ भजन-क्रिया ।
> ततोऽनर्थ-निवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः ।।
> अथासक्तिस्ततो भावस्तत· प्रेमाभ्युदञ्चति ।
> साधकानामयं प्रेम्ण. प्रादुर्भावे भवेत् क्रम ।।

श्रद्धा, सग, भजन, अनर्थ-निवृत्ति, निष्ठा, रुचि और आसक्ति का क्रम विकास होते होते 'भाव' का उदय होता है । यह 'भाव' ही, प्रेम-पात्र के प्रति हृदय की यह रुझान ही प्रेम की प्रारम्भिक अवस्था है—'प्रेम्णस्त प्रथमा-वस्था भाव' । चारो ओर से हृदय सिमट कर प्रेम-पात्र मे ढल जाता है । मीरा के उस परम प्रियतम की एक झाकी तो लीजिए—

उस परम प्रियतम के सिर पर चद्रकला युक्त मोर मुकुट शोभा दे रहा है । अटपटी पाग टेढी रखी है जिसमे मोतियो की लड़ियाँ लटक रही है । माथे पर केसर का तिलक है जिसकी दोनो ओर काली काली टेढी, बल खायी हुई पेचदार अलके झूम खा रही है । कानों मे कुडल झलक रहे हैं जिसकी झलमल ज्योति कपोलो पर पड़ रही है, नासिका अत्यन्त सुन्दर है और दाँतो की द्युति दाडिम के समान है । नेत्र रतनारे मदभरे लाल-लाल और विशाल है । उन पर टेढी भौवे विचित्र शोभा दे रही है । सुन्दर ग्रीवा पर तीन रेखाएँ पडी है । गले मे वैजयन्ती माला है । कटितट पर करधनी सुशोभित है और उसमे छोटी-छोटी घुँघरें लगी है । पैरो मे नूपुर का रसीला शब्द मन को सहज ही मोह लेता है । पीताम्बर धारण किए हुई

वह मोहिनी मूरत कालिन्दी के तट पर कदम्ब के नीचे अपने मधुर अधरो पर रख कर मद मद मादक स्वर से मुरली बजा रही है। टेढी चितवन और मंद मुसकान प्राणो को हर लेनेवाली है। और उसके रोम-रोम से छलकते हुए सौदर्य-मधु को पान करने के लिए मन-प्राण में अजीब बेबसी भर जाती है। प्रेम ही भगवान की सत्ता है, प्रेम ही भगवान का स्वरूप है, प्रेम ही उनका रग है, प्रेम ही उनका रूप। प्रेम से ही वे पकडे जाते है और उन्हे पकड कर प्रेमी को एक मात्र प्रेम की ही जलन वरदान में प्राप्त होती है। वही भक्त और भगवान का मन प्रेम म एकाकार हो जाता है। प्रेमी सारा ससार ढूंढ आता है उसे अपने परम प्रेमास्पद हरि के सिवा 'अपना' और कोई दीख ही नही पडता। इसी से वह कह सकता है—

मेरो तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई।
दूसरा न कोई साधो सकल लोक जोई॥
भगत देखि राजीं भई जगत देखि रोई।
अँसुवन-जल सींचि सीचि प्रेम-बेलि बोई॥
अब-तौ बात फैलि पड़ी जाणौं सब कोई।
मीरा एम लगण लागी होनी होय सो होई॥

प्रेम पात्र पर उत्सर्ग होकर ससार की ओर देखने के लिए क्या धरा है और फिर 'होनी हो सो होई' की क्या चिता? जो कुछ होगा, हो रहा है अथवा हुआ है सभी श्रीकृष्णार्पण हो चुका। सूरदासजी कहते है—

अब हमरे जिय बैठ्यो यह पद 'होनी होउ सो होऊ'।
मिट गयो मान परेखो ऊधो हृदय हतो सो होऊ॥

'होनी होय-सो होई' कहकर ससार को ललकारनेवाली अपने उपास्य देव में अनन्य निष्ठा धन्य है!

और प्रेम-साधक की इच्छा क्या है?

म्हाने चाकर राखो जी।
गिरधारीलाल चाकर राखो जी॥
चाकर रहसूं बाग लगासूं नित उठि दरसण पासूं।
वृन्दावन की कुंज गलिन मे गोविन्दलीला गासूं॥

× × × ×

ऊँचे ऊँचे महल बनाऊँ, बिच बिच राखूँ बारी।
सांवरिया के दरसण पाऊँ पहिर कुसुंभी सारी ।।*

वस्तुत 'साहचर्य्य' का सुख सबसे बडा सुख है और जिस किसी प्रकार सेवा करने और उस परम रूप की शोभा निरखते रहने का आनन्द ही सर्वोच्च परम आनन्द है। यह भाव प्राय. सभी सत-भक्त-प्रेमी कवियो ने प्रकट किया है। एक ग्रामीण नायिका के 'साहचर्य्य'-सुख का उल्लास-पूर्ण वर्णन देखिये—

'आगि लागि घर जरिगा बड़ सुख कीन्ह।
पिय के हाथ घइलवा भरि भरि दीन्ह।।'

तथा

टूट खाट घर टपकत खटियो टूट।
पिय के हाथ उसिसवा सुख की लूट ।।

'म्हाने चाकर राखो जी' मे 'चाकर' शब्द से पाठक यह न समझ बैठें कि मीरा की उपासना आरभ मे दास्य भाव की ही है। दास्य मे सभ्रम और गौरव का भाव मुख्य होता है। दास्य रति मे भगवान का अनन्त ऐश्वर्य सामने होता है, मुक्ति सिद्धि उसकी दासी है, अनन्त कोटि ब्रह्माड उसके एक इशारे पर बनते और मिटते है, परन्तु मधुर रस की साधना में छोटे बडे का सवाल नही उठता, वहाँ मधुर भाव की इतनी तीव्र अनुभूति होती है कि ऐश्वर्य की ओर दृष्टि ही नही जाती।' मीरा का यहाँ 'चाकरी मे दरसण पाऊँ सुमिरण पाऊँ खरची' से यह स्पष्ट है कि वह दर्शन और स्मरण की भूखी प्यासी है, वह इसी बहाने 'साहचर्य' की सुखाभिलाषिणी है। जैसे मधुकोष में अमृत रूपी मधु सचित रहता है उसी प्रकार प्रेम के हृदय में विरह का निवास है। विरह ही प्रेम का प्राण है। मीरा के प्रेम में प्रारभ मे, मध्य मे और अन्त मे विरह ही विरह है। हृदय के भीतर बसनेवाली

---

*रवीन्द्र के 'Gardener' की भी कुछ ऐसी ही इच्छा है—

Servant—Make me the gardener of your flower garden.

Queen—What folly is this ?

Servant—I will give up my other work × × × ×

Do not send me to distant courts, do not bid me undertake new conquests, but make me the gardener of your flower-garden.

Queen—What will your duties be ?

उस 'ना ना की मधुर मूरत' को मीरा स्पष्ट देख रही है पर अग से अंग लगा कर, हृदय से हृदय मिला कर मिल नही पाती—यही उसके दुख का कारण है। विरह का रस पाकर ही प्रेम का पौधा उगता, पनपता और लहलहाता है।

सर्वात्मसमर्पण कर चुकने पर भी, हृदय को, अपने आप को देवता के चरणो मे अशेषत चढा चुकने पर भी, और हृदय उस 'निर्मोही' के चरणो मे लोट-पोट होकर भी तृप्त नही हो पाता—

आली रे मोरे नैनन बान पडी।
चित्त चढी मेरे माधुरी मूरति उर बीच आन अडी॥
कैसे प्राण पिया बिन राखों जीवन मूल जडी।
मीरा गिरधर हाथ बिकानी, लोग कहे बिगड़ी॥

लोग 'बिगडी' कहे या 'बनी'—प्रेम का गहरा नशा भीतर व्याप्त होता जा रहा है, सारी सुध बुध खो गई है, अपने तन, मन का भी भान नही है।

भक्तवर सूरदासजी अपनी 'विवशता' यो प्रकट करते है—

अब तो प्रकट भई जग जानी
वा मोहन सी प्रीति निरतर नाहि रहेगी छानी।
कहॉ करो सुन्दर मूरत इन नैनन माँझ समानी॥
निकसत नाहि बहुत पचि हारी *रोम रोम उरझानी*॥
अब कैसे निरवार जात है मिले दूध ज्यो पानी।
'सुरदास' प्रभु अतरजामी ग्वालिन मन की जानी॥

Servant—The service of your idle days I will keep fresh the grassy path where you walk in the morning. I will swing you in a swing among the branches of the Sapta Parna' when the early evening moon will struggle to kiss your skirt through the leaves × × × × ×

Queen'—What will you have for your reward ?

Servant —To be allowed to tinge the soles of your feet and kiss away the speck of dust that chance to linger there To be allowed to hold your little fists like tender lotus buds and slip flower-chains over your wrists.

Queen —Your prayers are granted, my servant. you will be the gardener of my flower-garden.

इस प्रेम के फंदे से निकलना असम्भव है। वह सुन्दर मूर्ति रोम-रोम में उलझ गई है, निकाले नहीं निकलती। प्रेम के कच्चे धागे में बाँध कर 'वह' अपनी मनमानी कर रहा है।

उधर भक्त प्रभु से मिलने की व्याकुलता में मग्न रहता है इधर हृदय के सभी कलमष धुलते जाते हैं। अपनी ओर जब कभी ध्यान जाता है, अपनी त्रुटियों का जब कभी स्मरण हो आता है तो हृदय ग्लानि से भर जाता। यह 'आत्म-ग्लानि' ही भक्तों का भूषण है। 'मैं मैली पिउ उजरा, मिलणा कैसे होय' का भाव प्रायः सभी निर्गुण सन्तों एवं सगुण भक्तों में रहा है। कबीर, दादू, जायसी, सूर, तुलसी आदि सगुण भक्त और निर्गुण संतों ने इस शुद्ध सात्विक आत्मग्लानि में हृदय को डुबाकर पवित्र किया है।

आत्म-निरीक्षण का यह पथ परम पावन है। मीराबाई में ऐसे वचन के बस दो एक ही पद हैं। मीरा को अपनी ओर, अपनी त्रुटियों, अपराधों की ओर, सर्वात्म-श्रीकृष्णार्पण हो चुकने पर, देखने का न अवकाश ही है और और न आवश्यकता ही। प्रेमोन्माद के प्रखर प्रवाह में अपनी ओर देखने का समय ही कहाँ? फिर भी—

यहि बिधि भक्ति कैसे होय,
मन की मैल हिये ते न छूटी, दिया तिलक सिर धोय ॥
काम कूकर लोभ डोरी बाँधि मोहि चाडाल।
क्रोध कसाई रहत घट में कैसे मिले गोपाल ॥

इस प्रकार, इस पद में 'मेरो मन हरिजू हठ न तजै' 'कौन जतन बिनती करिये' तथा 'मो सम कौन कुटिल खल कामी' का भाव पूर्ण रूप से सन्निहित है।

मीरा ने अपने प्रभु को विरद का एक वार स्मरण दिलाया है—

हरि! तुम हरो जन की भीर।
द्रौपदी की लाज राखी तुम बढायो चीर ॥
भक्त कारन रूप नरहरि धरयो आप शरीर।
हरिनकस्यप मार लीन्हो धरयो नाहिन धीर ॥
बूड़ते गजराज को कियो बाहर नीर।
दासि मीरा लाल गिरधर दुख जहाँ तहँ पीर ॥

इसी प्रकार शरण की याद एक बार दिलायी गयी है—

अब तो निभायाँ सरेगी, बाँह गहे की लाज।
समरथ सरण तुम्हारी सइयाँ, सरब सुधारण काज ॥

भवसागर संसार अपरबल, जामें तुम ही जहाज।
निरधाराँ आधार जगत-गुरु, तुम बिन होय अकाज ।।
जुग जुग भीर हरि भगतन की, दीनी मोक्ष समाज।
मीरा सरण गही चरणन की, लाज राखो महाराज ।।

भक्त को अपनी दीनता और प्रभु की दीनवत्सलता को बार बार स्मरण करने से सान्त्वना मिलती है। परन्तु प्रेमी को अपनी दीनता का ध्यान भी नही होता। क्यो हो ? प्रेम मे तो दोनो को ही गर्ज है और, सच तो यह यह ह कि प्रेम में भला कौन है प्रेमी और कौन है प्रेमास्पद इसका निर्णय भी कैसे हो ? इसमे तो स्वय भगवान ही प्रेमी भी है और वही है प्रेमास्पद। एक सीमा के बाद यह प्रेमी और प्रेमास्पद का द्वैत विलीन हो जाता है और आनदोल्लास मात्र के लिए दो का एक मे अथवा एक का दो मे क्रीडाविलास हुआ करता है। और वह प्रेमिका जब प्राणाधिका मीरा के समान 'अङ्गीकृत' हो चुकी हो तो फिर अपनी ओर क्यो देखे ? पति पत्नी के प्रेम भरे मधुर सम्बन्ध में दैन्य के लिये स्थान ही कहाँ है ? हिन्दू नारी अपना सर्वस्व पति के चरणो मे निवेदित कर पति के 'सर्वस्व' की अधिकारिणी हो जाती है: अब उसे दैन्य क्यो हो ? पति के चरणो की दासी वह है यह सच है परतु पति के अधरामृत की भी तो अधिकारिणी है। और वह पति अपने प्रेम की प्यास, अपने हृदय की तपन को बुझाने के लिये अपनी सहधर्मिणी के सामने एक दीन भिक्षुक की तरह जब खडा हो, 'देहि मे पदपल्लवमुदारम्' की याँचना कर रहा हो तब उस पत्नी के हृदय में अपने प्रति दैन्य का भाव क्यो और कैसे आवे ? प्रेम की रस–पूर्त्ति में दोनो ही समानतः साझी हैं, एक दूसरे पर अवलबित है। इसी मनोविश्लेषण के आधार पर देखने से पता चल जाता है कि मीरा में दैन्य के पद कम क्यों है। कम क्या है है ही नही। मीरा और कृष्ण का मिलन प्रति पल, प्रति क्षण हो रहा है। ससार की प्रत्येक वस्तु मे, जगत् के सभी व्यापारो मे दोनों का महामिलन हो रहा है। एक दूसरे के बिना व्याकुल है। जिस प्रकार पति का प्रेम, उसका सौंदर्य तथा उसका आनन्द पत्नी को ही पाकर निखरता है उसी प्रकार पत्नी का रूप–लावण्य भी पति को ही पाकर खिल उठता है। पति पत्नी के बिना और पत्नी पति के बिना अपूर्ण है। इधर से 'इयमधिक मनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी' है तो उधर से 'प्रियेसु सौभाग्य-फला हि चारुता' है। मिलन की, मिलकर मिल जाने की व्याकुलता दोनो के ही हृदयो में समान है।

कसमसाहट, छटपटी दोनों ही ओर है। परस्पर की इस मधुर

व्याकुलता को रामकृष्ण परमहस ने तीन प्रकार से व्यक्त किया है (१) गाय और बछडे का सम्बन्ध (२) बन्दरी और उसके बच्चे का सम्बन्ध (३) बिल्ली और उसके बच्चे का सम्बन्ध ।

(१) स्तन-पान करने की जितनी तीव्र लालसा बछडे के हृदय में होती है उतनी ही गाय के हृदय में पिलाने की भी, । बछडा पिये बिना नही रह सकता, गाय पिलाये बिना । कहा तो यो जाता है कि अपने प्यारे वत्स को अपने स्तन से सटाते ही माता का हृदय दूध बनकर तरलित हो जाता है ।

(२) बन्दरी चाहती है कि उसका बच्चा कष्टो मे न पडे इस हेतु वह बच्चे को अपने पेट मे सटाकर ढोने के लिये भी तैयार है यदि बच्चा उसके पेट मे सट जाय, अपनी ओर से तनिक भी शरणोन्मुख हो जाय ।

(३) बिल्ली अपने बच्चे को कष्ट की सभावना-मात्र से ही अपने दाँतों को उसकी गर्दन में चुभाकर किसी सुरक्षित स्थान पर पहुँचा आती है । बच्चा अपनी ओर से प्रयास करे या न करे इसकी ओर वह नही देखती ।

इसमें पहले मे ब्रह्म और आत्मा की पारस्परिक॰उत्कण्ठा, दूसरे मे आत्मा की प्रथम चेष्टा तथा तीसरे में ब्रह्म की एक मात्र चेष्टा व्यंग्य है ।

यहाँ यह कहने की आवश्यकता नही कि निर्गुण संतो ने पहली भावना तथा सगुण भक्तो ने दूसरी तथा तीसरी भावना को अपने भीतर प्रतिष्ठापित किया है । मीरा की भावना तीसरे प्रकार की थी—अर्थात् उसका दृढ विश्वास था कि उसकी सारी सार-सँभार 'भगत वछल गोपाल' पर है और उसे 'वह' 'भीर' मे रहने नही दे सकता ।

हरि तुम हरो जन की भीर !
द्रौपदी की की लाज राखी तुम बढायो चीर !

इसी को भक्त वर सूरदासजी यो व्यक्त करते है—

लज्जा मेरी राखो श्याम हरी ।
कौनो कठिन दुःशासन मोसे गहि केशो पकरी ।।
आगे सभा दुष्ट दुर्योधन चाहत नगन करी ।
पाँचों पाण्डव सब बल हारे तिन सो कुछ ना सरी ।।
भीष्म द्रोण बिदुर भये विस्मय तिन सब मौन धरी ।
अब नहिं मात पिता सुत बाँधव, एक टेक तुम्हरी ।।

यह दृढ विश्वास ही भक्तो का सहारा है । इसी विश्वास पर वे अपनी 'पाथर बोझी नाव' तूफान होते हुए भी 'मँझधार' मे डालकर निश्चिन्त हो जाते है । जब पतवार प्रभु के हाथो है तो तूफान एव लहरो का क्या भय ?

और आसिरो नाहीं तुम बिन तीनूं लोक मँझार
आप बिना मोहि कुछ न सोहावै निरख्यो सब संसार ।।

प्रेम मे डूबा हुआ हृदय ससार मे चारो ओर दृष्टि दौडा आता है परन्तु अपने प्रेम-पात्र के ऐसा उसे कही कुछ भी दीखता ही नही ।

प्रेमी भगवान् के हाथ बिक जाता है और वह सर्वथा उसी का होकर जीता है—

मै तो गिरधर के घर जाऊँ ।
गिरधर म्हारो साँचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊँ ।।
रैंण पडै तब ही उठि जाऊँ, भोर गये उठि आऊँ ।
रैंण दिना वाके सग खेलू ज्यूं त्यूं वाहि रिझाऊँ ।।
जो पहिरावै सोई पहिरूँ जो दे सोई खाऊँ ।
मेरी उण की प्रीत पुराणी उण बिन पल न रहाऊँ ।।
जित बैठावे तितही बैठूं, बेचे तो बिक जाऊँ ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर बार बलि जाऊँ ।।

उसी परम प्रियतम के रग मे रची हुई निरन्तर उन्ही के गुण गा-गा कर मस्त हो रही है और उनकी 'रसीली भगति' का रस पीकर छकी हुई है—

मै तो साँवरे के रग राची ।
साजि सिंगार बाँधि पग घुँघरू लोक लाज तजि नाची ।
उण बिन सब जग खारो लागत, और बात सब काँची ।
मीरा श्री गिरधर न लालसूं भगति रसीली जाँची ।।

इस 'रसीली भगति' का मुख्य लक्षण है अखण्ड स्मरण—

मै तो म्हाँरा रमैया नें देखबो करूँरी ।
तेरो ही उमरण तेरो ही सुमरण, तेरो ही ध्यान धरूँरी ।।
जह जह पाँव धरूँ धरती पर, तह तह निरत करूँरी ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, चरणाँ लिपट परूँरी ।।

'अनहद', 'सुन्न महल', 'साहब', 'सुरत', का प्रभाव भी मीरा पर पडे बिना न रहा । 'नाथ पथ' का प्रभाव सयुक्त प्रात से एक प्रकार से लोप हो चला था परन्तु राजस्थान मे वह खूब फैला । उधर उत्तर-पश्चिम से सिंध प्रान्त से जो सूफी हवा आ रही थी उसमें हठयोग के ये स्थूल रूप भी प्रचुर परिमाण मे विद्यमान थे । कबीर पथ में तो आसन, प्राणायाम, मुद्रा, नादानुसधान, कुण्डलिनी-जागरण, षटकर्म आदि हठयोग की क्रियाएँ पीछे एक प्रकार से आधारभूत होकर चली । सगुण भक्तो को उस ओर देखने की आवश्यकता

न पडी। उनका 'सुन्य महल' सदैव प्रीतम की प्रेम-मूर्ति से भरा था। सूफियो ने भी इसे गौण रूप मे ही अपनाया। पर उसमे रसायन का अजीब ओ गरीब सम्मिश्रण देखकर विस्मय होता है। मीरा मे 'नाथ पथ' की, जो राजस्थान मे खूब फैला था, एक हलकी लहर मिलती है—

नैनन बनज बसाऊँ री जो मै साहिब पाऊँ।
इन नैनन मोरा साहब बसता डरती पलक न लाऊँ री।
त्रिकुटी महल में बना है झरोखा तहाँ से झाँकी लगाऊँरी॥
सुन्न महल में सुरत जमाऊ सुख की सेज बिछाऊँरी।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर बार-बार बलि जाऊँरी॥

एक और स्थान पर मीरा के ऐसे ही भाव मिलते है—

बिन करताल पखावज बाजै अनहद की झनकार रे।
बिनु सुर राग छतीसूँ गावै रोम रोम रग सार रे॥
उड़त गुलाल लाल भये बादल बरसत रग अपार रे।

उपर्युक्त दोनो पद निर्गुण राग मे है और 'मीरा की शब्दावली' मे सगृहीत है। पता नही कहाँ तक ये मीरा के स्वरचित है। यदि इन्हे मीरा का मान भी लिया जाय तो यह स्मरण रखना चाहिये कि इनमें मीरा का प्रेम-प्रवण हृदय प्रतिध्वनित नही होता, इसमें युग-प्रवाह की एक हलकी लहर है जो सिंध से राजस्थान मे सीधे प्रवाहित हो रही थी। मीरा के यहा सब प्रकार के साधुओ और फकीरो का सीधा प्रवेश था। कहीं किसी के लिये कुछ भी रोक टोक थी ही नहीं। मीरा सब की सुनती थी पर उसका हृदय, उसका रोम-रोम प्राणाधार श्रीकृष्ण के रूपरग मे डूबा हुआ था। निर्गुणियो मे 'नाम' की साधना थी ही और योगियो के 'करिश्मे' जनसाधारण को चक्कर मे डालने के लिए काफी थे। इन पदो से यही पता चलता है कि मीरा ने अनहद आदि की बाते सुन ली थी और उसके 'त्रिकुटी महल' मे जो 'झरोखा' था वहाँ से भी वह श्यामसुन्दर की ही झाँकी लगा रही थी; उसी रूपरस का पान कर रही थी और इसीसे वह कहती है—

'इन नैनन मेरा साजन बसता डरती पलक न लाऊँ री'।

विरह-वेदना

रवीन्द्र ने एक स्थान पर कहा है—'केवल अतीत या वर्तमान मे ही नही, प्रत्येक मनुष्य के बीच मे अतल-स्पर्श विरह है। हमलोग जिससे मिलना चाहते है वह अपने मानस-सरोवर के अगम्य तीर पर निवास कर रहा है। वहाँ केवल कल्पना पहुँच सकती है। सशरीर वहाँ उपस्थित होनेका कोई मार्ग ही नही है। तुम कहाँ और हम कहाँ? बीच मे जो अनन्त वर्तमान है उसे कौन पार कर सकता है? अनन्त के केन्द्र मे वर्तमान उस प्रियतम अविनश्वर मनुष्य का कौन साक्षात्कार कर सकता है? आज केवल भाषा-भाव में, आभास-इङ्गित मे, भूल-भ्रान्ति में, आलोक-अधकार में, देह-मन मे और जन्म-मृत्यु के द्रुतगामी धारावेग में उसकी कुछ-कुछ वायु स्पंदित होती है। यदि तुम्हारे निकट से दक्षिण पवन मेरे पास पहुँचे तो वही मेरे लिए बडा भारी सौभाग्य है! इससे अधिक इस विरह लोक में और क्या आशा की जा सकती है?'

मिलन और विरह के बीच प्रेम का पहाडी सोता स्वच्छन्द गति से बहता चला जाता है। मिलन का रस हल्का और विरह का गाढा होता है। मिलन में प्रेम का प्रवाह कुछ मद पड जाता है परन्तु विरह मे वही तीव्र हो जाता है। मिलन का सुख क्षणिक एव अस्थिर है, विरह का दुख (इसे 'दुख' ही कहा जाय?) स्थायी एव स्थिर होता है। मिलन हमारे जीवन की सतह को छूता है, परन्तु विरह हमारे अन्तस् के सभी तारो को झकृत कर देता है।

मिलन अंत है मधुर प्रेम का और विरह जीवन है।
विरह प्रेम की जागृति गति है और सुषुप्ति मिलन है॥

वस्तुत सुख की अपेक्षा दु ख का प्रभाव हमारे हृदय पर अधिक काल तक रहता है। सुख में हम उतराते और दु ख मे डूब जाते है; सुख मे हम अपने से बाहर परन्तु दु ख मे अपने भीतर चले जाते है। सुख हमें हलका और दु ख गभीर बना देता है। रवीन्द्रनाथ ने अपनी किसी कविता मे कहा है कि मेरे भीतर कोई विरहिणी नारी है जो अपने दु ख का, विरह-वेदना का, गीत सुनाया करती है। प्रत्येक सच्चे कलाकार के भीतर एक तडपता हुआ विरह-विह्वल नारी-हृदय होता है और उसी की अभिव्यक्ति सच्ची कला है। अधरो पर की क्षणिक मुसकान के भीतर से वेदना झाँक रही है, एक क्षण के लिए मिलकर जो हम अनन्त काल के लिए विरहाग्नि मे झुलसने के लिए छोड दिये गय है, सुख की इस अस्थिर छाया के भीतर दु ख का जो बडवा-नल अगडाइयाँ ले रहा है वही जीवन का सच्चा रूप-रस है, कला का मूल प्राण है। इसी विरह-विदग्ध जीवन का रेखा-चित्र काव्य की परमोत्कृष्ट व्यजना है। यही शोक 'श्लोक' बन जाता है।

चण्डीदास की राधा का यह क्रदन जीव-जीव के हृदय का क्रन्दन है—

सुखेर लागियाए धर बाँधिनु
अनले पुड़िया गेल
अमिय सागरे सिनान करिते
सकलि गरल भेल

हिन्दी-साहित्य में विरह के दो सर्वोत्कृष्ट कवि हुए—जायसी और घनानद। जायसी समस्त चराचर को उस परम प्रेम मे व्याकुल देखते है—

'उन बानन्ह अस को जे न मरा
बेधि रहा सगरो ससारा'

और उनका सब से बडा रोना भी यही है—

पिउ हिरदय महँ भेट न होई।
को रे मिलाव कहौं केहि रोई ।।'

राम के विरह मे सीता का कलपना तथा कृष्ण के लिए गोपियो का तडपना अवश्य ही मर्म-स्पर्शी और हृदय के तन्तुओ को आदोलित कर देने वाला है। सीता के विरह में वेदना का जो उभार है वह गोपियो के विरह से अधिक सयत एव लोकमर्यादा के अदर है। 'कोमल चित कृपालु रघुराई सो केहि हेतु धरी निठुराई' मे कितनी मर्म-स्पर्शिनी भाव-व्यजना है! यहाँ, इस चौपाई मे, एक ओर तो 'कोमल चित्त' दूसरी ओर 'निठुराई' अतएव कवि ने एक गभीर व्यग्य द्वारा सीता के मर्माहत प्राणो की विकलता का

सकेत मात्र कर दिया है। सूर की गोपियाँ तो प्रकृति के ह्रास-विलास मे अपने विरह का ही चित्र देखती है। हरे-भरे मधुवन पर सात्विक 'खीझ' की उनकी कैसी सुन्दर उक्ति है—

मधुवन तुम कत रहत हरे ?
विरह वियोग स्यामसुन्दर के ठाढ़े क्यो न जरे ?

सूर का-विरह-वर्णन गोस्वामीजी के विरह-वणन से अधिक व्यापक है परन्तु इन दोनो से बढकर है जायसी का विरह-वर्णन। इन विरह-वर्णनो मे इन कवियो ने अपने हृदय मे अनुभव किये हुए दिव्य विरह का थोडा-बहुत सकेत किया है। 'कथाच्छलेन' अपनी विरह-कहानी कही है। परन्तु विरह के ऊपर कहानी की चादर पडी हुई है। जायसी की चादर औरो की अपेक्षा बहुत ही झीनी है जिस के भीतर से विरह मे तडपते हुए प्रेमोन्माद-पूर्ण भावुक कवि के विरह-विधुर हृदय की धडकन स्पष्ट सुनाई पड रही है।

मीरा का विरह-वर्णन, विरह-वर्णन के लिए नही है। 'प्रेम लपेटे अटपटे' छदो मे अल्हड प्रेम-योगिनी मीरा ने अपने करुणा-कलित हृदय को हलका किया है। मीरा का दुख एक आतुर भक्त का दु.ख है, प्रेम मे घायल और घुलते हुए साधक का दु.ख है, एक प्रेमी का दुख है, कवि का एक उधार लिया हुआ दुख नही है। मीरा अपने ही विरह को अपने भोले-भाले गीले शब्दो म सुना रही है, उसके हाथ मे न गोपियाँ है, न सीता, न शकुन्तला, न दमयन्ती, न पद्मावती और न नागमती। मीरा का दुख उधार लिया हुआ नही है।

मीरा का विरह गहरा अधिक है, व्यापक कम। उसमे प्रकृति के नाना रूपो एव विलासो के साथ तन्मयता स्थापित करने की न चिन्ता ही है और न अवकाश ही। मीरा का विरह उस मुग्धा स्त्री के विरह के समान है जिसका पति एक क्षण स्वप्न मे मिलकर, अधरो पर चुबन का दाग छोड कर सदा के लिए, कभी भी न लौटने के लिए परदेश चला गया हो तथा जिसे अपनी प्रियतमा की सुध लेने की भी सुध नही है। जब-जब मेघ घिर आते है और रिमझिम बूंदे बरसने लगती है तब-तब साजन की सुध हरी हो आती है, ताजी हो आती है और हृदय डॉवाडोल हो उठता है। फागुन मे जब-जब सखियाँ धमाचौकडी मचाने लगती है, रगरलियाँ करने लगती है, और प्रीतम से मिलने की तैयारी करने लगती है उस समय मीरा के हृदय मे अपने 'परदेशी' के लिए एक गहरी व्यथा उभर आती है। मीरा का दुख तो एक अकथ कहानी है; उत्सर्ग का, प्रेम की वेदी पर सर्वस्व-समर्पण का

एक सर्वोत्कृष्ट जीवन्त उदाहरण है। शब्दो में उस दुःख को नापा नही जा सकता, वह केवल अनुभवगम्य है। मीरा के अधिकाश गीत विरह-वेदनात्मक ही है। मीरा के विरह-पदो मे उसका हृदय लिपटा हुआ दृष्टिगोचर होता है।

मीरा की विरह-दशा की उद्दीप्ति तीन भिन्न-भिन्न परिस्थितियो मे हुई है। स्वप्न में एक क्षण के लिए मिलकर 'वह' सदा के लिये चला गया और कभी लौटने की कौन कहे, सुध लेने की भी उसने कृपा न की। मीरा के विरह का प्रधान स्वरूप यही है। सावन भादो के महीने प्रोषित पतिकाओ के लिये बडे ही दाहक तथा विरहोत्तेजक होते है। मेघो का गरजना, लरजना, बिजली का कौंधना हृदय को कँपा देता है। मिलन की वासना उस समय अत्यन्त तीव्र हो जाती है, 'हहरि हहरि अधिकौ हिय काँपै!' उस समय का एकात बहुत ही खलता है और प्राणो की विकटतम पीडा को बुरी तरह छेड-कर, उकसा कर, कुरेद कर वह विरहिणी को बेबस और लाचार कर देता है।

मधुमास में—माघ-फागुन के महीने मे पति का परदेस रहना तो और भी दुखदाई होता है, विशेषत जब मलयानिल के झकोर हृदय के तार-तार को, रेशे-रेशे को झकझोर रहे हो और पास की सखियाँ केलि-क्रीडा मे मदमस्त हो। दूसरो का उल्लास हमारे विषाद को अत्यधिक तीव्र कर देता है। इन्ही तीन अवस्थाओ मे मीरा की विरह-व्यँजना हुई है।

विरहिणी को पति का प्रवास इसलिए अधिक खलता है कि उसकी हम-जोली सखियाँ अपने-अपने पति के साथ रास-रग मे मस्त है और वह इस प्रकार अकेले करवट बदल कर, तडप-तडप कर रात काट रही है। दिन मे तो मन ज्यो-त्यो बहल भी जाता है परन्तु रात तो बस कयामत की होती है, काटे नही कटती—

> मैं बिरहिण बैठी जागूँ जगत सब सोवै री आली।
> विरहिन बैठी रग महल में मोतियन की लड़ पोवै॥
> इक बिरहिन हम ऐसी देखी अँसुवन की माला पोवै।
> तारा गिण गिण रैण बिहानी सुख की घडी कब आवै।
> मीरा के प्रभु गिरिधर नागर मिलिके बिछुड़ न पावै॥

मीरा को ऐसा अनुभव हो रहा है कि वह परम प्रियतम 'नेह' लगाकर और हृदय मे प्रेम की वाती जला कर ठीक मिलन-बेला मे विरह-समुद्र में छोड गयी है—

प्रभुजी थें कहा गयो नेहड़ी लगाय।
छोड गया विस्वास सघाती प्रेम की बाती बराय ।।
विरह-समुंद मे छोड़ गया हो, नेह की नाव चलाय।
मीरा के प्रभु कवरे मिलोगे, तुम बिन रह्यो न जाय ।।

आम की डाल पर, इस विरह की अवस्था मे एक कोयल बोलती है और मीरा की सारी वेदना उमड़ आती है—

ऑबा की डार कोयल इक बोलै,
मेरो मरण ग्ररु जग केरी हाँसी।

क्षण भर के लिए उसमे मिलकर मीरा सदा के लिए उससे बिछुड गयी है। उस मिलन के क्षण मे भी वह न भर आँख देख सकी, न उससे जी खोल कर बातें ही कर सकी—

पाट न खोल्या मुखाँ न बोल्या, साँझ भई परभात !
ग्रबोलणाँ जुग बीतण लागो, तो काहे की कुसलात ।।

और अब उसके बिना 'तरस तरस तन जाइ', निस दिन उसकी बाट जोहती रहती है, दिन में चैन नही, रात में नीद नही। रात उसके बिना सूनी सेज पर सिसकते-सिसकते बीतता है, काटे नही कटती—

खिण मदिर खिण ग्रागणे रे खिण खिण ठाढी होइ।
घायल ज्यू घूमूं सदा री म्हारी बिथा न बूझै कोइ ।।

पर यह भूल न जाना चाहिये कि प्रेम की यह 'पीर' आनन्द-मूलक है एव आनन्द-विधायक भी है। प्रेमी इसमें से निकलना नही चाहता। अश्रु-धारा की तह मे आनन्द की रेखाएँ स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही हैं। विरह मे आनन्द लुप्त नही हो जाता, केवल 'आवृत' रहता है। मिलन की जो उत्सुकता है, जो मगलाशा है वह आनन्दमय है और स्वय प्रेम का बहुत ही निखरा हुआ भाव है।

हृदय की विकलता बढ जाती है, 'प्रतीक्षा' तीव्र हो उठती है—

राम मिलण के काज सखी मेरे ग्रारति उर में जागी री।
तलफत तलफत कल ना परत है बिरह बान उर लागी री ।।
निस दिन पंथ निहारूँ पिव को पलक न पल भर लागी री।
पीव पीव मैं रटूं रात दिन दूजी सुधि बुधि भागी री ।।
विरह भुवग मेरो डस्यो है कलेजा लहरि हलाहल जागी री।
मेरी ग्रारति मेटि गोसाईं ग्राइ मिलौ मोहि सागी री।
'मीरा' ब्याकुल ग्रति ग्रकुलाणी पिया की उमँग ग्रति लागी री।

'विरह भुवगम' से डसे हुए हृदय की 'कामना' भी तो देखिए। वह तो बस एक बार अपने 'प्राणरमण' को भर आँख देखना ही चाहता है—

पिया म्हारे नैंना आगे रह्यो जी।
नैणा आगे रह्यो जी म्हाने भूल मत जाज्यो जी।

मीरा 'परदेशी प्रीतम' को पाती लिखने बैठती है पर लिख नही पाती—

पतियाँ मैं कैसे लिखूँ लिखही न जाई।
कलम धरत मेरो तन मन काँपत, हिरदो रह्यो धर्राई।
बात कहूँ मोहि बात न आवै नैन रहै झर्राई।
किस बिधि चरण कँवल हौ गहिहौं सबही अग थर्राई।।

शरीर काँपने लगता है, हृदय घबडाने लगता है, बात कहना चाहती है पर कह नही पाती। प्रियतम मिलेगे भी तो वह उनके चरणकमलो को कैसे गहेगी यह सोच सोच कर उसके सारे अग थरथरा उठते है।

सबसे बडी विपद् तो यह है कि पिय का 'देस' भी जाना हुआ नही है—न वहाँ पहुँचने का रास्ता ही मालूम है—यदि आगे बढने का जी चाहता भी है तो फिसलन और निविड़ अधकार—

गली तो चारो बंद हुई हरि सूँ मिलूँ कैसे जाय!
ऊँची नीची राह रपटीली पांव नहीं ठहराय।
सोच सोच पग धरूँ जतन से बार बार डिग जाय।

और प्रेमी की इस बेबसी का हाल कोई क्या जाने, कैसे समझे? घायल की गति कोई घायल ही जानता है अथवा वह जिसने तीर मारा हो। इस 'दर्दये इश्क' की दवा भी तो बस दीदार ही है। कलेजे की करक को दूसरा भला कैसे समझेगा?

हेरी मै तो प्रेम-दिवाणी मेरा दरद न जाणे कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी किस विध मिलणा होय।
घायल की गति घायल जाणे की जिन लाई होय।
दरद की मारी बन बन डोलूँ बैद मिल्या नहिं कोय।।
मीरा के प्रभु पीर मिटैगी जब बैद साँवलिया होय।।

भावों को तीव्र करने के लिए तथा अपनी साधना को अटल करने के लिए भक्त लोग भिन्न-भिन्न भावनाओ एवं सबधों को सामने ला-लाकर भाव-मग्न हुआ करते है। मीरा ने अपने विरह की तीव्रता को मीन, चातक, चकोर, पपीहा द्वारा व्यक्त किया है। मछली का जीवन-आधार जल

है, वह उसके बिना जी ही नही सकती—'जैसे जल के सोखे मीन क्या जीवें विचारे।' यही गति पपीहे और चकोर की भी है। उन्हे अपने प्राणधन के अतिरिक्त ससार की कोई भी वस्तु सुख पहुँचा नही सकती, तृप्त कर नही सकती। मछली, पपीहा और चकोर का प्रेम अनन्य और एकागी है। जल को मछली के जीने मरने का खयाल नही है। चन्द्रमा को क्या पता कि उसके विरह मे चकोर पर कैसी बीत रही ह। स्वाति को पपीहे के सुख-दुख की सुध कहाँ है? उसी प्रकार उस निर्मोही साँवरे को मीरा की क्या खबर?

जायसी की भावुकता, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, बहुत ही गहरी एवं व्यापक है और उसके लिए प्रकृति के नाना रूप एव विलास दर्पण मात्र हैं। 'बारहमासे' और 'षड्ऋतु' के वर्णन में प्रकृति के साथ कवि का कितना तादात्म्य झलकता है, अपने अन्तस् के प्रतिबिम्ब को प्रकृति मे निरख कर जायसी ने कितनी सुन्दर भाव-व्यजना की है—

आवा पवन बिछोह कर पात परा बेकरार।
तरिवर तजा जो चूरि कै लागै केहि के डार॥

तथा

पहल पहल तन रूई झाँपै, हहरि हहरि अधिकौ हिये काँपै।

सूरदासजी का विरह वर्णन जायसी के समान गभीर भले ही न हो परतु व्यापक कम नही है। पपीहे आदि को गोपियो ने खब सुनाया है—

हौं तो मोहन के विरह जरी रे! तू कत जारत?
रे पापी तू पखि पपीहा! पिउ पिउ पिउ अधि रात पुकारत।

नागमती का रोना सुनकर तो घोसलो मे बैठे हुए पक्षियो की नीद हराम हो गई है—

तू फिर फिर दाहै सब पाँखी,
केहि दुख रैनि न लावसि आँखी।

मीरा पपीहे को उपालभ देती है—

रे पपइआ प्यारे कब को बैर चितारयो
मैं सूती छी अपने भवन में पिय पिय करत पुकारयो।
दध्या ऊपर लूण लगायो हियड़े करवत सारयो।

विरह से तो हृदय यों ही जला हुआ है उस पर पपीहा 'पी कहाँ, पी कहाँ' से जले पर और नमक छिडक रहा है। विरह की अग्नि में जलते हुए हृदय की 'खीझ' देखिए—

पपइया रे पिव की वाणी न बोल ।
सुणि पावे जो बिरहिणि रे थारो राखे ली पांख मरोड ।
चोच कटाउँ पपइया रे ऊपरि ताकर लूण ।।

वही पपीहा 'मिलन' में सुखद हो जाता है, उसकी बोली मीठी लगती है —

थारा सब्द सुहावणा रे जो पिव मेला आज ।
चोच मढाउँ थारी सोवनी रे तू सिरताज ।।

भक्तवर सूरदासजी ने भी तो 'बहुत दिन जीवौ पपीहा प्यारे' द्वारा, मिलन के सुखद समय में प्रतिकूल का अनुकूल हो जाना माना है और पपीहे को हृदय से आशीर्वाद दिया है । अस्तु

साजन के विना एक पल भी जीना कठिन ही नहीं, असभव है—

सजन सुध ज्यो जानै त्यो लीजै ।
तुम बिन मेरो और न कोई कृपा रावरी कीजै ।।
दिवस न भूख रैन नहि निंदिया यो तनु पलपल छीजै ।
पलपल भीतर पथ निहारूँ दरसण म्हाँने दीजै ।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर मिलि बिछुरन नहि दीजै ।।

कबीरदास भी अपनी विरह-वेदना कुछ ऐसे ही व्यक्त करते हैं—

तलफै बिन बालम मोर जिया ।
दिन नहि चैन रात नहि निंदिया तड़प तडप के भोर किया ।
तन मन मोर रहट अस डोलै सूनि सेज पर जनम छिया ।।
नैन थकित भये पथ न सूझे साँई बेदरदी सुध न लिया ।
कहत कबीर सुनो भाई साधो हरो पीर दुःख जोर किया ।।

तुलसी साहब ने गाया है —

व्याकुल विरह दिवानी, झडै नित नैनन पानी ।
हरदम पीर दिल की खटकै सुधि बुधि बदन हिरानी ।।
नाड़ी बैद बिथा नहिं जानै, क्यो औखद दे आनी ।
हिय में दाग जिगर के अन्दर क्या कहि दरद बखानी ।।
तुलसी रोग रोगिया बूझै, जिसको पीर पिरानी ।।

दादू ने किस उल्लास के साथ अपनी सूनी सेज पर साजन का आवाहन किया है !—

बल्हा सेज हमारी रे तूँ आव, हौं वारी रे, दासी तुम्हारी रे ।
तेरा पथ निहारूँ रे, सुदर सेज सँवारूँ रे, जियरा तुम पर वारूँ रे ।।
तेरा अगना पेखौ रे तेरा मुखडा देखौं रे, तब जीवन लेखौं रे ।
मिलि सुखड़ा दीजे रे, यह लाहा लीजे रे, तुम देखै जीजे रे ।
तेरे प्रेम का माती रे, तेरे रंगड़े राती रे, दादू वारणे जाती रे ।।

प्रकृति का जो अनुपम उल्लासपूर्ण शृगार है वह 'प्रीतम' के आगमन की तैयारी मे है—

सुनी हो मै हरि आवन की आवाज ।
दादुर मोर पपइया बोलै कोइल मधुरे साज ।
उमँग्यो इन्द्र चहूँ दिसि बरसै दामिणि छोड़ी लाज ।।
धरती रूप नवा नवा धरिया इन्दु मिलण कै काज ।।

सावन-भादो की रात विरहिणियो के लिए मरणान्तक होती है—सूरदास जी ने भी 'पिया बिनु साँपिनि कारी रात' द्वारा वेदना की तीव्रता दिखाई है । रिमझिम बूंदे बरस रही है, इधर मीरा रो रही है—

बादल देख झरी हो स्याम मै बादल देख झरी ।
जित जाऊँ तित पानिहि पानी हुई सब भोम हरी ।
जा का पिव परदेस बसत है भीजै बार खरी ।

यह सुहावना सावन पिया के बिना आग की वर्षा करता दीखता है—

मतवारो बादल आयो रे हरि के संदेसो कछु नहि लायो रे
फूंके काली नाग विरह की जारी मीरा हरि मन भायो रे

इन्ही बूंदो से मिलने के समय मीरा धीरे-धीरे बरसने का निहोरा करती है—

मेहा बरसबो करे आज तो रमियो मेरे घरे रे ।
नान्हीं नान्ही बूंदे मेघ घन बरसे सूखे सरवर भरे रे ।।
बहुत दिना पर प्रीतम पाए बिछुरन को मोहि डरु रे ।
मीरा कहे अति नेह जुड़ायो मै लियो पुरबलो वर रे ।।

'पुरबलो वर' के विषय में पहले ही निवेदन किया जा चुका है कि मीरा पूर्व जन्म में श्रीकृष्ण की सखी है ।

सावन-भादो ने मिलन की उत्सुक वासना होती है उससे कही बढकर फागुन में होती है । सारी वसुधरा वसती साड़ी पहन कर अपूर्व साज सजाती है और सर्वत्र मिलन का एक अपूर्व वातावरण फैला रहता है । चित्त 'किसी'

से मिलने के लिए उत्क्षिप्त हो जाता है, रोम-रोम मे मिलन की लालसा जग कर अँगडाई लेने लगती है और विचारे हृदय की अजीब हालत हो जाती है। ऐसे मधुमय समय ने जब सभी सखियाँ सोलहो शृगार सजा कर अपने 'प्रीतम' से मिल रही है मीरा का घायल हृदय छटपटा उठता है, उसे 'तालावेली' लग रही है—

किण सँग खेलूँ होरी पिया तजि गये है अकेली।
बहुत दिन बीते अजहूँ नहिं आये लग रही तालाबेली।
स्याम बिना जिवड़ो मुरझावै जैसे जल बिन बेली॥

तथा

होली पिया बिनु मोहि न भावै घर अंगणा न सुहावै।
दीपक जोय कहा करूँ हेली पिय परदेस रहावै।
सूनी सेज जहर ज्यूँ लागै सुसक सुसक जिय जावै॥

इस प्रकार सावन और फागुन में प्रकृति के नाना रूपो एव विलासो के उद्दीपन मे मीरा का प्रेम-विह्वल हृदय विरह के अन्तिम छोर पर पहुँच जाता है और उसके हृदय मे भिनी हुई 'हूक' विराट वडवानल का रूप धारण कर लेती है।

अपने प्राणरमण श्री गिरधारी लाल के विना मीरा का हृदय रो रहा है। उसका जीवन धारण ही उसके लिए असह्य हो जाता है। प्रतीक्षा में बैठी मीरा यह आस लगाये हुई है कि अब कोई आकर कह जाय कि तुम्हारे प्राणेश्वर आ रहे है—

कोई कहियौ रे प्रभु आवन की।
आवन की मन भावन की ॥कोई०॥
आप न आवै लिख नहिं भेजै, बाण पडी ललचावन की।
ए दोउ नैन कह्यौ नहिं मानै, नदिया बहै जैसे सावन की॥
कहा करूँ कछु नहिं बस मेरो पाँख नहिं उडि जावन की।
मीरा कहै प्रभु कबरे मिलोगे चेरी भई हूँ तेरे दाँवन की॥

कवियो का दु ख बहुधा उधार लिया हुआ होता है। फिर भी वे उसमें अपने हृदय का रस घोलकर उसको अपना बना लेते है और पाठको को रुला तक देते है। वे उस परिस्थिति मे, जिसमें निर्वासिता सीता, उपेक्षिता शकुन्तला तथा तिरस्कृता पार्वती, विरह-विधुरा पद्मावती एव नागमती रहती है, डालकर अपने को तन्मय, तल्लीन कर देते है और इसी हेतु पाठको पर भी

प्रभाव डालने मे सफल होते है। भवभूति के 'उत्तर रामचरित' में मनुष्य को कौन कहे, 'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलित वज्रस्य हृदयम्'—पत्थर की शिला भी रोने लगती है, वज्र का हृदय टूक टूक हो जाता है। हाँ, इसमें कवि की सफलता अवश्य समझी जानी चाहिए और वस्तुत कवि कर्म है भी यही। मीरा के हाथ मे न गोपियाँ ही थी, न नागमती; न सीता ही थी, न पार्वती ही। मीरा की बात ही दूसरी है। उसका विरही हृदय अपने प्राणनाथ के साक्षात्कार के लिए व्याकुल होकर तडप रहा है। उसे दुनिया की ओर देखने की न आवश्यकता ही है और न अवकाश ही। हिन्दी साहित्य क्या विश्व के किसी भी साहित्य मे सर्वस्व आत्मसमर्पण का वह दिव्य सौंदर्य और माधुर्य जो मीरा के गीतो मे व्यक्त हुआ है अन्यत्र दुर्लभ है। गीतो मे उसके हृदय की धडकन स्पष्ट सुनाई पड रही है। उसका 'दर्द-दिवाना दिल' उसके भीतर से स्पष्टत उन गीतो मे लिपटा हुआ प्रतिबिम्बित हो रहा है। मीरा गाती है, क्योकि वह विरह से बेचैन है। मीरा का दुख कवि का दुख नही है वह एक सच्चे प्रेमी का निजी दुख है। कवि का दुख प्राय. उधार लिया हुआ होता है, प्रेमी का दुख सर्वथा अपना होता है, स्वसवेद्य।

रहस्योन्मुख भावना

रसो वै सः। रस ह्येवायं लब्ध्वाऽनन्दी भवति

श्रुति के इस वचन के अनुसार परमात्मा रस रूप है और उसी को प्राप्त कर मनुष्य सुखी हो सकता है। इस का एक और भी अर्थ है और वह यह कि परमात्मा रसस्वरूप होते हुए भी रस का पिपासु है और उसे यह रस जहाँ मिलता है वह प्रसन्न होता है। उस आनन्द स्वरूप परमात्मा से ही यह समस्त चर-अचर निकला है, उसी मे स्थित है और उसी में लीन हो जाता है—'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दे न प्रयन्त्यभिसविशति'। अतएव यह सब कुछ उसी 'एक' का विद्विलास' है। वह अकेले अपने आप मे 'रमण' नही कर सकता था इसी से उस 'एक' से यह 'अनेक' हुआ, कहना तो यो चाहिए कि उसी एक मे यह अनेक हुआ—

आत्मैवेदमग्र आसीत्'' '' स वै नैव रेमे।

तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत् स हैतावानास यथा स्त्री पुमासौ सम्परिष्वक्तौ स इमवात्मान द्विधापाययत्।

परमात्मा की प्राप्ति क लिए हमारे हृदय की जो सहज उत्कठा है वह अकारण नही है। उसका मूल कारण यह है कि हम जिसे निकले है उसी मे पुन ममा जाना चाहते है, अपने मूल स्रोत मे लीन होकर एकाकार हो जाना चाहते है। परमात्मा और आत्मा का यह अमृतोपम द्वैत केवल आनन्द-विलास के लिए था और इसकी 'समरसता' का आस्वादन सख्य और मधुर दोनो भावो द्वारा किया जा सकता है—

जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोमम्।
मित्रयोरिव दम्पत्योर्जीवात्मपरमात्मनः॥

परन्तु सख्य भाव में वह समरसता पूरी-पूरी नही हो पायी, द्वैत पूरा-पूरा अद्वैत नहीं हो पाया, दूरी कुछ न कुछ बनी ही रही, चाहे वह सुहृद् हो,

चाहे सखा या प्रिय नर्म सखा। इसी लिए हृदय की भूख प्यास पूरी तरह बुझ सके (या और अधिकाधिक धधक जाय ?) इसी लिए दाम्पत्य रति का मधुर या उज्ज्वल रस ही सर्वोपरि माना गया जिसमें आत्मा-परमात्मा की 'प्रणयिनी' होकर अन्तर और बाहर की सारी सज्ञाओ से शून्य होकर सर्वांगता तल्लीन हो जाय। इसी लिए श्रुति कहती है—

• 'तद्यथा प्रियया स्त्रिया सपरिष्वक्तो न वाह्य किचन वेद नान्तरमेवाय पुरुष प्रज्ञानेनात्माना सपरिष्वक्तो न वाह्य किंचन वेद नान्तरम् (बृ० ४-३-२९) उपमन्त्रयते स हिकारो क्षपयते स प्रस्ताव स्त्रिया सह शेते।

यही है आत्मरति, आत्मक्रीडा, आत्ममिथुन, आत्मानन्द। आत्मा और परमात्मा के इस मधुर सबध की जहाँ भी सकेतत विवृति होती है उसी को 'रहस्यवाद' कहा जाता है।

मीरा का प्रेम जैसा हम पहले कह आये है 'माधुर्य्य भाव' का है जिसमे भगवान् की प्रियतम के रूप मे उपासना की जाती है। भक्ति प्रेम मे लय हो जाती है और भक्त परमात्मा को अपना पति मानकर उसके चरणो मे अपने को निछावर कर देता है। पत्नी पति की इच्छा मे अपनी इच्छा, पति के सुख में अपना सुख और पति के प्रेम मे अपना सर्वस्व समर्पित कर देती है। क्षणमात्र के विस्मरण से वह परम व्याकुल हो जाती है—'तदर्पिता-खिलाचारता तद्विस्मरणे परम व्याकुलता'। हिन्दी मे इस रहस्यवाद का पूर्ण विकास सूफी कवियो मे ही हुआ, जहाँ भगवान की प्रियतमा के रूप मे उपासना की जाती है। कबीर में भी यत्र-तत्र जो उत्कृष्ट रहस्यवाद मिलता है वह माधुर्य भाव से ओतप्रोत है। सूफी सतो ने अपने परम भावुक हृदय के विस्तार में 'परम रूप' की परिछाँही समस्त चर अचर में, अणु-अणु में देखी और उसमें अपनी निजी सत्ता को खो दिया।

> 'देखेउँ परम हंस परिछाँही,
> नयन जोति सो बिछुरत नाँही।'

सूफियो ने समस्त चराचर मे बिखरी हुई सौन्दर्य्य-सत्ता को उसी परम रूप में सबद्ध देखा और सभी 'बुत' मे 'जल्वए खुदा' का साक्षात्कार किया। उनका समाज मूर्त्तिपूजा अथवा किसी भी प्रतीकोपासना के विरुद्ध था। फिर भी, एकेश्वरवाद के उस सुदृढ बन्धन के भीतर से भी विशुद्ध अद्वैतवाद बहुत ही निखरे हुए रूप मे प्रकट हुआ और हल्लाज मसूर 'हक

हक अनल हक, हक हक अनल हक' कहते कहते फाँसी पर लटक गया।
*सूफियो के अद्वैतवाद और शङ्कर के मायावाद में मूलत भेद यह है कि सूफियो की भावना प्रेम-मूलक, अनुभूति-प्रसूत थी और वे अपनी निजी सत्ता को उस परम सत्ता में, जो समस्त चराचर को बेधती हुई चली गई है, लय कर देते थे। वेदात का अद्वैत ज्ञान-मूलक अथच चिन्तन-प्रसूत है, सूफियो का अद्वैत प्रेम-मूलक अतएव भावना-प्रसूत है।

मानव-प्रकृति तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति कबीर की दृष्टि जायसी की भाँति व्यापक न थी और न इतनी रसग्राहिणी ही थी। 'हरि मोर पिउ मै हरि की बहुरिया' मे बहुत ही सुन्दर भाव-व्यजना है पर कबीर व्यक्त उपासना के परम विरोधी थे और निर्गुण सतो ने अवतार का घोर विरोध भी किया इस हेतु यद्यपि इनमे परम भाव की झलक, व्यक्त और अव्यक्त रूप में, सर्वदा विद्यमान है फिर भी आश्रय एव आलबन की ठीक-ठीक व्यवस्था न होने के कारण भक्ति-रस की पूर्णत निष्पत्ति न हो पाई। कबीर का लक्ष्य हृदय बेधने का न रहा। वे मस्तिष्क मे ज्ञान की ज्योति जगाकर हमें 'उत्तिष्ठत जाग्रत' का सदेशमात्र देकर सतुष्ट न हुए, उन्होने झकझोर कर हमे जगा ही दिया।

'सुधार' का मर्ज उन्हे बुरी तरह लगा रहा। सचमुच समाज उस समय इतना जर्जर और पाषण्डोपासक हो भी गया था कि अवश्य ही कबीर जैसे झाडफटकार वाले निर्भय 'सुधारक' की आवश्यकता थी। परन्तु नारियल की तरह, इस कठोरता के अदर कबीर का हृदय रस से लबालब भरा था। मस्तिष्क में ज्ञान का प्रखर प्रकाश, हृदय में भक्ति और प्रेम का अमृत सरोवर— यह है कबीर का सही रूप। जो लोग 'झाडफटकार' से ही भाग खडे हुए उन्हे कबीर के हृदय का अमृत रस नसीब नही हुआ—

भींजै चुनरिया प्रेमरस बूँदन।
आरत साज के चली है सुहागिन पिय अपने को ढूँढन।

मीरा अपने हृदय के अदर बसनेवाले 'पिया' के प्रेम में इतनी पगी हुई है कि वह 'उन' के साथ 'झिरमिट' खेलने जाती है और वहाँ 'वह' उसकी 'गाँती' खोलकर उसे हृदय से लगा लेता है। यदि 'वह' कही परदेश हो तो पाती भी भेजी जाय पर जो हृदय के हृदय में बस रहा है उसे क्या लिखना?

---

*देखिये निकल्सन की 'Mystics of Islam' पृष्ठ १३६

उसके पास क्या आना क्या जाना ? मीरा की यह सर्वथा एकान्त प्रणयरति है, प्राणो का प्राणेश्वर के साथ रमण है (आत्मा परमात्मा की चर्चा से यहाँ रसभङ्ग हो जायगा, यह जैसा है उसे उसी रूप मे ग्रहण कीजिए) । भगवान् के साथ भक्त के इस एकान्त प्रणय सबध में कही किसी प्रकार का छिपाव नही रहता, कोई वस्तु अदेय नही रह जाती । भागवद्विषयक राग मे किसी प्रकार की सीमा या बधन है ही नही ।

मीरा न तो कबीर की भाँति ज्ञानी ही थी न जायसी की तरह कवि ही । वह एक मात्र प्रेम की पुजारिन थी । मीरा की प्रेमानुभूति जायसी की भाँति व्यापक भले ही न हो परतु गहरी कम न थी । सावन के रिमझिम में जब मेघ घिर आते है, आँगन मे पानी ही पानी हो जाता है, बिजली कडकने लगती है और फुहियाँ बरसने लगती है; उस समय उस 'न मिलनेवाले' के लिए, उस 'ना, ना की मधुर मूर्त्ति' के लिए हृदय मे बेकली का भयंकर दावानल धाँय-धाँय करने लगता है । लू से तपी हुई पृथ्वी पर बून्दें बरसाकर 'उस' ने आर्द्रता एव शीतलता का सचार कर दिया है । हरियाली उग आई है परन्तु विरहिणी के अन्तस् का ताप, हृदय की व्यथा ज्यो-की-त्यो है, बल्कि और भी उभर आई है—

> **बादल देख झरी हो स्याम मैं बादल देख झरी ।**
> **काली पीली घटा ऊमड़ी, बरसी एक घरी ।।**
> **जित जाऊँ तित पाणी पाणी हुई भोम हरी ।**
> **जाका पिव परदेस बसत है भीजूँ बाहर खरी ।।**

दादुर, मोर, पपीहे की बोली उद्दीपन विभाव है और हृदय मे इस कारण कसक उठती है, ऐसा भान होने लगता है कि स्वय 'महराज' ही आ रहे है । मीरा अपने महल पर चढकर 'उन' के आगमन की तीव्र प्रतीक्षा करने लगती है । मोर और पपीहे की बोली से हृदय में जो उत्सुकता' जग उठी है उसमें पिया के आने की आवाज स्पष्टत सुन पडती है—

> **सुनि हो मैं हरि आवन की आवाज ।**
> **म्हैल चढ़ै चढ़ि जोऊँ मेरी सजनी कब आवै महाराज ।।**

सारी सृष्टि मिलन की उत्कण्ठा मे साज सजा रही है । इस महामिलन के मगल-सूचक कोयल, मोर और पपीहा अपनी तान छेडे हुए है । चारो ओर रिमझिम बूँदें बरस रही है; दामिनी भी अपनी लज्जा छोडकर अपने प्राणेश घनश्याम से मिल रही है । अपने पति से मिलने के लिये पृथ्वी ने भी नई

हरी साडी पहन ली है। ऐसे समय जब सारा चराचर मिलन के रस मे सराबोर हो रहा है मीरा को प्राणवल्लभ का वियोग बहुत ही खल रहा है। उसे यह आशा दृढ हो आती है कि हृदयधन के अब दर्शन हुए ही चाहते है—प्रेम की इसी वर्षा मे कबीर भी भीग रहे है—

कबीर बादल प्रेम का, हम परि बरस्या ग्राइ।
ग्रतरि भींगी ग्रातमा, हरी भरी बनराइ॥

उस 'निठुर' के लिये सारी रात 'जगकर विहान' किया फिर भी 'वह' न लौटा—

सखी मेरी नींद नसानी हो।
पिय को पंथ निहारत सिगरी रैण विहानी हो।
बिन देख्या कल नाहि परत जिय, ऐसी ठानी हो॥
ग्रगि-ग्रगि व्याकुल भई मुख पिय पिय बानी हो।
ग्रतर-वेदन बिरह की वह पीड़ न जानी हो॥
ज्यो चातक घन कूँ रटै मछरी जिमि पानी हो।
'मीरा' व्याकुल बिरहणी सुध बुध बिसरानी हो॥

उस विरहिणी मीरा की 'प्रतीक्षा' और भी तीव्र हो जाती है। 'उस' की स्मृति मे वेदना का आनन्द घुला मिला है। प्रसाद के शब्दो मे—

लिपटे सोते थे मनमें
सुख दु.ख दोनो ही ऐसे,
चद्रिका ग्रँधेरी मिलती
मालती कुज में जैसे

मधुमास में जबकि सर्वत्र आनन्द लहलहा रहा है, लतावल्लरियाँ फूलो के भार से झुक गई है, अमराइयो मे से मजरी की मँह मँह आकर हृदय की कली को खिला जाती है और मलयानिल के झोके से सर्वत्र उन्माद उमडा-फिरता है, एक अनिर्वचनीय आनन्द चर-अचर के प्राण प्राण मे भर जाता है, मानो 'किसी' के साथ मिलने की, किसी का अग सग प्राप्त करने की आकाक्षा से समस्त चित्त उत्क्षिप्त हो उठता है। प्रेमिका की चित्त-कलियाँ 'किसी' के सकेत से विकसित हो उठती है, 'कोई' मानो उसका बिल्कुल अपना-सा है जिसे पाने के लिए चित्त उन्मत्त-सा हो उठता है, ऐसे समय म मीरा के हृदय का 'सूनापन' और भी बढ जाता है।

'सूनो गाँव देश सब सूनो सूनी सेज अटारी।
सूनी बिरहिन पिव बिन डोलै तज गई पिव पियारी।:
देस बिदेस संदेस न पहुँचै हो अदेसा भारी।
गिणता गिणता घिस गई रेखा अंगरिया की सारी।।

बुल्ला साहब ने भी इसी प्रकार गाया है—

देखो पिया काली मो पै भारी।
सुन्नि सेज भयावन लागी मरौ विरह की जारी।।
प्रेम प्रीति वह रीति चरण लगु पल छिन नाहि बिसारी।
चितवत पंथ अंत नहि पायो, जन बुल्ला बलिहारी।।

ऐसा जान पडता है कि मानो एक क्षण के लिये मिल कर मीरा सदा के लिये अपने प्राणाधार से बिछुड गयी है। एक बार, बस एक बार, कभी मीरा के हृदय ने उस 'निर्मोही' के आलिगन का, अधरो ने उसके चुम्बन का रस पाया है, उस 'एक क्षण' की स्मृति ही मीरा की वेदना को उत्तप्त और उस के विरह का उद्दीप्त किये रखती है। मिलन तो दूर रहा अब तो क्षणमात्र दर्शन भी दुर्लभ है—

गली तो चारो बन्द हुई मै हरि से मिलूँ कैसे जाय।
ऊँची-नीची राह रपटीली, पावँ नहीं ठहराय।
ऊँचा-नीचा महल पिया का मो पै चढ्या न जाय।
पिया दूर पंथ म्हाँरा झीना सुरत झकोला खाय।।

एक बार प्रेम का आस्वादन करा कर 'वह' चला गया और हृदय को विरह की आँच में भस्म होते देखकर भी उसे दया नही आती ?

'मीन जल के बिछुरे तन, तलफि के मरि जाय'

प्रेमी की स्थिति का अवलम्ब, जीवन का एकमात्र आधार उसका प्रेम ही है, उसके बिना मीरा का जीवन ही असम्भव है, मछली पानी के बाहर कैसे जी सकती है ? कबीर कहते है—

आइ न सकौं तुझ पै, सकूँ न तोहि बुलाइ।
जियरा यौं ही लेहूँगे, बिरह तपाइ तपाइ।

तथा

आठ पहर का दाझणा मो पै सह्या न जाइ।

विरह का यह दुख (इसे 'दुख' भी तो नही कह सकते) दुनिया नही समझ पाती—'घायल की गति घायल जानै, या जिहि पीर लगाई हो।'' कबीर भी यही अनुभव करते है—

चोट सताणी बिरह की सब तन जर-जर होय,
मारणहारा जाणि है, कि जिहि लागी होय ।।

जायसी की भाँति मीरा मे भी बारह मासे का एक वर्णन मिलता है परन्तु उसमे न तो जायसी की भाँति व्यापकता ही है, न हृदय को उतनी निगूढ अनुभूति मूलक भावना ही । वह वर्णन बहुत ही चलता हो गया है । प्रकृति के इस अनुपम साज शृगार के भीतर मीरा के दिन 'काग उडाते कब तक बीतेंगे इसी का बार-बार बार सकेत है । मीरा की दृष्टि प्रकृति की सुषमाओ पर बहुत ही कम गई है, जो गई भी वह केवल हृदय की वेदना को उभारने वाली वस्तुओ एव दृश्यो पर ही । स्त्रियो का हृदय, अब भी गाँवो मे देखा जाता है, अपनी भाव-प्रवणता मे प्रकृति की सभी लीलाओ मे पूर्णत रम जाता है । परतु यह रमना कवियो का रमना न हो कर प्रेमिकाओ का अपने प्रोषित पति के आगमन एवमिलन के उद्दीपन रूप मे मिलना होता है । पति के नाते ही सब कुछ सुहावना लगता है । जाँत के गीतो मे अब भी वही सहज आनन्द छलका पड़ता है ।

मीरा के गीतो मे, जैसा हम दिखाते आये है, स्थान-स्थान पर योगियो की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग मिलता है । सगुण भक्ति के साथ योग का यह बेमेल मिश्रण विचित्र और अटपटा सा लगता है । ऐसा लगता है कि ध्यान की प्रगाढावस्था मे मीरा ने उस आनन्दपूर्ण अवस्था का अवश्य ही अनुभव किया था जिसे योगी लाग लय या 'उन्मनी' अवस्था कहते है । यही 'फना' की भी अवस्था है । यह सच है कि योग की कुछ सुनी सुनायी बातो के आधार पर ही मीरा ने ये गीत लिखे होगे क्योकि उसमे योगियो की सपूर्ण साधना-पद्धति का सुव्यवस्थित रूप नही मिलता और न इसमे मूलाधार, स्वाधिष्टान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा—इन छ चक्रो के भेदन द्वारा उद्बुद्ध कुण्डलिनी शक्ति के प्रवाह को ब्रह्मरध्र या सहस्रार मे प्रवेश करने की रहस्यमयी कृच्छ्र साधना का कुछ भी ज्ञान झलकता है । हाँ, अलबत, उस परम आनन्दमयी अवस्था का वर्णन मिलता है जिसे योगी सहजावस्था या सहज समाधि की अवस्था कहते है ।

मीरा का वह 'अगम देश' बहुत ही मोहक है, जहाँ 'भरा प्रेम का हौज हसा केलि करै' । उस 'सुन्न महल' की जहाँ 'प्रीतम की अटारी' बिछी हुई है, एक झाँकी लीजिये—

ऊँची अटरिया, लाल किवड़िया, निर्गुन सेज बिछी।
पंचरंगी झालर सुभ सोहै फूलन फूल कली।।
बाजूबंद कडूला सोहै माँग सेंदूर भरी।
सुमिरण थाल हाथ में लीन्हा सोभा अधिक भली।
सेज सुखमणाँ मीरा सोवै सुभ है आज घडी।।

तथा

त्रिकुटी महल में बना है झरोखा तहाँ से झाँकी लगाऊँ री।
सुन्न-महल में सुरत जमाऊँ सुख की सेज बिछाऊँ री।।

इस 'सुन्न महल' मे साजन की सेज पर पौढने के लिए मीरा पाँवो में घुघुरू बाँधकर, माँग मे सिंदूर लगाकर, आँखो मे अंजन सार कर तथा हाथ मे आरती की थाल लेकर नव वधू के वेश मे प्रवेश करती है—

या तन का दिवना करौं मनसा करौ बाती हो।
तेल भरावौं प्रेम का बारो सारी राती हो।।

रोम-रोम मे मिलन की उत्कण्ठा जग रही है—

बिन करताल पखावज बाजै अनहद की झनकार रे।
बिन सुर राग छतीसूँ गावे रोम रोम रग सार रे।।

फिर तो सभी कुछ, सारे कर्म, सभी व्यापार श्रीकृष्णार्पण हो चुकने पर, साधना का अविच्छिन्न, अक्षुण्ण प्रवाह चलता रहता है—

जहँ जहँ पावँ धरूँ धरणी पर तहँ तहँ निरत करूँरी।

कबीर की 'जहज समाधि' से इसे मिलाइये—

जहँ जहँ डोलो सो परिकरमा जो कुछ करो सो सेवा।
जब सोवो तब करो दडवत पूजो और न देवा।।
कहों सो नाम सुनो सो सुमिरन खांव पियो सो पूजा।
गिरह उजाड एक सम लेखो भाव न राखो दूजा।।
आँख न मूँदो, कान न रूँधो तनिक कष्ट नहि धारो।
खुले नैन पहचानो हँसि हँसि सुदर रूप निहारो।।

इसमे स्वामी शङ्कराचार्य की 'मानस पूजा' का वह श्लोक सहज ही समाया हुआ है—

आत्मा त्व गिरिजा मतिः सहचराः प्राणा. शरीर गृहं,
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः।
सचारपदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिराः,
यत् यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्।।

कहीं कहीं अद्वैत की बहुत सुंदर व्यंजना है—

तुम बिच हम बिच अंतर नाहीं जैसे सूरज घामा।

यह भूल न जाना चाहिए कि यह भावाद्वैत की आनन्दावस्था है जिसमें भक्त और भगवान का पूर्ण मिलन है। उपनिषदों के 'तस्यैव भासा सर्वमिदं विभाति' आदि वचनों का भी कुछ आभास उपर्युक्त पद से मिलता है, साथ ही साथ रैदास जी का 'प्रभु जी तुम चन्दन हम पानी, जा की अंग-अंग बास समानी'—वाला पद भी स्मरण हो आता है। 'जित देखूँ तित पानीहि पानी' से तो कबीर के निम्नलिखित पद का भाव बहुत मिलता-जुलता है—

लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन में गई मैं भी हो गई लाल॥

तथा

नयनन की कर कोठरी,
पुतरी पलंग बिछाय।
पलकन की चिक डारिके
पिय को लीन्ह रिझाय॥

'इच्छा' भी तो केवल भर आँख देखने की ही है—

म्हाने चाकर राखो जी।
चाकर रहसूँ बाग लगासूँ नित उठ दरसण पासूँ।

'साहचर्य्य' की इस उत्कट इच्छा के साथ दृढ़ 'विश्वास' भी है—

मीरा के प्रभु गहिर गभीरा हृदय धरो जो धीरा।
आधी रात प्रभु दरसण दैहैं प्रेम नदी के तीरा।

जो रात दिन हमारे भीतर बस रहा है 'उसे' खोजने बाहर क्यों जायँ?

जाका पिव परदेस बसत है लिख लिख भेजत पाती।
मेरा पीय मेरे हीय बसत है ना कहुँ आती न जाती॥*

---

* कवीन्द्र रवीन्द्र की 'साधना' में कितना अधिक भाव-साम्य है—

'where can I meet Thee unless in this my home made Thine. Where can I join Thee unless in this my work transformed into Thy work If I leave my home, I shall not reach Thine, if I cease my work, can never join thee in Thy work For thou dwellest in me and I in Thee. Thou without me or I without Thee are nothing'.

कबीर के शब्दों में—

प्रीतम को पतिया लिखूँ जो कहुँ होय विदेस ।
तन में मन में नैन में ताकौ कहा सदेश ।।

मीरा का प्रेम व्यापक (extensive) न होकर intensive (तीव्र) ही है; उसके प्रेम का मिलन और विरह पति के लिए पत्नी के हृदय का प्रेममय मिलन और विरह है । इस मधुर दाम्पत्य रति में मीरा डूब गयी ।

मीरा और अन्य प्रेमी कवि

मुक्तक और प्रबध के प्रतिबध को हटाकर काव्य की स्वच्छ, मधुर आत्मा के दर्शन करनेवाले रसज्ञ समालोचक 'रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द' 'रसात्मक वाक्य' आदि सभी काव्य-परिभाषाओ मे अव्याप्तिदोष पाते है। जो हमारे मनोरागो को उत्तेजित एव अनुरजित कर हमारे हृदय को अपने रंग मे रँग सके वही सच्चा काव्य है। काव्य हृदय के निर्झर से निकल कर ही हृदय के सागर मे प्रवेश कर जाता है। यहा साधन और साध्य दोनो ही हृदय है। रस काव्य की आत्मा है—इस परिभाषा को ध्यान में रखते हुए यदि देखा जाय तो मीरा ससार के कुछ इने गिने कवियो मे आ जाती है और उन सभी मे मीरा का स्थान बहुत ही ऊँचा है।

जिस किसी कवि से मीरा की तुलना करना मीरा के दिव्य प्रेम-काव्य का अनादर करना है। मीरा का काव्य हृदय की निगूढ वेदना से प्रसूत है। मीरा विरह की गायिका है और इसमे रचमात्र भी शङ्का के लिए स्थान नही है कि अपने क्षेत्र मे, उस क्षेत्र को आज के समालोचक बहुत ही सीमित या सकुचित क्यो न कहे मीरा सर्वश्रेष्ठ है।

हिन्दी-कवियो मे मीरा के सबसे निकट आनेवाले बस दो तीन ही है—वे है जायसी, घनानद और महादेवी। जायसी और मीरा की 'परम भावना' सर्वथा एक ही है। सूफियो का 'मार्फत' वैष्णवो का 'आत्म-निवेदन' एक ही है। सूफियो मे भी, यदि इस्लाम के पर्दे को हटा कर देखा जाय तो, प्रतीकोपासना, अत्यन्त सूक्ष्म रूप मे ही सही, विद्यमान थी। उन्होने भी परमात्मा को प्रियतम माना और वैष्णव धर्म के माधुर्य्य भाव में भी परमात्मा को पति माना गया है। श्रवण, कीर्तन, स्मरणादि नौ विभेद सूफियो मे भी शरीअत, तरीकत, हकीकत और मार्फत आदि भिन्न नामो से वर्तमान है। दोनो मे अन्त करण की पवित्रता और हृदय के प्रेम को ही प्रधानता दी

जाती है। दोनो ने परमात्मा की सत्ता का सार प्रेम ही माना है। उनका 'हलूल' और हमारा 'वासुदेव सर्वमिति' एक ही है। आत्म-समर्पण को ही दोनो ने स्वीकार किया है। 'खुदा के नूर को हुस्ने बुतों के परदे मे' देखने वाले 'सर्वभूतमय हरि' तथा 'हरिरेव जगत् जगदेव हरि' से सिद्धान्तत कोई अन्तर नही। जायसी कहते है—

पिउ से कहेउ सँदेसड़ा हे भौंरा हे काग।
सो धनि बिरहै जरि मुई तेहिक धुआँ हम लाग ॥

मीरा कहती है—

काटि कलेजा में धरूँ रे कौआ तू ले जाय।
ज्या देसाँ म्हारो पीव बसत रे वे देखत तू खाय ॥

ईश्वर का विरह सूफियो के यहाँ भक्त की प्रधान सम्पत्ति है जिसके विना साधना के मार्ग मे कोई प्रवृत्त हो नही सकता और न उसके हृदय की आँखे ही खुल सकती है। जिसके हृदय में यह विरह होता है उसके लिए यह ससार स्वच्छ दर्पण हो जाता है और इसमें परमात्मा का आभास अनेक रूपो में मिलने लगता है। तब वह देखता है कि इस सृष्टि के सारे रूप, सारे व्यापार उसी का विरह प्रकट कर रहे है। यह भाव प्रेममार्गी सूफी कवियो मे, सब के सब में, समान रूप से पाया जाता है। जायसी अपने समय के एक सिद्ध फकीर थे और इनका 'पदमावत' प्रेम गाथा की परपरा मे सबसे प्रसिद्ध, प्रौढ और सरस कृति है।

जायसी और मीरा दोनो के काव्य का विषय है 'प्रेम की पीर'। पर मीरा का प्रेम अपने ही भीतर घुलनेवाला है, जायसी का प्रेम विश्व को अपने रग में घुलानेवाला। जिस पथ से 'प्रीतम' का आगमन होगा उसे मीरा और जायसी दोनो ने पलको से बुहारा है। जायसी और मीरा में तत्वत. कोई अन्तर नही है; मीरा मे प्रेम-पात्र का स्थूल रूप और उसकी रसासक्ति कुछ विशेष परिलक्षित हो रही है, जायसी में अत्यन्त सूक्ष्म।

अन्य प्रेममार्गी सूफी कवियो की तरह जायसी ने भी अपनी पूरी कथा कह लेने के बाद उसे अन्योक्ति या रूपक द्वारा साधक की कठिनाइयों, साधनापथ के विवरण और अन्त मे मिलन–सिद्धि का सकेत कर दिया है—

तन चितउर मन राजा कीन्हा, हिय सिंघल बुद्धि पदमिनि चीन्हा।
गुरु सूआ जेह पंथ देखावा बिन गुरु, जगत को निरगुन पावा।
नागमती यह दुनिया धंधा बाँचा सोइ न एहि चित बंधा।
राघव दूत सोई सैतानू माया अलाउदीं सुलतानू ॥

पद्मिनी के रूप का जो वर्णन जायसी ने किया है वह पाठक को लोकोत्तर सौंदर्य और आनन्द की भावना में मग्न करनेवाला है—

> सरवर तीर पदुमिनी आई, खोपा छोर केस मकलाइ।
> ससिमुख अंग मलयगिरि बासा, नागिनि झापि लीन्ह चहुँ पासा।।
> ओनइ घटा परी जग छाँहा, ससि के सरन लीन्ह जनु राहाँ।
> भूलि चकोर दीठि मुख लावा। मेघ घटा महँ चंद देखावा।।

पद्मिनी का रूप वर्णन करते समय कवि उसकी वरुणी के बाण से सारे ससार को बिंधा देख रहा है और उसी की विरह-वेदना मे सारी सृष्टि व्याकुल तड़प रही है–'बेधि रहा सगरौ ससारा'। इस प्रकार हम देखते है कि मीरा और जायसी विरह के सर्वश्रेष्ठ कवि है। मीरा का विरह गहरा अधिक है, व्यापक कम—वह सर्वथा अन्तर्मुखी है, अपने ही भीतर घुलने-घुलाने वाला है। 'बारहमासे' मे मीरा की दृष्टि विरह मे जलते-तपते बाह्य पदार्थों पर गयी है अवश्य पर उन पर दृष्टि ठहरी नही, वह पुन. अपने अन्दर लौट आती है। मीरा के काव्य मे प्राकृतिक वर्णन नही है, मानव प्रकृति के नाना रूप और विलास की अभिव्यजना उसमें नही मिलती—मीरा का सारा काव्य एक 'क्षण' की एक घटना के प्रभाव मे डूब गया है—और वह घटना है मिलकर, क्षण भर के लिए मिलकर, चिरकाल के लिए बिछुड जाने की। जायसी अपने विरह में समस्त प्रकृति को रग डालते है, परन्तु मीरा को अपने से बाह रदेखने का अवकाश ही कहाँ है? मीरा का काव्य एक 'भुक्तभोगी' की विरह: व्यथा से ओतप्रोत है। जायसी में कथा-विस्तार के अदर विरह की धारा प्रवाहित होती चलती है, समतल पर गगा की धारा की तरह। पर मीरा मे तो विरह का प्रखर प्रवाह गोमुख से फूट पडनेवाली गगा की अजस्र प्रखरतम धारा की भाँति उद्दाम बेग से बहती और बहाती चल रही है। मीरा में लोकाचार, पता नही कहाँ, बह गया। जायसी तथा मीरा—इन दोनो के ही काव्य मे भगवान् के विरह मे जीवात्मा की तड़पन का बडा ही सजीव वर्णन है। मीरा का भावविन्यास पूर्णत· 'आत्मगत' है जायसी का लोक-व्याप्त। परन्तु दोनो की ही प्रेम-साधना लोक-बाह्य थी, उसमें लोक और शास्त्र का विचार न था; प्रेम के प्रखर प्रवाह मे लोक और वेद बह गये, लोकलाज और कुलकानि बिसर गयी, पथ-अपथ का डर छूट गया। अनन्य प्रेम और अवधिहीन विरह है मीरा और जायसी के काव्य का प्राण।

मधुर भाव की उपासना में, आत्मगत विरह वेदना की निश्छल विवृति मे कबीर मीरा के बहुत ही निकट आते है । कबीर और मीरा--इन दोनो के काव्य का आधार है—इनका सर्वथा निजी अनुभव । प्रेम के क्षेत्र मे साकार और निराकार का बखेडा खडा नही हो सकता । प्रेम के सामने साकार इतना व्यापक हो जाता है कि वह प्राय निराकार ही हो जाता है और निराकार इतना प्रगाढ और मूर्तिमान हो उठता है कि वह साकार हो जाता है । सर इकबाल ने इस विषय पर बडी ही मार्मिक भाषा मे अपने 'हृदय की बात' कही है—

> **कभी ऐ हकीकते मुन्तजर**
> **नजर आ लिबासे मजाज में ।**
> **कि हजारो सिज्दे तड़प रहे है**
> **मेरी जबीने नयाज में ।।**
> **मै जो सर बसिज्दा हुआ कभी**
> **तो हरम से आने लगी सदा ।**
> **तेरा दिल तो है सनम आशना**
> **तुझे क्या मिलेगा नमाज मे ।।**

हाँ, तो, कबीर के काव्य मे नाथ पथ, सूफी मतवाद तथा वैष्णव धर्म का अपूर्व और विलक्षण सम्मिश्रण मिलता है पर मुख्यत उनकी साधना वैष्णव धर्म की ही है । मीरा में भी, नाममात्र का ही सही, नाथ-पथ और सूफी साधना का प्रभाव स्पष्ट है, हालाँकि वह सब का सब वैष्णव धर्म की मधुर रति मे सराबोर है । कबीर के काव्य पर से बाहर का कठोर छिलका छिछोह दिया जाय तो उसके भीतर से कबीर के कोमल एव भावुक हृदय की धडकन स्पष्ट सुनी जा सकती है । अधिकाश व्यक्ति कबीर के काव्य की बाहरी रुक्षता और ऊबड खाबड ढग को देख कर भाग खडे होते है और उन्हे नितान्त निराशा ही हाथ आती है । अस्तु, कबीर और मीरा दोनो का काव्य आत्मगत (Personal या subjective) है। भगवान के साथ मिलन का आनन्दोल्लास तथा भगवान के विरह मे तडपने का जहाँ वर्णन है वहाँ मीरा और कबीर एक है, सर्वथा एक है । यह सच है कि मिलन की घडी मे जहाँ कबीर का आनन्द छलक पड़ा है वहाँ मीरा की सजीली अभि-

व्यक्ति लज्जा की चादर ओढे हुए मूक-सी रह जाती है। कबीर के काव्य में पुरुष स्पष्ट है—मिलन में भी, विरह में भी। मीरा म वेदना की विवृति तो पूरी-पूरी मिलती है परतु मिलन के क्षण मे मीरा एक सती साध्वी पत्नी की तरह चुपचाप आनद के रस में छकी हुई है, अधरो पर मद मद मुसकान, आँखो मे आनन्दोल्लास की हलकी लहर, अग-अग में प्राणप्रिय से मिलन की सिहरन—पर यह सब अपने आप मे ही खोयी-खोयी, अपने मे ही समायी हुई है।

'साई का प्रेम सेंत का सौदा नही है, वह मुफ्त की बातो से नही मिलता। उस राम से सिर देकर ही सौदा किया जा सकता है'—इसे मीरा और कबीर दोनो स्वीकार करते है और यह मानते है कि यहाँ वही प्रवेश कर सकता है जो सिर उतार कर धरती पर रख दे। कायर की दाल यहाँ नही गलने की। बातूनी इश्क बेकार है। पतिव्रता स्त्री ही भक्त की तुलना मे आ सकती है। कबीर और मीरा इन दोनो का प्रेम एक सच्ची पतिव्रता का प्रेम है और दोनो की ही यह समान प्रार्थना है--

> **नैना अंतर आव तूं नैन झाँपि तोहि लेउँ।**
> **ना मै देखौं और को ना तोहि देखन देउँ॥**
> **मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर।**
> **तेरा तुझको सौंपता क्या लागै है मोर॥**

मेरे एक मित्र अतिम पद के 'क्या लागै है मोर' को 'मन हरखत है मोर' कहा करते है और कहते है कि क्या लागै है मोर मे थोडी सी उदासीनता है।

मीरा ने अपने को भगवान की चेरी, जनम जनम की दासी आदि कहा है। कबीर तो अपने को राम की कुतिया कहते है, नाम 'मुतिया' है। गले मे राम की जेवडी पडी हुई है। 'वह' जिधर खीचता है मुतिया भी उधर ही जाती है। भगवान् जैसे रखे वैसे ही रहना श्रेयस्कर है, जो दे दे वही खा लेना उत्तम है। मीरा भी यही कहती है—

> **रैण दिणा वाकै संग खेलूँ ज्यूंत्यूं वाहि रिझाऊँ**
> **जो पहिरावै सोई पहिरूँ जो दे सोई खाऊँ।**
> **जित बैठावै तितही बैठूँ बेचै तो बिक जाऊँ**

आत्मसमर्पण का आनन्द और उसका निराला सौदर्य मीरा और कबीर के काव्य में ओतप्रोत है। प्रेम की विभिन्न दशाओ की गहरी अनुभूति इन

दोनों को है। अपने आप पर प्रेम की चोट खा कर, प्रेम के बान से बिंधकर हृदय मे उस तीर को छिपाये ये दोनो दिवाने पागल की तरह, घायल की तरह घूमते फिरे और इनकी व्यथा को कोई क्या बूझे ?

मन परतीति न प्रेमरस, ना इस तन में ढंग।
ना जाणों उस पीव सू ं कैसी रहसी रग।

मीरा कहती है—मैं जाण्यो नहीं प्रभु को मिलण कैसे होइ री।
आये मेरे सजना फिर गये अंगना मैं अभागण रही सोइ री।।

मीरा और कबीर इसी अदेसे मे है कि उनका प्रेमी कही अतृप्त न लौट जाय। ये साई के प्रेम की चोट खाये हुए, भीतर-बाहर उसके रंग मे रगे हुए है। प्रेम की भूख से व्याकुल वह प्रियतम प्रेम भिखारी साई राह चलते भक्त पर रग डाल देता है। जो दुनियादार है और जिनकी वृत्तियाँ बहिर्मुखी है वे लोग इस रग की लीला को अनुभव ही नही करते, अपने रास्ते चले जाते हैं। पर जो अनुभवी है वे व्याकुल हो उठते है। उन्हे एक व्याकुल पुकार सुनाई देती है जैसे प्रियतम ने एक छेडखानी करके ऐसी पुकार फेकी है जिस की चोट सँभालना मुश्किल है। यह पुकार सारे शरीर को बेध डालती है। इसकी कोई औषध नही, जडी नही, बूटी नही—बेचारा वैद्य क्या कर सकता है ? इस प्रकार की चोट जिसे लगी वही अभिभूत हो गया एक बार चोट लगने पर अपने को सभाल रखना कठिन है।' साई के इस रग का चोट खाया हुआ मनुष्य घायल की हालत में पागल सा घूमा फिरता है और और उसकी व्यथा को कोई समझ नही सकता—विरह में बजती हुई प्राणो की बाँसुरी को या तो साई सुनता है या अपना चित्त—

सब रग ताँत रबाब तन बिरह बजावै चित्त।
और न कोई सुनि सकै कै साई कै चित्त।।

कबीर और मीरा दोनो को उस परम प्रियतम ने सोने मे अपने मिलन का सुख देकर, उनके अतल प्राणो मे अपने स्पर्श की गुदगुदी से उन्हे जगा दिया है—

सूतल रहलूँ मैं नींद भरि हो, पिया दिहलैं जगाय।
चरन-कंवल के अंजन हो नैना लेलूँ लगाय।।

दोनो ने अपनी शरीर के दीपक में प्रेम की बाती जलायी है और उसीके प्रकाश में वे अपने प्रेमी प्रियतम का सुन्दर सलोना रूप देखते रहे हैं और निरख-निरख कर, प्रेम का प्याला पी पीकर 'बौराय' गये हैं। प्रेम का

प्याला पिला कर वह प्रेमी विरह की अग्नि धधका देता है और फिर तन, मन धन की बाजी लगती है। भक्त के तो दोनो हाथ लड्डू है।

हारी तो पिय की भई रे, जीती तो पिय मोर रे।

हिन्दी साहित्य मे विरह के सर्वश्रेष्ठ कवि हुए घनानन्द। निश्चय ही विश्व-साहित्य में घनानन्द के समान विरह का कवि पाना कठिन है। घनानन्द का एक-एक शब्द विरह के रस से सराबोर है। कलापक्ष तो मीरा की अपेक्षा सुव्यवस्थित है ही भावपक्ष भी मीरा से किसी भाँति घट कर नही है। घनानन्द प्रेम की चोट खाये हुए थे और वही चोट इनके जीवन मे एक दिव्य परिवर्तन का कारण हुआ, मजाज़ी से हकीकी की ओर बहा ले जाने में समर्थ हुआ—यह सर्वविदित है। घनानन्द के काव्य मे एक विलक्षण विवशता, निरुपायता, यहाँ से वहाँ तक मिलती है ऐसा मानो किसी अल्हड मृगी को खूंटे मे बांधकर कोई उस पर तीर पर तीर चलाये जा रहा हो और वह चुपचाप सब कुछ सह रही हो—

मेरोई जीव जो मारतु मोहि तौ प्यारे कहा तुम सौं कहनौ है।
आँखिन हूँ यहि बानि तजी, कछु ऐसोई भोगनि कौ लहनौ है॥
आस तिहारिय ही घनआनन्द कैसे उदास भये रहनौ है।
जानि के होत इते पै अजान जो, तो बिन पावक ही दहनौ है॥

जीव की बात जनाइए क्यो करि जान कहाय अजाननि आगौ।
तीरन मारिकै पीर न पावत एक सों मानत रोइबो रागौ॥
ऐसी बनी 'घनआनंद' आन जू आन न सूझत सो किन त्यागौ॥
प्रान मरैंगे मरैंगे बिथा पै, अमोही सो काहू को मोह न लागौ॥

मेघो से यह कातर प्रार्थना कि जरा मेरी पीर को तो परसो, मेरे आँसुओ को लेकर उस 'बिसासी' सुजान के आँगन मे बरसो, पवन से यह याचना कि उस निर्मोही के पाँयन की नेक धूरि ला दे कि मै उनका अपनी आँखो में अजन कर लूं—कितनी गहरी कसक और प्यार भरी लालसा का द्योतक है। यह विरह बाहर से प्रशान्त है, गभीर है, न उसमे करवटें बदलना है, न सेज का आग की तरह तपना है, न उछल-उछल कर भागना ही है। उनके वियोग मे मूक वेदना की अत्यन्त आतुर परन्तु साथ ही परम गभीर पुकार है। एक बार अपना कर, रस पिला कर, आशा को बढा कर अब यो मँझधार में छोड़ रहे हो—यह तुम्हारी कैसी रीति है?

पहिले अपनाय सुजान सनेह सो क्यों फिरि नेह को तोरिए जू ।
निरधार अधार दे धार मँझार, दई गहि बह न बोरिए जू ।।
घन आनन्द आपके चातक को, गुन बाँधि कें मोह न छोरिए जू ।
रस प्याय कै ज्याय बढ़ाय कै आस, बिसास में यो विष घोरिए जू ।।

वह 'बैरिन बाँसुरिया' जो कभी बजी थी आज भी उसका स्वर गूँज रहा है और बिना बजे भी वह बजा करती है और प्रेमी के प्राणो के साथ खेला करती है--

घन आनन्द तीखियै तानिन सों सरसे सुर साजिबोई-सी करै ।
कितलें यह बैरिनि बाँसुरिया बिन बाजेई बाजिबोई-सी करै ।।

मीरा के साथ महादेवी की तुलना आज कल बहुत प्रचलित है । परन्तु प्राय आलोचक यह भूल जाते है कि मीरा मध्यकाल की एक भक्त है और महादेवी आधुनिक काल की एक कवि । महादेवी विरह की पुजारिन है और विरह मे ही चिर है । उन्होने उस प्रियतम को जिसके विरह मे जलती हैं देखा नही है, केवल उसकी पदध्वनि पहचानी हुई है--

मैंने देखा उसे नही पदध्वनि है केवल पहचानी ।
मै मतवाली इधर उधर प्रिय मेरा अलबेला सा है ।।

'किसी' का 'सुकुमार सपना' पलको मे पाल रही है और आज उसकी मीठी-मीठी याद मे नयन, जाने क्यो, भर भर आते है । हरसिगार के फूलो का झरना और आँखो से आँसुओ का चुपचाप गिरना परस्पर कितना समान है !--

पुलक पुलक कर सिहर सिहर तन
आज नयन आते क्यो भर-भर ?
सकुच सलज खिलती शेफाली
अलस मौलश्री डाली डाली
बुनते नव प्रवाल कुंजो में
रजत श्याम तारों से जाली
शिथिल मधुपवन गिन गिन मधुकण
हरसिंगार झरते हैं झर झर
आज नयन आते क्यों भर भर ?

यह 'अमर सुहाग भरी' और 'प्रिय के अनत अनुराग भरी' मिलन मदिर में प्रिय से मिलने और मिल कर मिल जाने की कितनी मधुर अभिलाषा लिए हुई है--

मिलन मंदिर में उठा दूँ सुमुख सजल गुंठन,
मैं मिटूँ प्रिय में मिटा ज्यो तप्त सिकता में सलिल कण

सजनि मधुर निजत्व दे
कैसे मिलूँ अभिमानिनी मैं।
वह रहे आराध्य चिन्मय
मृण्मयी अनुरागिनी मैं।।

प्रिय के पथ में अभिसार के लिए रूप का शृंगार देखिये—

शृंगार कर ले री सजनि
तू स्वप्न सुमनों से सजा तन
विरह का उपहार ले
अगणित युगो की प्यास का
अब नयन अंजन सार ले
अज्ञात पथ है, दूर प्रिय
चल, भींगती मधुकी रजनि!

मन में वह 'निर्मम' छिपा हुआ है पर ससार उस 'अन्तर्वासी' से मिलने नही देता, इधर उधर भटकाता रहता है—

घूँघट पट से झाँक दिखाने
अरुणा के आरक्त कपोल,
जिसकी चाह तुम्हे है उसने
छिड़की तुझ पर लाली घोल।
ये मंथर सी लोल हिलोरें
फैला अपने अंचल-छोर
कह जाती 'उस पार बुलाता
है हमको तेरा चितचोर'।
यह कैसी छलना निर्मम
कैसा तेरा निष्ठुर व्यापार
तुम मन में हो छिपे
मुझे भटकाता है सारा संसार।

मीरा की तरह ही महादेवी अपने मे और उसमे कोई भेद नही मानती—

सिंधु को क्या परिचय दें देव
बिगड़ते बनते वीचि-विलास ?

क्षुद्र हैं मेरे बुदबुद प्राण
तुम्हीं में सृष्टि तुम्हीं मे नाश।

तथा

तुम मुझ में प्रिय फिर परिचय क्या ?
तेरा अधर - विचुंबित प्याला
तेरी ही स्मित मिश्रित हाला
तेरा मानस ही मधुशाला
फिर पूछूँ क्यों मेरे साकी
देते हो मधुमय विषमय क्या ?

उस प्यारे को पत्र भी लिखा जाय, सदेशा भी भेजा जाय यदि वह कही परदेश में हो परन्तु जो तन मे, मन मे, नयन में रम रहा है उसे क्या पत्र और कौन सा संदेश ? मीरा में कई पद इस भाव के है। महादेवी कहती है—

अलि कहाँ सदेश भेजूँ ?
मै किसे सदेश भेजूँ ?
नयन पथ से स्वप्न में मिल
प्यास में घुल साध में खिल
प्रिय मुझी मे खो गया अब दूत को किस देश भेजूँ ?

यह सारा जीवन 'उस' के आगमन की आशा और प्रतीक्षा में, चिर जागरण, चिर विरह, फिर भी आशा के कारण चिर मिलन के मधु मे मुग्ध है—

जो न प्रिय पहचान पाती
दौड़ती क्यों प्रति शिरा मे प्यास विद्युत-सी तरल बन,
क्यो अचेतन रोम पाते चिर व्यथामय सजग जीवन ?
किस लिए हर सांस तम में
सजल दीपक-राग गाती ?
चाँदनी के बादलो में स्वप्न फिर-फिर घेरते क्यों ?
मदिर सौरभ से सने क्षण दिवस रात बिखेरते क्यों ?
सजग स्मित क्यों चितवनों के
सुप्त प्रहरी क जगाती ?
कल्प-युग व्यापी विरह को एक सिहरन में संभाले,
शून्यता भर तरल मोती से मधुर सुधि दीप वाले,

क्यों किसी के आगमन के
शकुन स्पन्दन में मनाती ?

मेघपथ में चिह्न विद्युत् के गए जो छोड़ प्रिय पद
जो न उनकी चाप का मैं जानती सदेश उन्मद

किस लिए पावस नयन मे
प्राण में चातक बसाती ?
जो न प्रिय पहचान पाती ?

इतनी मीठी पहचान या 'चिन्हारी' के बाद फिर क्या पूजा और क्या अर्चा ? अब तो सारा जीवन, एक-एक श्वास-प्रश्वास अर्चना मे स्वयं-लीन है—

क्या पूजन क्या अर्चन रे।
उस असीम का सुन्दर मदिर मेरा लघुतम जीवन रे।
मेरी श्वासें करती रहतीं नित प्रिय का अभिनन्दन रे।।
पदरज को धोने उमड़े आते लोचन के जलकण रे।
अक्षत पुलकित रोम मधुर मेरी पीडा का चंदन रे।।
स्नेह भरा जलता है झिलमिल मेरा यह दीपक मन रे।।
मेरे दृग के तारक में नव उत्पल का उन्मीलन रे।।
धूम बने उड़ते रहते हैं प्रतिपल मेरे स्पन्दन रे।।

मीरा की तरह महादेवी की भी शिकायत है—

पथ में बिखरा शूल बुला जाते क्यो दूर अकेले

परंतु इस 'आँखमिचौनी' के खेल में—खोजना, पाना और फिर खो देना फिर खोजना और खोजते ही रहना—इस में क्या कम आनन्द है, कम माधुर्य है ? यह 'दूरी' क्या कम मधुर है ? पर मन जो नही मानता !

रंगमय है देव दूरी, छू तुम्हे रह जायगी
यह चित्रमय क्रीड़ा अधूरी
दूर रह कर खेलना पर, मन न मेरा मानता है।

हम तुम मिल जायँ तो फिर यह लीला कैसे चलेगी, यह चित्रमय हमारी तुम्हारी परस्पर की प्रणय-क्रीडा, यह आनन्द के लिए अधूरी ही रह जायगी, इसलिए यह 'दूरी' ही बनी रहे और अपने भीतर 'एकमेक' होने की साध यत्न छिपाये रहे तभी तो दोनो की लालसा लहराती चलेगी—

विरह का युग मिलन का पल
मधुर जैसे दो पलक चल
एकता इनका तिमिर, दूरी खिलाती रूप शतदल !

इसी लिए चिर सुहागिनी मीरा की तरह महादेवी सोल्लास स्वीकार करती हैं—

सखि ! मैं हूँ अमर सुहाग भरी !
प्रिय के अनन्त अनुराग भरी !

जीवन की एक झलक

"I go with a perpetual heartache,
None can see God or Goddess and live"
—Coventry patmore.

चार सौ वर्ष से ऊपर हुए प्रभु ने पृथ्वी पर प्रेम की एक पुतली भेजी थी। वह आयी, प्रभु के प्रेम मे छकी हुई, प्रभु के आलिंगन में डूबी हुई, प्रभु के रूप मे भूली हुई वह आयी। प्रभु के नूपुरो की रुनझुन में अपने हृदय की गति मिलाकर, प्रभु की मुरली मे अपने प्राण ढालकर, प्रभु के पीताम्बर पर अपने को निछावर कर, प्रभु की मन्द-मन्द मुसकान पर अपना सब कुछ दे डालकर, प्रभु के चरणो के नीचे अपना हृदय बिछाकर वह अल्हड योगिनी पैरो मे घुंघरू और हाथ मे करताल लेकर नाच उठी और प्रेम के आनन्द मे विभोर होकर गा उठी.—

सुनी हो मैं हरि आवन की आवाज।
म्हैलाँ चढ़-चढ़ जोऊँ मेरी सजनी, कब आवै म्हाराज!

इतने दिन हो गये, आज भी यह गीत स्पष्टत. भीतर गूँज रहा है, मानो अभी कल की बात हो। ऐसा प्रतीत होता है, इन आँखो ने वह प्रेमोन्मत्त नृत्य देखा है, इन कानो ने वह दिव्य मगल-सगीत सुना है। सन्ध्या का समय है, मीरा आरती कर चुकी है। सामने श्रीगिरधरलालजी की दिव्य मूर्त्ति विराज रही है। कमरे के द्वार बद है और भीतर सारा स्थान तेज से जगमगा रहा है, दिव्य गन्ध से भर रहा है। मीरा अपने प्राणाधार के सामने नाच रही है। आँसुओ की धारा बह रही है—भीतर बाहर सर्वत्र प्रभु का सुखद सुशीतल स्पर्श और उस स्पर्श की मादक मधुर सिहरन रोम रोम को प्रेम में डुबोये हुई है—

मैं गिरधर रँगराती, सैयाँ मैं गिरधर रँगराती।
पचरग चोला पहर सखी मैं झिरमिट खेलन जाती।
झिरमिट मांही मिल्यो साँवरो खोल मिली तन गाती।।

'खोल मिली तन गाती!' निरावरण होकर, अवगुण्ठन हटाकर प्राणाधार से मिली, अपने प्राणो के प्राण, हृदय के सर्वस्व से मिली और मिलकर उसी मे मिल गयी, एक हो गयी, तल्लीन हो गयी! यह बात तो पीछे जाकर खुली जब—

आधी रात प्रभु दरसन दीन्हों प्रेम नदी के तीरा।

The beloved took me to His arm
And I laid my bosom bare and clasped Him tight,
Ah! I clasped Him to my bosom.

ससार को इस मिलन और इस विरह का क्या पता? यह तो कुछ पगलों के लिए—प्रभु प्रेम के दीवानो के लिए ही है। ऐसे दीवाने कितने हुए? ससार मे चैतन्य और मीरा, मसूर और ईसा कितने हुए?

मीरा मेड़तिया के राठौर रत्नसिंह की पुत्री, रावदूदा जी की पौत्री और जोधपुर के बसानेवाले प्रसिद्ध राव जोधा जी की प्रपौत्री थी। इनका जन्म स० १५७३ में चोकडी नाम के एक गॉव मे हुआ था और विवाह उदयपुर के महाराणा कुमार भोजराज जी के साथ हुआ था। ये आरम्भ से ही कृष्ण-भक्ति में लीन रहा करती थी। बचपन में ही इनकी माता का स्वर्गवास हो गया और इसलिए इनके पालन-पोषण का भार इनके दादा राव दूदाजी पर पड़ा। दूदाजी परम वैष्णव थे। मीरा के सस्कार बचपन से ही कृष्णप्रेम से-ओतप्रोत थे। बहुत बचपन में ही मीरा ठाकुरजी की पूजा के लिए पुष्प चुनती, माला बनाती और बडे ही प्रेम से ठाकुरजी को पहनाती। भगवान का शृगार कर वह अपनी तुतली बोली में जाने क्या क्या गुनगुनाती। प्रातः काल नीद खुलते ही ठाकुरजी! बस, ठाकुरजी के सिवा न कुछ कहना, न कुछ सुनना। दादाजी जब भगवान की षोड़शोपचार पूजा करते तब मीरा एकटक देखा करती।

बचपन की ही एक घटना है—मीरा के घर एक साधु आये। उनकी पूजा मे श्री गिरधर लालजी की मूर्ति थी। मीरा को वह मूर्ति ऐसी लगी, मानो वह उसके जन्म-जन्म का साथी हो। उसे पाने के लिये मीरा का हृदय मचला, पर वह साधु मूर्ति क्यो देने लगे! मीरा को उस मूर्ति के बिना कल

कैसे पडती ! उसने खाना-पीना छोड दिया और छटपटाने लगी। साधु ने स्वप्न मे देखा कि उसके गिरधरलालजी उस अल्हड बालिका के पास पहुँचा आने का आदेश कर रहे हैं। भोर होते ही वह साधु मीरा को मूर्ति दे आया अब मीरा की प्रसन्नता का क्या पूछना ! आनन्दोल्लास मे वह फूली-फूली फिरती।

ऐसी ही एक और विचित्र घटना है—मीरा के गाँव एक बरात आयी। लडकियो को बचपन में अपने भावी पति को जानने की बडी ही सरलतापूर्ण उत्कठा रहती है। मीराने बडी सरलता से अपनी माता से पूछा—'माँ ! मेरा विवाह किससे होगा ?' बच्ची के प्रश्न पर हँसती हुई माँ ने कहा—'गिरधरलालजी से' और सामने की मूर्ति की ओर सकेत किया। मीरा के मन मे यह बात बैठ गयी कि गिरधरलालजी ही वास्तव में हमारे पति हैं।

अठारह वर्ष की अवस्था में मीरा का विवाह मेवाड के इतिहास-प्रसिद्ध स्वनामधन्य राणा साँगा के ज्येष्ठ कुँवर भोजराजजी के साथ हुआ। मीरा अपनी ससुराल में भी अपने इष्टदेव की मूर्ति लेती आयी। मीरा का दाम्पत्य जीवन बडा ही आनन्द-पूर्ण था। ऐसी सती-साध्वी नारी अपने पतिदेव की सेवा न करेगी, तो कौन करेगी ? मीरा बडे आदर और विनय के साथ पति की परिचर्या में रहती और साथ ही नियमपूर्वक प्रभु की उपासना भी किया करती। प्रभु जिसे अपनाते है उसके सारे अन्य बन्धनो और सम्बन्धो को छिन्न-भिन्न कर देते हैं। जबतक जीव ससार में किसी का भी आसरा-भरोसा रखता है तब तक वह प्रभु के आश्रय से वचित ही रहता है। हम सर्वथा प्रभु के हो जायँ, इसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि ससार मे भिन्न-भिन्न सम्बन्धो को लेकर जो हमारा अनुराग है वह सिमटकर प्रभु मे केंद्रीभूत हो जाय, घनीभूत हो जाय, जो प्रेम प्रभु के चरणो में निर्माल्य हो चुका है, उसमें साझीदार ससार का कोई भी प्राणी कैसे होगा ? मीरा का दाम्पत्य जीवन अभी पनप ही रहा था कि पतिदेव चल बसे। अब तो मीरा की जीवन-धारा एक बारगी पलट गयी। संसार के सभी सम्बन्ध हटाकर वह एकान्तभाव से श्रीगिरधरलालजी की सेवा मे रहने लगी।

लोकलाज और कुल की मर्यादा को अलग कर मीरा अपने प्राणाराध्य की साधना में अहर्निश लगी रहती। प्रेम की प्रखर अजस्र धारा मे लोक-लाज कैसे टिक सकती ? मीरा को तो कुछ पता ही नही था कि क्या हो रहा है। उसके यहाँ अब बराबर साधुओ की भीड लगी रहती। भगवत् चर्चा के

सिवा अब उसे करना ही क्या रह गया ! श्रीगिरधर गोपालजी की मूर्ति के सामने मीरा नाचा करती और सतो की मण्डली जमा रहती ! घरवालो को भला यह बात कैसे पसद आती ? राणा सागा की मृत्यु हो चुकी थी और इस समय मीरा के देवर विक्रमाजीत सिहासन पर थे। उनसे मीरा की ये 'हरकते' देखी न गयी। उन्होने मीरा को मार डालने की कई तदवीरे सोची, परन्तु जिसकी रक्षा स्वय परमात्मा कर रहा है उसका कोई क्या बिगाड सकता है ! विष का प्याला भेजा। मीरा उसे अपने प्राणप्यारे का 'चरणामृत' समझकर पी गयी ! विष भी अमृत हो गया ! जिसके अनुकूल स्वय प्रभु है, उसके लिए प्रतिकूल क्या हो ? पिटारी मे साँप भेजा गया। मीरा उसे खोलती है तो देखती है कि शालग्रामजी की मूर्ति है। मीराने उसे छाती से चिपका लिया—प्रेमाश्रुओ से नहला दिया !

सखी मेरो कानूडो कलेजे की कोर।
मोर मुकुट पीताम्बर सोहै कुडल की झकझोर ।।
बृन्दाबन की कुज गलिन में नाचत नदकिसोर ।।

परीक्षा की इति यही तक नही थी। मीरा प्रतिदिन अधिकाधिक खुलकर साधु-महात्माओ में रहने लगी और रात-दिन हरि-चर्चा तथा कीर्तन के सिवा उसे कुछ सुहाता ही न था। मीरा ने यह निश्चय कर लिया कि जितने क्षण शरीर मे प्राण रहेगे, उतने क्षण हरि गुणगान में ही बीतेगे। प्राण छूट जायँ भले ही छूट जायँ, कीर्तन कैसे छूटता ! सास ने बहुत मना किया, बहुत समझाया-बुझाया, परन्तु यहाँ तो अदर-ही अदर प्रेम की भट्ठी धधक रही थी !

मीरा को एक ननद थी, ऊदा। उसने भी मीरा को 'राह पर लाने' की बहुत चेष्टा की, परन्तु मीरा का मन तो मोहन के चरणो मे बिक चुका था ! ऊदा से अपनी हार सही न गयी। उसने एक षड्यत्र रचा। विक्रमाजित से जाकर उसने कहा कि मीरा आधी रात को द्वार बन्द कर और दीपक जलाकर किसी पुरुष से प्रेमालाप करती है। वह पुरुष नित्य मीरा के पास आधी रात को पैरो की चाप छुपाये धीरे-धीरे आता है। उसने राणा से यह भी कहा कि यदि उसे विश्वास न हो, तो स्वय आकर देख ले। राणा के क्रोध का अब क्या ठिकाना ! चेहरा तमतमा उठा। बस, अभी मीरा का सिर धड से अलग करने के लिए वह तलवार लेकर दौडे !

भादो के कृष्णपक्ष की आधी रात है। मेघ झमाझम बरस रहा है और बिजली कडक रही है—परन्तु उस मेघ से भी अधिक बरस रही है वियो-

सनी मीरा की दो करुणाविगलित आँखें; उस बिजली से भी अधिक कड़क रहा है उसका दर्दभरा दिल—साँवरे के विरह में तडपता हुआ पागल विह्वल हृदय ! ससार सुख की नीद सो रहा है, परन्तु वियोगिनी की आँखों में नीद कहाँ, विश्राम कहाँ, शान्ति कहाँ ! मीरा ने श्री गिरधरलालजी की मूर्ति के पास दीपक जला दिया है और अगर की सुगन्धि से सारा कमरा गमगमा रहा है । मीरा ने पहले हृदयेश्वर के मस्तक पर रोली लगायी और फिर वही प्रसाद अपने सिर-आँखो से लगाया । आज वह नववधू के रूप में सजी हुई है । वह एकटक अपने प्राणाधार को देख रही है । देखते-देखते क्या देखती है कि उस मूर्ति में से उसके हृदयेश्वर निकलते है, मन्द-मन्द मुसकाते हुए, मीरा का आलिङ्गन करने के लिये आगे बढते है—मीरा प्रेम के इस अवहनीय भार को कैसे सँभालती ! मिलन की सुखधारा में बह चली । मीरा ने मिलने के लिए अपने मस्तक को आगे बढाया; परन्तु सज्ञाहीन होकर वह गिर पडी, प्रभु के चरणो मे गिर पड़ी । उसके सज्ञाहीन प्राणो ने अपने भीतर देवता के परम शीतल अथच मधुर-मधुर स्पर्श का अनुभव किया ! वह कोमल, पावन, दिव्य स्पर्श !! वह प्रगाढ मधुमय प्रणयालिङ्गन !

'वह' आया तो प्राण मिलन-सुख के भार को सह न सके और अब जब प्राणो में सज्ञा लौट आयी है तो उसका ही पता नही । आँखें खुली । मीरा के प्राण अब भी स्पर्श के आनन्द में बेसुध थे ! आँसुओ मे सनी हुई वेदना-विगलित वाणी कुछ अस्पष्ट, कुछ अस्फुट स्वय निकल रही थी· ···आह ! एक क्षण और ठहर जाते ! कई जन्मो से तुम्हे ढूँढता आ रहा हूँ । प्राणो का दीप जलाकर ससार का कोना-कोना छान आया । तुम्हारा पता किसी ने नही बताया । आज बडी दया की । ओह ! वह छबि !

निपट बंकट छवि अटके
मेरे नेना निपट बंकट छवि अटके
देखत रूप मदनमोहन को पियत मयूखन मटके ।
बारिज भवाँ अलक टेढ़ी मनो अति सुगंधरस अटके ।।
टेढी कटि, टेढ़ी कर मुरली, टेढ़ी पाग लर लटके ।
मीरा प्रभु के रूप लुभानी, गिरधर नागर नट के ।।

आह ! भर आँख अभी तो देख भी नही पायी थी । कहाँ छिप गये, क ाँ खिसक गये ? तुम्हारा वह मन्द-मन्द मुसकाना···· वे बड़ी-बड़ी पागल

बनानेवाली आँख, वह बेसर-तिलक, लहराती हुई अलकावली और उसपर तिरछा बाका मोर-मुकुट ! आह ! यदि ऐसे ही छिपना था तो छिपे ही रहते ! इस प्र ार तरसाकर प्राणो को तडपाने की यह कौन-सी विधि सोच रखी है ! जीवनधन ! आओ, मै तुम्हे प्राणो के भीतर छिपा लूँ—

मैं अपने सैया संग साँची।
अब काहे की लाज सजना परगट ह्वै नाँची ।।

अचानक दरवाजे फट पड़ और राणा विक्रमाजीत नगी तलवार लिये, क्रोध में तमतमाये भीतर घुस आये ! उन्होने देखा कि श्रीगिरधरलाल जी की मूर्ति के सामने मीरा हाथ जोडे अर्द्धमूछित दशा में बैठी हुई है और आँखो से आँसुओ की धारा चल रही है । उसने क्रोध मे पागल होकर मीरा का हाथ खीचा और क्रोधस्फीत शब्दो में कहा—'कहाँ है तेरा प्रेमी जिसके साथ तू रातो जागा करती है ? अभी मे उसका सिर धड से अलग किये देता हूँ ।' मीरा भावमग्न हो रही थी । उसने अँगुली से श्री गिरधरलालजी की मूर्ति की ओर सकेत किया । परन्तु राणा के लिये तो वह बस एक पत्थर को मूर्ति थी ! क्रोध मे मनुष्य शैतान हो जाता है । उसे उचित अनुचित का विवेक नही रहता । विक्रमाजीत को मीरा को बातो का विश्वास नही हुआ । उसने फिर सिह की तरह गरजते हुए कहा—'अभी ठीक-ठीक बता, तू किससे बात कर रही थी ? नही तो आज तेरे ही रक्त से इस तलवार की प्यास बुझाऊँगा । मीरा डरती क्यो ? जिसे परमात्मा का बल प्राप्त है ससार उसका बाल भी बाँका नही कर सकता । मीरा ने दृढतापूर्वक कहा—सच मानो, यही है मेरा चितचोर प्राणधन । इसीके चरणो में मैने अपने को निछावर कर दिया है··अभी देखो, देखो खडे-खडे मुसका रहा है । एक क्षण भी तो नही हुआ वह आया था । अह ! वह रूप ! उसने मुझे अपने आलिङ्गन पाश में बाँधने के लिये ज्यो ही बाँहें बढ़ायीं, त्यों ही मै अभागिनी··· उफ् !! मत पूछो ! उस अपरूप रूप को देखते ही मेरी आँखें झँप गयी—मै सज्ञाहीन होकर गिर पडी । वह धीरे-धीरे मुरली बजाकर मेरे प्राणो में गा रहा था । अह ! वह शीतल स्पर्श ! वह जगत् का स्वामी अनादि काल से चित्त चुराता आया है और यही उसकी बान पड गयी है । उसने प्रेमस्वरूपा गोपियो का हृदय चुराया ! इतने से ही उसका जी न भरा ! वे जब स्नान कर रही थी, उसने उनके वस्त्र भी चुरा लिये । मै तो अपने प्राण उसके हाथो सौंप चुकी ! वह भला

इसे क्यो लौटाने लगा ! देखो ! देखो ! वह अपनी शरारत पर स्वय मुसका रहा है । देखो, देखो, वह सलोनी साँवरी सूरत देखो ! प्राण, मेरे पागल प्राण ! आओ, आओ, आवरण हटाकर आओ ! ससार में मेरा तुम्हारे सिवा और है ही कौन ? आओ, प्राण ! मुझे अपने मे डुबा लो, एक कर लो—

श्रीगिरधर आगे नाचूँगी
नाच-नाच पिय रसिक रिझाऊँ प्रेमीजन को जाँचूँगी ।।
लोक-लाज कुल की मरजादा यामें एक न राखूँगी ।
पिय के पलँगा जा पौढ़ूँगी मीरा हरिरग राचूँगी ।।

गाते-गाते मीरा मूर्च्छित हो गयी । विक्रमाजीत किंकर्त्तव्य-विमूढ हो गये । ऊदा और अन्य लडकियाँ जो कमरे में आयी थी, मीरा के इस दिव्य प्रेम को देखकर अवाक हो गयी । ऊदा मीरा के चरणो में गिरकर रोने लगी । अपने किये पर उसे बडी ग्लानि हुई ।

मीरा की भक्ति-सुरभि दिग् दिगन्तर मे फैलने लगी और लोग उसके दर्शनों के लिए स्थान-स्थान से आने लगे । राजमहल में बराबर साधु-सन्तों की भीड देखकर विक्रमाजीत से सहा नही गया । मीरा को राज-पाट और लोक-लाज से क्या करना था ? वह सब कुछ छोड-छाड कर वृन्दावन चली । वृन्दावन पहुँचकर मीरा का बस एक ही काम था—मन्दिरो में प्रभु की मूर्त्ति के मामने कीर्त्तन करना । प्रेम की इस पुतली को जो भी देखता, वही श्रद्धा और भक्ति से सिर झुका लेता ! वृन्दावन में पहुँचकर मीरा को ऐसा लगा, मानो वह अपने 'घर' आ गयी है । वहाँ के एक-एक वृक्ष, लता-पत्ता से उसका पूर्व परिचय था । वृन्दावन तो उसके जन्म-जन्म के 'साथी' का देश था, व्रज की माधुरी पर मुग्ध होकर मीरा ने अपने प्रेम-भरे उदगार प्रकट किये —

या व्रज में कछू देखो री टोना ।।
ले मटुकी सिर चली गुंजरिया आगे मिले बाबा नन्दजी के छोना ।
दधि को नाम बिसरि गयो प्यारी 'ले लेहु री कोई श्याम सलोना' ।।
वृन्दावन की कुंजगलिन में आँख लगाय गयो मनमोहना ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर सुंदर स्याम सुघर रस लोना ।

वृन्दावन में मीरा के आनन्द का पारावार उमड आया । मीरा पैरो में घुघरू बाँधे हाथ में करताल ले और माँग मे सिंदूर भरकर श्रीहरि की आरती के लिये चली । उस प्रेमदीवानी अल्हड तपस्विनी ने देखा, सामने

प्रभु की त्रिभुवन-मोहिनी मूर्ति मुसका रही है, वही मोरमुकुट, वही मुरली और वही पीताम्बर ! मीरा ने आरती की थाली में से रोली उठायी और प्यारे के मस्तक पर लगाने ही जा रही थी कि आँखें प्रेम से मुँद गयी, उनमे प्रेमाश्रु भर आये। वह देखती है कि आँसुओ की गङ्गा-यमुना में भी प्राणेश्वर की मूर्ति केलि कर रही है। हाथ की रोली हाथ में ही लिये रही—बड़ी विचित्र दशा है। आँखें बद करती है तो हृदय के मन्दिर मे हृदयधन विराज रहा है। आँखें खोलती है तो आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, दाहिने-बाये—सर्वत्र गोपाल-ही-गोपाल है। जकी ठगी-सी विमुग्ध खडी है, कुछ कहते नही बनता। कैसे आलिङ्गन करे, कैसे रोली लगाये !

कर्पूर का दीपक लेकर वह आरती करने चलती है—कठिनाई से एक बार वह दीपक की थाल घुमा पाती है कि उसकी दृष्टि प्रभु के मोरमुकुट पर अटक जाती है, दीपक की थाल लिये वह विमूढ-सी खडी रहती है। प्रार्थना का दिव्य मधुर प्रवाह चल रहा है। वाणी गदगद् है, नेत्र अश्रु-पूर्ण; हृदय हरिमय, प्राण-प्राण मे रोम-रोम में श्रीकृष्ण छाये हुए है। समस्त विश्व केवल कृष्णरूप हो रहा है। कृष्ण के सिवा कुछ है ही नही—मीरा स्वय कृष्ण हो रही है। उसे अपनी आँखो पर सहसा विश्वास नही होता। ऐसा भासता है मानो वह स्वप्नलोक मे विचर रही है। प्रीतम के मिलन का जो आनन्द है वह शब्दो में लिखा नही जा सकता ! कोई कहना चाहे भी तो कैसे कहे ?

आधी रात हो रही है और मीरा की आरती का उपक्रम समाप्त नही हुआ। कभी वह आँसुओं मे प्रीतम के पाँव पखारती है, कभी श्रीगिरधरलालजी की मूर्ति को छाती से लगाकर उनकी आँखो पर अपने अधरो को रख देती है। कभी उनके चरणो को जोर से अपने हृदय में बाँध लेती है और कभी उपालम्भ के मीठे ताने सुनाती है—

स्याम म्हाँसो ऐंडो डोले हो।
औरन सूँ खेले धमार म्हासों मुखहुँ न बोले हो।

× × ×

वह प्रेम क्या जो अघाना जाने ? वह भक्ति क्या जो समस्त विश्व को अपने प्रभु में लय न कर दे; वह साधना क्या जो ससार के इस सघन पटल को हटाकर अपने प्राणेश्वर को प्रतिपल अखण्ड रूप से न देखे ! वह भक्त क्या, जो सर्वत्र और सर्वदा केवल अपने उपास्य देव को न देखे ? बीच का

पर्दा हटा देने पर रह ही क्या जाता है ! ससार कहता है मैं बना रहूँगा; भक्त कहता है मै तुम्हे मिटा कर ही छोड़ूँगा, और जीत भी भक्त की ही होती है। कितनी सुन्दरता से भक्त इस ससार को मिटाता है ! वह ससार से द्वन्द्व नही छेडता, वह जगत् से लडने नही जाता। वह तो अपने भीतर प्रवेश कर, अपने अन्तर का पट हटा कर अपने 'प्रीतम' की झाँकी पा लेता है। वह झाँकी उसकी अपने आँखो में, उसके रोम-रोम में उतर आती है, अब वह इन आँखो से जो कुछ देखता है सब केवल कृष्ण-ही-कृष्ण होता है। यह संसार उसके सम्मुख 'ससार' नही रह जाता। यह तो प्रभु का मङ्गलमय परम मनोहर दिव्य विग्रह हो जाता है। जगत् जब सर्वत्र प्रभुमय हो गया, तो इसका अपना आकर्षण अपना सम्मोहन कैसा ? इसीलिये कहा जाता है कि भक्त के सामने ससार का जादू नही चलता।

आधी रात हो रही है और मीरा पूजा मे सलग्न है। बाहर का द्वार बंद है। दीपक जल रहा है। साँवरे की मूर्ति सामने विहस रही है। नव-वधू की भाँति मीरा ने लाल रेशमी साडी पहन ली है और माँग मे सिंदूर भर लिया है। हाथो में करताल है और पैरो मे घुंघरू। प्रेम-विभोर होकर मीरा नाच रही है—

मीरा नाचो रे,
पग घूँघरू बाँध मीरा नाचो रे।
मैं तो मेरे नारायण की आपहि हो गयी दासी रे ॥

सकीर्त्तन की इस धुन में समस्त विश्व लय हो रहा है। मीरा के घुघरू और करताल माधव के नूपुर और मुरली में मिलकर एक अपूर्व मादक सङ्गीत की सृष्टि कर रहे है। मीरा नाच रही है और इस पगली भक्तिन के साथ श्यामसुदर भी नाच रहे है। मीरा की बद आँखें हरि के रूप-रस का पान कर रही है, हृदय कृष्ण के चरणो मे लोट रहा है। प्राणो की झङ्कार नूपुर की रुनझुन में लय हो रही है। रोम-रोम से हरि-हरि !! इस समय ससार नही है। इस विराट रास मे केवल कृष्ण-ही-कृष्ण है। फिर इसमें 'लोग कहे बिगडी' की क्या चिन्ता ? अपने प्राणाधार से क्या लज्जा, क्या दुराव, क्या पर्दा ? उससे क्या छिपाना जो हृदय का अधीश्वर है, प्राणों का पति है, जीवन का सर्वस्व है ? वहाँ तो सर्वशून्य होकर, निरावरण होकर हृदय का पुष्प सर्वतोभावेन प्रभु के चरणो में समर्पित करना होता

हैं। जो हृदय के भीतर बस रहा है उससे क्या छिपाया जाय ! श्रीकृष्णार्पण इसी को कहते है। ढाई अक्षर प्रेम का यही है।

प्रेम की चोट बड़ी करारी होती है। वही इसे जानता है जिसका हृदय प्रेम के बाणो से बिंधा हो। शब्दो मे इसका वर्णन कोई करना भी चाहे तो क्या करे। आशा और प्रतीक्षा—प्रेमियो के हिस्से ये ही पडी है। मिलन की आशा और प्राणाधार की प्रतीक्षा ! कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होता है कि प्रेमाधार पूर्णत पकड में आ गया; परन्तु प्रेमास्पद की लुका-छिपी ! आह ! कितनी आकर्षक, कितनी मधुर है। श्यामसुन्दर पर मीरा की लुभाई हुई दृष्टि जाती है—

> नैणा लोभी रे बहुरि सके नहिं आय।
> रोम-रोम नख-सिख सब निरखत ललकि रहे ललचाय ।।
> मै ठाढी घर आपणे री मोहन निकसे आय।
> बदन चद परकासत हेली मंद-मद मुसकाय ।।

मै अपने आँगन में खड़ी थी। सामने से श्यामसुन्दर निकले। आँखे हठात् उनपर जा पड़ी, रोम-रोम उन्हे निहारने लगा। वह छवि हृदय को कितनी शीतल, कितनी मधुर प्रतीत होती है। हृदय मे अमृत झरन लगा। उनके मुखचन्द की द्युति और मन्द-मन्द मुसकान हृदय में बरबस घर किये लेती है। मीरा अपने भीतर यह दृढतापूर्वक अनुभव करती है कि उसने गिरधर-लालजी को पूरी तरह अपना लिया है, उन्हे मोल ले लिया है, वे अब मीरा के हृदय-देश में बन्दी है—

> माई री मै तो गोविंदो लीनो मोल।
> कोई कहै छाने कोई कहै चौड़े लीनो री बजंता ढोल ।।

मैने डके की चोट गोविन्द को मोल ले लिया। लोग चाहे जो कहें, मैंने तो उन्हे रूबरू देख लिया, अपना लिया—अपने हृदय के अन्दर कैद कर लिया ! मीरा की आँखो में, हृदय में, प्राण मे, रोम-रोम में उस त्रिभुवन सुन्दर की मोहनी मूर्ति बसी हुई है।

ऐसे प्रीतम का एक बार पाकर फिर कैसे छोडा जाय ? आओ, इन्हे बाँध रक्खें और नैनो से इनका रूप-रस पीते रहे। जितने क्षण प्राण रहे, श्यामसुन्दर को सामने देखते रहें। इन्हे देखकर ही हम जियें। यदि उन्हें आंखो से ओझल ही होना है, तो अच्छा है कि हमारे प्राण न रहें, हम न जियें। प्रीतम जिस वेष को धारण करने से मिले, वही

करना उचित है। वही वास्तव मे बडभागिन है जिसका हृदय मदनमोहन पर निछावर हो चुका है।

> In my eyes, in my heart
> Thou art O Beloved
> So much Thou art and so always,
> That whatever I see looming in the distance
> I think it is Thou coming to me.

प्रभु को भक्त जितना ही अधिक पकडता जाता है, उतनी ही दृढता उसमे आती जाती है और उतने ही अनन्य भाव से वह प्रभु का और प्रभु उसके होते जाते हैं। हृदय की बहुत ऊची अनन्यशरणागति ही मीरा से कहला रही है—

> **मेरो तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।।**
> **जाके सिर मोर-मुकुट मेरो पति सोई।**
> **तात मात भ्रात बधु आपनो न कोइ।।**

एक बार भी यदि वह मूर्ति हृदय मे उतर आयी और हृदय उसके रग मे रग गया, तो फिर क्या कहना! आंसुओ के जल से सीची हुई प्रेम की लता जब फैल उठी, तो उसमे फिर आनन्द के फल आने लगे। आनन्द के सिवा रह ही क्या गया! अब तो एक क्षण के लिये भी उसे छोडते नही बनता—

> **पिया म्हारे नैणा आगे रहज्यो जी।**
> **नैणाँ आगे रहज्यो जी, म्हांने भूल मत जाज्यो जी।।**

विरह ही प्रेम का प्राण है। मिलन मे प्रेम सो जाता है विरह में जगा रहता है। विरह में सारी सृष्टि प्रेमपात्र की प्रतिमूर्ति बन जाती है। सब कुछ उसी 'एक' का सन्देश लानेवाला बन जाता है। मीरा का विरह अपने ढग का अकेला ही है। अपने प्राणवल्लभ के लिये हृदय में अनुभव की हुई टीस को प्रेम लपेटे अटपटे छन्दो में गाकर अल्हड प्रेमसाधिका मीरा ने अपने करुणा-कलित हृदय को हल्का किया है। मीरा का दुःख एक आतुर भक्त का दुःख है, प्रेमविह्वल साधक का दुःख है, एक प्रेमी का दुख है, कवि का दुःख नही। इसी से पहले कह आया हूँ कि मीरा का दुःख उधार लिया हुआ नहीं है। मीरा का दुःख तो एक अकथ कहानी है, प्रेम की वेदी पर

सर्वस्व-समर्पण का एक दिव्य एवं मनोहारी संगीत है। शब्दों से उस दुःख को नापा नहीं जा सकता। वह तो केवल अनुभवैकगम्य है, स्वसंवेद्य है।

मैं बिरहिण बैठी जागूँ, जगत सब सोवै री आली ।।
बिरहिन बैठी रंगमहल में मोतियन की लड़ पोवै।
एक बिरहिण हम ऐसी देखी अंसुवन की माला पोवै ।।
तारा गिण गिण रैण बिहानी सुख की घड़ी कब आवै।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर मिलके बिछुड़ न पावै ।।

अपनी दुर्बलता और प्रेम-पथ की कठिनाइयों की ओर जब ध्यान जाता है, तो कभी-कभी जी घबडा उठता है और निराशा-सी हो जाती है—

गली तो चारों बन्द हुई हरी सूँ मिलूँ कैसे जाय।
ऊँची-नीची राह रपटीली पाँव नहीं ठहराय ।।

इस निराशा में तो बस, प्रभु की दया का ही एकमात्र भरोसा है। वही दया कर उबारे तो उबरने की कुछ आशा है, नहीं तो······!

सजन सुध ज्यों जानों त्यों लीजै।
तुम बिन मेरो और न कोई कृपा रावरी कीजै।
दिवस न भूख रैन नहिं निंदिया यों तन पल-पल छीजै।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर मिल बिछुरन नहीं दीजै।

इन आँखों को भला कौन मनावे, हृदय को कौन समझावे? एक क्षण भी श्यामसुन्दर के बिना जीवन धारण किए रहना असम्भव है। ये प्राण तो हाय-हाय कर प्राणरमण के लिये तडप रहे हैं—

आली री मेरे नैनन बान पड़ी ।।
चित्त चढ़ी मेरे माधुरी मूरत, उर बिच आन अडी।
कबकी ठाढ़ी पंथ निहारूँ, अपने भवन खड़ी ।।
कैसे प्राण पिया बिन राखूँ, जीवन मूल जड़ी।
मीरा गिरधर हाथ बिकानी, लोग कहें बिगड़ी ।।

लोग बिगडी कहे अथवा बनी, इससे मीरा का क्या बनता-बिगडता है? वह तो गिरधर गोपाल के हाथों बेमोल बिक चुकी है। उसी की मूर्ति उसके हृदय में बसी हुई है। कृष्ण ही उसका जीवन, कृष्ण ही उसका यौवन; कृष्ण ही उसका स्वर्ग, कृष्ण ही उसका अपवर्ग है। कृष्ण के सिवा उसके लिये लोक-परलोक कुछ है ही नहीं।

विरह की इस तीव्र वेदना के साथ मिलन की उत्सुक प्रतीक्षा तथा आकुल उत्कण्ठा भी बनी हुई है। प्रेम में विरह और मिलन लिपटे सोते हैं। रात का समय है। पानी बरस रहा है। मेघो ने श्रीकृष्ण को मीरा के घर में रोक रखा है। वे अब बाहर जाते भी तो कैसे ? मीरा के घर में गिरधरलालजी बदी हैं। मीरा अपने 'प्राण' को पाकर परमानन्द में बेसुध है; वह भावावेश में गा उठती है—

नंदनंदन बिलमाई, बदरा ने घेरी माई ।।
इत घन लरजे, उत घन गरजे, चमकत बिज्जु सवाई ।
उमड़ घुमड़ चहुँ दिस से आया पवन चले पुरवाई ।।
दादुर मोर पपीहा बोले कोयल सबद सुणाई ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कँवल चित लाई ।।

वृन्दावन में बहुत समय तक रहकर मीरा द्वारका पहुँची और वहाँ श्री रणछोड जी की मूर्ति के सामने कीर्त्तन किया करती। भक्तो की वही अपार भीड और मीरा का वही प्रेमोन्मत्त नृत्य और कीर्त्तन !! मीरा जब हाथ में करताल लेकर नाचने लगती उस समय समस्त प्रकृति रास के आनन्द में उन्मत्त होकर थिरकने लगती। मीरा तो कृष्ण की प्राणप्रिया सखी थी, चिर सगिनी सहेली थी—उसके प्रेमरस का पान करने के लिए वह प्रेम-भिखारी हरि स्वय आते और मीरा के साथ-साथ समस्त भक्तमण्डली कृष्ण-मिलन के रस में, प्रभु मधुर आलिङ्गन-रस में सराबोर हो जाती।

आज मीरा का प्रयाण-दिवस है। आज पभु की यह प्रेम-पुतली अपनी आनन्द-लीला सवरण कर हरि में एकाकार होनेवाली है। आखिर यह द्वैत, यह अन्तर वह कब तक सहन करती ! आज रणछोडजी का मन्दिर विशेष रूप से सजाया गया है। एक अपूर्व गभीरता का साम्राज्य है ! मीरा प्रेमानन्द मे बेसुध है ! आज उसकी तपस्या पूरी होनेवाली है। आज उसने पुनः नववधू का वेश धारण किया है। लाल रेशमी साडी पहन ली है। माँग में सिंदूर भर लिया है। पैरो मे घुघरू बाँध लिया है। आज मीरा की जो प्रेम-सेज सजी है, उसकी सुन्दरता का क्या कहना। आज तो पिया की सेज पर जाकर मीरा अपने प्राणेश्वर के साथ पौढेगी। प्रीतम की अटारी पर आज मीरा सुख से सोयगी—

ऊँची अटरिया, लाल किवडिया, निर्गुण सेज बिछी ।
पचरंगी झालर सुभ सोहै फूलन फूल कली ।

बाजूबंद कडूला सोहै माँग सिंदूर भरी।
सुमिरण थाल हाथ में लीन्हा सोभा अधिक भली।।
सेज सुखमणा मीरा सोवै सुभ है आज घडी।।

आज रणछोडजी के मन्दिर की एक अपूर्व छटा है। मीरा सज-धजकर आज महामिलन की तैयारी में आयी। आज उसके स्वर में एक दिव्य मादकता है। आज वह गाती है और धीरे-धीरे अपने को हरि में खोती जाती है। वह मूर्च्छित होकर गिर पडती है और लोग उसके चरणो को छूने लगते हैं। सारा मन्दिर अचानक तेजोमय हो जाता है। मीरा उठती है और रणछोडजी का मूर्ति अपना हृदय खोलकर उसे अपने हृदय के अन्दर ले लेती है। मीरा माधव मे मिलकर एक हो जाती है। भक्तमण्डली निर्निमेष दृष्टि से यह सब देखती रह जाती है। मीरा सदा के लिये हमारी स्थूल आँखो से ओझल होकर हमारे हृदयदेश की अधीश्वरी हो जाती है।

तत्वतः जो राधा है वही मीरा है। वह 'सनातन नारी' का प्रतीक है। इसी लिए अब भी अन्तर्देश की रानी (The queen of the dark chamber) का एक ही स्वर है—

सुरतवर्धनं शोकनाशनम्
स्वरितवेणना सुष्ठुचुम्बितम्।
इतरागविस्मारणं नृणा
वितर वीर ! नस्तेऽधरामृतम्।

उपसंहार

हमने सक्षेप मे देख लिया कि भक्ति के शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर रति मे सबसे अधिक की परितुष्ट एव सतृप्ति श्रीकृष्ण मे ही विशेष रूप से होती है। मधुर रति, जो सर्वोपरि है, केवल श्रीकृष्ण मे ही परितृप्त होती है। अन्य उपास्य देवो में शान्त, दास्य, सख्य, और वात्सल्य के उपकरण है, परन्तु श्रीकृष्ण मे शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य — पाँचो पूर्णत. प्रस्फुटित हुए है। कृष्ण मे सौदर्य, माधुर्य, सौकुमार्य, लावण्य एव मोहकता के सम्पूर्ण उपादान प्रस्तुत है। भगवान् राम के लिए हमारे हृदय मे दास्य से होता हुआ कठिनाई से सख्य-भाव प्रतिष्ठापित हो सकता है। परतु श्रीकृष्ण में हम शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य से होते हुए मधुर भाव तक पहुँच जाते है और उन्हे अपना प्राण-वल्लभ 'पति' मानकर उनकी अनन्त भुवन-मोहनी छवि पर पत्नी भाव से अपने को समर्पित कर सकते है। इसके लिये श्रीकृष्ण-भक्ति मे क्षेत्र खुला हुआ है।

हम पहले ही सनत्कुमार तत्र का वह श्लोक उद्धृत कर चुके हैं जिसमे साधक सिद्धदेह या भावदेह से गोपी-भाव या व्रज भाव में अपने को परम रूपवती, यौवनसम्पन्न परम मनोहर किशोरी के रूप में भावना करता है। इस भावदेह में तनिक भी सभोग की वासना नही है। इसमे केवल सेवा-वासना है। जो शृङ्गार लोक में निन्दित माना जाता है वही भगवान् के साथ सम्बन्धित होने से परम दिव्य हो जाता है—वह स्वय भगवान् का स्वरूप है, स्वय आत्मा का धर्म है। वह इन्द्रियातीत है; धर्म-अर्थ-काम मोक्ष—इस चतुर्वर्ग से परे है, अतएव पचम पुरुषार्थ है।

वृहदारणयक उपनिषद् का 'स एकाकी न रमते, सद्वितीयमैच्छत्' यथा स्त्री पुमासौ सपरिष्वक्तौ स इमवात्मानद्विधापातयत्' से यह स्पष्ट है कि प्रेम

की प्यास उधर ही थी और उसकी परितृप्ति के लिए उसी प्रणय-लीला के लिए यह सारा पसारा हुआ। इसीलिए मै ऊपर कह आया हूँ कि मधुर रति ही आत्मा का निज धर्म है, सहज स्थिति है। क्षेमराज ने एक बहुत प्राचीन उद्धरण इस सम्बन्ध का दिया है—

जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम्।
मित्रयोरिव दम्पत्योर्जीवात्मपरमात्मनः।

इस दाम्पत्य रति में भी स्वकीया की अपेक्षा परकीया का भाव श्रेष्ठ माना जाता है क्योकि स्वकीया में तो मिलन मे कोई कठिनाई या विघ्न-बाधा नहीं होती। प्रेम बाधा पाकर ही खिलता है और तभी इसमे 'दुस्त्यज स्वजनआर्यपथ' का परित्याग कर श्रीकृष्ण के चरणो में सर्वात्म समर्पण का सौन्दर्य निखर आता है। स्मरण रहे यह प्रेम 'सर्वथा कामगधहीन' होता है, काम की गन्ध भी इसमे नही होती।

वैष्णव-धर्म के कान्त भाव से भक्ति करनेवालो का मुख्य रूप से यही सिद्धान्त है कि पूर्ण आनन्द-दायक आकर्षण सत्तायुक्त चिद्घन स्वरूप परम तत्त्व का नाम श्रीकृष्ण है। इस परम तत्त्व की ओर आकृष्ट चित्कण-स्वरूप जीव समुदाय की जो आकर्षण-क्रिया है उसीका नाम भक्ति है*। इसी भक्ति की परिभाषा श्री रूप गोस्वामी ने अपने 'भक्ति-रसामृत सिंधु' में इस प्रकार दिया है—

अन्याभिलषिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

अर्थात् एक श्यामसुन्दर के अतिरिक्त अन्य समस्त सांसारिक एव पारलौकिक विषयो की अभिलाषा से शून्य होकर, ज्ञान-कर्म आदि से अनावृत रहकर श्रीकृष्ण के अनुकूल उनकी सेवा करना उत्तमा भक्ति है। 'नारद-सूत्र' में भी इसी परम भक्ति का स्वरूप गुणरहित, कामनारहित, प्रतिक्षण बढनेवाली, अविच्छिन्न, अत्यन्त सूक्ष्म, और अनुभवरूप बतलाया गया है। परम भक्ति की सीमा का छोर 'प्रेम' में विलय हो जाता है। सब कुछ श्रीकृष्णमय, सर्वं खल्विद श्रीकृष्णः। उस स्थिति को प्राप्त कर भक्त की

---

*कर्षति आत्मसात्करोति आनन्दत्वेन परिणमयति मनो भक्तानां इति यावत् स कृष्णः। 'गुणरहितं, कामनारहितं, प्रतिक्षण वर्द्धमानं अविच्छिन्नं सूक्ष्मतरं अनुभवरूपं। तत्प्राप्य तदेव शृणोति तदेव भाषयति, तदेव चिन्तयति' —नारद-सूत्र।

सज्ञा प्रेमी की हो जाती है और भक्ति की परिणति प्रेम में हो जाती है। उस समय प्रेमी सब कुछ में श्रीकृष्ण को ही सुनता है, श्रीकृष्ण ही बोलता है और श्रीकृष्ण का ही चिंतन करता है। कृष्ण के अग-अग से छलकते हुए मधु को पीकर वह उन्मत हो उठता है। इस रस में रूप-माधुर्य के आधार-भूत श्रीकृष्ण ही एक मात्र विषयालंबन है और ब्रजांगनाएँ आश्रयालबन है। इसमें वशीध्वनि, वसंत ऋतु, कोकिला-स्वर, नव जलधर और केकी-कठ इत्यादि उद्दीपन विभाव है और कटाक्ष, हास्य, नृत्य आदि अनुभाव है।

रसनिष्ठ साधक अपने ही अदर सारी लीला देखते है, ब्रजमण्डल, वशी-वट, यमुनापुलिन, राधारानी, श्रीकृष्ण आदि अपने ही अदर वे देखते है—

हौं ही ब्रज वृन्दावन मोही में बसत सदा
जमुना तरग स्याम रंग अबलीन की।
चहुँ ओर सुंदर सघन बन देखियत,
कुजन में सुनियत गुंजन अलीन की।।
बंशीवट-तट नटनागर नटत मो में
रास के विलास की मधुर धुनि बीन की।
भरि रही भनक बनक ताल तानन की।।
तनक तनक ता में खनक चुरीन की।।

कान्त रति में पत्नी पति की सहचरी भी है, अनुचरी भी। सेज पर पति के परम प्रेम की रसास्वादिनी भी है, चरण चापनेवाली दासी भी। वह पति के अधरामृत की भी अधिकारिणी है और चरणामृत की भी। उसका समर्पण सर्वांगीन है। उसमें वह किसी प्रकार के प्रयास का अनुभव नही करती। समुद्र की अथाह जल-राशि में जाकर, जिस प्रकार नदियाँ अपने नाम और रूप को लय कर देती है, अपने प्रवाह एव लहर को अपने प्राणवल्लभ की अनन्त जल-राशि मे डूबो देती है उसी प्रकार पत्नी भी पति की प्रीति मे अपनी प्रीति को लय कर देती है। पत्नी के सभी भावो की पूर्ण परितृप्ति पति मे हो जाती है। सम्मान, अति आदर, प्रीति, विरह तदीयता आदि के भाव पूर्णत परितुष्ट होते है जिसे शाँडिल्य ने अपने सूत्रो मे विशद विवेचन के साथ प्रकट किया है* !

---

*सम्मान, बहुमान प्रीति विरहेतर विचिकत्सा महिमाख्याति तदर्थ प्राण स्थान तदीयता, सर्वत्र तद्भावाप्रातिकूल्यादीनि च स्मरणेभ्यो: बाहुल्यात्। सा परानुरक्तिरीश्वरे—शाँडिल्य सूत्र।

इसी परम भावनापूर्ण भक्ति को ही 'सा कर्म्मणि परम प्रेम रूपा' कहा है। शाडिल्य ने स्पष्टत कहा है कि ईश्वर मे परम अनुरक्ति का नाम ही 'प्रेम' है। इस बात को प्रकट करने की आवश्यकता न रह गई कि इस परम प्रेम-स्वरूपा भक्ति में कैवल्य मोक्ष आदि की और कभी ध्यान भी नही जाता। वह तो 'रात दिन चोखे चोख बसिया समाई देखे' अपने अन्तस् मे 'उसके' पावन, मधुर, शीतल, सुखद विद्युत-स्पर्श का अनुभव करता है। इस आत्म समर्पण के आनन्द के सम्मुख मोक्ष का आकर्षण कैसा ?—

> 'यदि भवति मुकुंदे भक्तिरानन्दसान्द्रा
> विलुठति चरणाग्रे मोक्ष-साम्राज्य लक्ष्मीः।'

परन्तु शाश्वत प्रेम की यह अनुभूति विरह में उद्दीप्त एवं जागृत रहती है। मिलन इसके आनन्द को हलका और धुंधला कर देता है। विरह के झीने पट से छन-छन कर आती हुई मिलन की सुषमा को हमारा हृदय प्रत्यक्ष अनुभव करता है। महामिलन की उत्सुकता और विरह की वेदना दोनो हमारे हृदय में लिपटे सोते हैं —बडी विचित्र स्थिति है—

> बाहिरे विष ज्वाला हय, भितरे आनदमय
> कृष्ण-प्रेमार अद्भुत चरितामृत।
> एई प्रेमार आस्वादन तप्त इक्षुचर्बण
> मुख ज्वले ना पाय त्यजन॥
> सेई प्रेमार मने, तार विक्रम सेई जाने
> विषामृते एकत्र मिलन।

बाहर तो विष की ज्वाला है और भीतर आनन्द मय है। यह आस्वादन तो गरम गन्ना चूसने की भाँति है। मुख जलता है परन्तु छोडने का जी नही चाहता। जिनके हृदय मे यह प्रेम होता है वही उसका महत्व जानता है। इसमें विष और अमृत का अपूर्व मिलन है।

जायसी ने भी कहा है कि विरह की आग मे जलते तपते रहते भी बाहर आन का जी नही चाहता—

> लागिऊ जरै, जरै जस भारू,
> फिरि फिरि भूंजेसि तजिऊँ न बारू।

वह मुझे विरह की आग में जला रहा है फिर भी यह यत्रणा इतनी सुखद है कि बार-बार इसी में हृदय लौट पडता है, विमुक्त होना नही

चाहता। प्रेम की यह चिर जाग्रत ज्वाला जो विरह की धुधुआती अग्नि से प्रकट होकर गगनचुंबी लपटो में बल उठती है भक्तो के प्रेम दीवाने हृदय का मुख्य आधार एव अवलब है। यह न जागति ही है न सुषुप्ति ही, न सुख ही है न दुख ही। अपनी एक निराली अवस्था है जिसका कोई नाम नही। स्वप्न में बस एक बार मीरा ने अपने अधरो पर 'उसके' चुंबन का स्पर्श अनुभव किया था, फिर जब वह उस दिव्य स्पर्श-सुख से जगी तो 'वह' छलिया गायब।

सोवत ही पलका में मै तो पलक लगी पल में पीव आए।
मै जो उठी प्रभु आदर दैण कूँ जाग परी पिव ढूंढ़ न पाए।
और सखी पिव सोइ गमाये, मै जू सखी पिव जागि गमाए।

'प्रसाद' जी के शब्दो मे मीरा की बस एकही 'शिकायत' है—

दुख क्या था तुम को मेरा जो सुख लेकर यों भागे।
सोते में चुंबन लेकर जब रोम तनिक सा जागे।'

प्रेमी अभी अपने प्राणवल्लभ से मिलने ही वाला था, स्वप्न में 'उस' के चुबन को प्रेमी ने अपने अधरो पर अनुभव भी कर लिया था आँखे खोल-कर, एकबार, बस एक बार अपनी भुजलताओ में बाँधने ही चला था कि वह 'छलिया' खिसक गया और उस अल्हड पागल प्रणय को जीवन पर्यन्त, अनन्त काल के लिये विरह के हाथ सौंपकर 'अदृश्य' में अन्तर्धान हो गया। यह अनन्त विरह ही उस 'न मिलनेवाले' स मिलने की उत्सुकता ही, जीवन का यह सम्पूण अनुराग ही जो एकोन्मुख होकर प्राण-वल्लभ के लिए तड़प रहा है, घुट रहा है, मीरा के दद भरे आर्द्र गीतो का प्राण है। विरह की एक-एक सिहरन में एक-एक आह में, जीवन की अतृप्त आकाक्षा, प्राणो की अधूरी लालसा अपने समर्पण की अन्तिम घडियो मे निर्वाण पाती हुई भी एक विचित्र आभा, एक अपूर्व ज्योति का आलोक इस वसुन्धरा में छिटका जाती है। दीपक की लौ पर शलभ के जलते समय एक विचित्र दृश्य उपस्थित हो जाता है। वशी की तान पर मुग्ध मृग अपनी मृत्यु मे भी अमरत्व पान कर लेता है। कमल में बद भ्रमर के प्राण जब घुटने लगते है उस समय भी उसका प्रणय-सगीत छिडा रहता है, आनन्द-प्रवाह चलता रहता है। मृत्यु प्रेम के स्रोत को बाँध नही सकती, रोक नही सकती। प्रेम परमात्मा की भाँति अमर है।

काव्य और प्रेम दोनों नारी-हृदय की सम्पत्ति है। काव्य का परम उत्कृष्ट एवं निखरा हुआ रूप नारी-हृदय में ही उगता, पल्लवित और पुष्पित होता है। प्रेम का अधिकारी भी वस्तुत: नारी का हृदय ही है। प्रेम एव काव्य-सवेदन अनुभूति के अगज है। नारी-हृदय सवेदन-शील, भाव-प्रवण होता है। नारी पुरुष की अपेक्षा, स्वभावत:, जन्मत. विशेष कोमल-हृदय होती है। वह प्रेम की वेदना को पूरी तरह अनुभव कर सकती है। वह प्रेम में तिल-तिलकर जलना जानती है। पुरुष का चिन्तन-शील ज्ञानाश्रित जीवन प्रेम एव काव्य की तह में पूर्णत: प्रवेश नही कर पाता। पुरुष विजय का भूखा होता है, नारी समर्पण की। पुरुष लूटना चाहता है, स्त्री लुट जाना। पुरुष में जिगीषा है, स्त्री में बलिदान। नारी-हृदय पुरुष से अधिक सुसस्कृत, सभ्य, कोमल, भाव-प्रवण, सवेदन-शील एवं अनुभूतिशील होता है। इसी हेतु व्यक्ति का 'स्त्रीत्व' ही कविता और प्रेम का अधिकारी है। प्रत्येक पुरुष मे स्त्री और प्रत्येक स्त्री में पुरुष रहता है। पुरुष का हृदय जब आर्द्र और भावुक होता है उस समय वह प्रेम एव कविता का आस्वादन करता है और उस समय वह 'स्त्री' रहता है।

इस प्रकार मीरा का हृदय इस परम प्रेम की आनन्दानुभूति के लिये सर्वथा उपयुक्त था। वह नारी थी ही, साथ ही प्रेम की आराधना करने-वाली भाव-प्रवण सनातन नारी; वह नारी जो युग-युग से, जन्म जन्मान्तर से परम पुरुष के प्रेमालिगन का सुख पा 'उसे' सर्वथा अपनाने के लिए व्याकुल चलती चली आ रही है। वह कभी भी पूरी तरह 'उसे' पा सकेगी यह कहा नही जा सकता क्योकि यहाँ तो खोजना और खोजते ही जाना, खोज मे ही खो जाना इस पथ के पथिको का एकमात्र पाथेय है। ससार के सभी बन्धन स्वय ही कट जाते है। वस्तुत यह तो प्रवृत्ति का मार्ग है, सचमुच 'खाला का घर' है। इस प्रवृत्ति-पथ में 'सब जग सियाराम मय' हो जाता है। सारे नाते 'सर्वभूतमय हरि' से ओतप्रोत हो जाते है। सब कुछ 'प्रीतम' का सदेश-वाहक, सभी कुछ 'पिय' का सकेत लिये हुए। वह पहचानी हुई 'पग-ध्वनि' बराबर सुनाई पडती है और साधक कह देता है—'चाहे तुम न मिलो पर तेरी आहट मिलती रहे सदा'। यहाँ सभी मनोराग श्रीकृष्णोन्मुख हो जाते है। इसीलिए यहाँ असाधन ही परम साधन है।

हाँ, तो मीरा के लिए, केवल मीरा के लिए ही इस 'परम भाव' का मार्ग राजपथ-सा खुला रहा, न कोई बाधा थी न व्यवधान। मीरा ने

सच्चे हृदय से 'मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई' कहा। 'तुम बिन मेरो और न कोई' कहकर मीरा अपने गिरधर गोपाल के चरणों में गिरी और उसके ही हृदय ने 'पिया बिना रह्योइ न जाय' की तीव्र वेदना को पूरी तरह अनुभव किया। हृदय की इसी मूल प्रेरणा से ही 'साजि सिंगार बाँधि पग घुँघरू लोक-लाज तजि नाची'। फिर भी इस अल्हड़ प्रेम-तपस्विनी का रोना 'पिय बिना सूनो छै जी म्हारो देस' आजीवन बना ही रहा। इसीको मानव के हृदय पर परमात्मा का चुबन ' 'Divine kiss on human breast' कहते है। मीरा के गीत गीत के लिए नही है। वह गाती है क्योकि गाये बिना उसे रहा नही जाता। इन गीतो मे वेदना का अविच्छिन्न प्रवाह चल रहा है। इन गीतो मे बहते हुए प्रेम के स्वच्छ सोते मे एक बार अवगाहन करलेनेवाले प्रेम के अमृत का पान कर कुछ पागल से हो जाते है। उस प्रेम के मधुर आकर्षण के सम्मुख कुल-कानि या लोक-लाज की क्या हस्ती ?

मीरा की तुलना किससे की जाय ? जायसी कथाच्छलेन, अपने रहस्योन्मुख प्रेम पर कहानी की एक झीनी चादर डाल कर अपने 'प्रेम की पीर' को प्रकट कर रहे है। सूर के हाथ मे गोपियाँ है। भवभूति के हाथ मे सीता है, कालिदास के हाथ मे शकुन्तला। मीरा का किसी कवि से मिलान करना मीरा के परम प्रेम का अनादर करना है। मीरा कवि के रूप मे, गायक के रूप मे हमारे सम्मुख नही आती, श्रीकृष्ण की परम साध्वी अतरगिनी सखी के रूप मे, प्राणप्रिया हृदयेश्वरी के रूप मे आती है।

मीरा की तुलना केवल राधा से ही की जा सकती है, केवल राधा से। परन्तु राधा ने तो रास का रस पाया था। उसे तो श्यामसुदर का आलिगन एव परिरभन का अमृत मिला था। राधा को तो नटनागर के चले जाने पर ऊद्धव के भी दर्शन हुए। परन्तु मीरा ? इस परम तपस्विनी अल्हड साधिका के अधरो पर स्वप्न मे उस 'निठुर' ने अपने एक चुबन की मधुधार ढाली थी। चुबन की उस अमर सिहरन और कसकीले दाग को ही मीरा ने परम विभूति मानकर, उसका पावन 'प्रसाद' मानकर अपने जीवन को प्रेम के पारावार मे घुला दिया, लय कर दिया। स्वप्न के बाद जो जागृति आई उसमे अवधिहीन, अनन्त विरह की दारुण अथच मधुर ज्वाला हृदय मे आमरण धधकती रही। उसमें मनुष्य की निर्वासित आत्मा का अपने प्रभु से मिलने के लिये आकुल उच्छ्वास एव अनन्त विरह का दिव्य सकेत है।

ग्रीस देश में ईसा से पूर्व छठीं शताब्दी में सैफो (Sapho) नाम की ऐसी ही प्रेम-पुजारिन हुई। इसी प्रकार सेन्ट टेरेसा (St. Teresa) प्रसिद्ध ईसाई भक्तिन हो गई है। दक्षिण भारत के आलवार भक्तों में गोदा भी प्रेम की एक मधुमाती गायिका हो गई है। मीरा, गोदा, टेरेसा, सैफो और रबिया प्रेम-साधना के चिर जागृत प्रदीप है जिनकी प्रणय-ज्योति से भक्ति का पथ अब भी जगमगा रहा है।

भारतवर्ष का अणु-अणु राधा और मीरा की प्रीति से रससिक्त है। अब भी भक्ति और प्रेम में अनन्यता तथा सर्वात्म श्रीकृष्णार्पण की जहाँ चर्चा होती है वहाँ बड़े ही उल्लास से मीरा का नाम लिया जाता है। मीरा प्रेमियो मे शिरोमणि है। जीव-जीव के हृदय-वृन्दावन में पैरों में घूँघरू बाँधे, हाथ मे करताल लिये प्रेम-विह्वल नारी अनादि काल से व्याकुल गाती आ रही है—

हे री ! मैं तो प्रेम-दिवाणी मोरा दरद न जाने कोय।
सूली ऊपर सेज पिया की किस विध मिलणा होय ?

प्रेम साधना मे शायद 'प्राप्ति' का कोई अर्थ नही ! विरह के आनन्द के सम्मुख प्राप्ति मे कौन सा आनन्द ? पाकर हम क्या करेंगे ? कहाँ रखेंगे ? हमारे भीतर मिलन की उत्कण्ठा बनी रहे, प्रेम की पीर बनी रहे, हमारी खोज चलती चले—इसके आगे फिर और चाहिये क्या ?

बनी रहे हिय मधुर वेदना
बहते रहें अश्रु-निर्झर।
व्याकुल प्राण सदा तेरे—
दर्शन हित बने रहें नटवर!
सदा खोजता जाऊँ मैं
पर तू अनन्त में मिलता जा।
आतुर आँखों से ओझल हो
झिलमिल सा तू हिलता जा।

× × ×

यों छुक कर इस खोज ढूँढ़ से
करने लगें कूच जब प्राण।
बिना प्रयास भाव-वैभव से
गूँज उठे हिय-तन्त्री-तान!
रिमझिम बजती पाँय पैंजनी
मुरली मधुर बजाते नाथ!
आ हिय आँगन लगो नाचने
हम भी नचैं तुम्हारे साथ!!

The bride of the soul must be patiently waiting before the dlevine bridegroom can visit her—but light of faith should be ever burning in her to welcome the divine consort in her heart of hearts, and to be united with Him in His consoling and all-absorbing embrace.

—*Eastern Light.*

विनय

[१]

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई ।।
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई ।
तात मात भ्रात बधु अपना नहिं कोई ।
छोड़ दई कुल की कानि क्या करिहै कोई ।।
चुनरी के किये टूक ओढ़ लीन लोई ।
मोती मूँगे उतार बनमाला पोई ।।
अँसुवन जल सीच सीच प्रेम बेलि बोई ।
अब तो बेल फैल गई आनँद फल होई ।।
दूध की मथनिया, बड़े प्रेम से बिलोई ।
माखन जब काढ़ि लियो छाछ पिये कोई ।।
भगति देखि राजी हुई जगत देखि रोई ।
दासी मीरा लाल गिरधर तारो अब मोही ।।

---

[१] इस पद मे 'क्या करिहै कोई' तथा अगले पद मे 'होनी हो सो होई' में मीरा ने कितनी निर्भीकता के साथ इस जगत् को ललकारा है। आँसुओ के जल से सीची हुई प्रेम-बेलि लहलहा उठी और उसकी सुगध चारों ओर फैल गयी है अब इसे छिपाया भी जाय तो कैसे ? इन पदो मे मीरा की अपूर्व निष्ठा एव एकान्त आश्रय स्पष्ट रूप मे अभिव्यक्त हुआ है।

This love has affinity to honey which is sweet by itself makes other things sweet and flows of its own accord.

[२]

मेरे तो एक रामनाम दूसरो न कोई।
दूसरो न कोई साधो सकल लोक जोई।।
भाई छोड्या बंधु छोड्या छोड्या सगा सोई।
साध संग बैठ बैठ लोकलाज खोई।।
भगत देख राजी हुइ जगत देख रोई।
भगत सदा सीस पर राम हृदय होई।।
दधि मथि घृत काढि लियो डार दई छोई।
राणा विष का प्याला भेज्यो पीय मगन होई।।
अब तो बात फैल पडी जाणे सब कोई।
मीरा एम लगण लागी होनी होय सो होई।।

[३]

मीरा को प्रभु साँची दासी बनाओ।
झूठे धधो से मेरा फदा छुड़ाओ।।
लुटे ही लेत विवेक का डेरा।
बुधि बल यदपि करूँ बहुतेरा।।
हाय हाय कछु नहि बस मेरा।
मरत हूँ विबस प्रभु धाओ सबेरा।।
धर्म उपदेश नितप्रति सुनती हूँ।
मन कुचाल से भी डरती हूँ।।
सदा साधु सेवा करती हूँ।
सुमिरण ध्यान में चित धरती हूँ।।
भक्ति मारग दासी को दिखलाओ।
मीरा को प्रभु साँची दासी बनाओ।।

---

[२] प्रिय के नाम का आश्रय प्रेम-साधना का एक मुख्य आधार है। हाँ, इस नाम मे कोई तर्क या मक्तिलाभ आदि हेतु नही है। यह प्रिय का प्रेममय स्मरण है, इसमें किसी प्रकार का 'हठयोग' नही है, यहाँ तो संबन्ध-स्थापना के बाद प्रिय के रूप का ध्यान और उनके मधुर नाम की स्फूर्त्ति हृदय के अन्त पुर में स्वत हुआ करती है।

[३] इस पद मे खडी बोली का एक बहुत ही सुथरा रूप आता है। साधक जब प्रभु के पथ मे चलता है तो उसे नाना प्रकार के विघ्नो और

[४]

मन रे परसि हरि के चरण ।।
सुभग शीतल कँवल कोमल त्रिविध-ज्वाला हरण ।
जिण चरण प्रहलाद परसे इंद्र पदवी धरण ।।
जिण चरण ध्रुव अटल कीन्हे, राखि अपनी सरण ।
जिण चरण ब्रह्माड भेट्यो नखसिखाँ सीरी धरण ।।
जिण चरण प्रभु परसि लीने तरी गोतम घरण ।
जिण चरण कालीनाग नाथ्यो गोपलीला करण ।।
जिण चरण गोबर्द्धन धार्यों गर्व मघवा हरण ।
दासि मीरा लाल गिरधर अगम तारण तरण ।।

बटमारों का सामना करना पडता है और कई बार वह अब हारा तब हारा सा हो जाता है। जगत के प्रलोभन बहुत दूर तक चलते है और अपनी मोहिनी माया से साधक को पथभ्रष्ट कर देना चाहते है। ऐसी ही लाचारी के क्षण मे साधक भगवान् को पुकार उठता है और उसे पुकारते ही भगवदीय शक्ति उसकी सहायता में लग जाती है।

There must be a total and sincere surrender, there must be an exclusive self-opening to the Divine power, there must be a constant integral choice of the Truth that is descending a constant and integral rejection of the falsehood of the mental, vital and physical powers and appearances that still rule the earth-nature. 'Mother.

[4] "Ind Go's love no virtue is uplifting no vo'os is degrading The generic impulses and desire bind man outwardly in social life and relationships but it is these which at the same time quicken contemplation Hence the passionate soul alone can be a true mystic and for him love, truth and beauty reveal themselves in man's daily relationships and concrete experiences with fellow-men.

—Theory and Art of Mysticism 238

भक्त पहले भगवान् के चरणामृत का ही पान करता है और फिर अधरामृत का अधिकारी होता है। भक्त की दृष्टि पहले भगवान् के चरणों पर ही जाती है और वह वहाँ अपने मन प्राण का शीतल मधुर आश्रय पाकर कृतकृत्य हो जाता है। मीरा के मन में श्रीकृष्ण की मोहिनी मूर्त्ति उमँग आयी है, मीरा ध्यान-नेत्रो से एक टक उन सुभग, शीतल, कमल-कोमल तथा त्रिविध तापो को मिटा देनेवाले प्यारे प्यारे चरणो की शीतल स्निग्ध आभा को देख रही है और मन से कह रही है कि रे मन हरि के इन चरणों का स्पर्श कर। सहज ही मीरा को गौतमपत्नी अहल्या का स्मरण हो आता

[५]

सुण लीजो विनती मोरी मैं सरण गही प्रभु तोरी ।।
तुम (तो) पतित अनेक उधारे भवसागर से तारे ।
मैं सबका तो नाम न जानूं कोई कोई नाम उचारे ।।
अंबरीष सुदामा नामा तुम पहुंचाये निज धामा ।
ध्रुव जी पाँच बरस को बालक तुम दरस दिये घनस्यामा ।।
धना भगत का खेत जमाया कबिरा का बैल चराया ।
सबरी का जूठा फल खाया तुम काज किये मनभाया ।।
सदना औ सेना नाई को तुम कीन्हा अपनाई ।
करमा की खिचड़ी खाई तुम गणिका पार लगाई ।।
मीरा प्रभु तुमरे रंगराती या जानत सब दुनियाई ।।

[६]

मैं तो थारी सरण परी रे रामा ज्यूं तारै त्यूं तार ।
अडसठ तीरथ भ्रम भ्रम आया मन नहिं मानी हार ।।
या जग में कोई नहिं अपना सुणियो श्रवण मुरार ।
मीरा दासी राम भरोसे जमका फंदा निवार ।।

[७]

बसो मेरे नैनन में नंदलाल ।।
मोहनि मूरति साँवरि सूरति नैणा बने विसाल ।
अधर सुधा रस मुरली राजति उर बैजंती माल ।।
छुद्र घंटिका कटितट सोभित नूपुर सबद रसाल ।
मीरा प्रभु संतन सुखदाई भक्त बछल गोपाल ।।

है—अभिशाप की ज्वाला में जलती हुई शिला प्रभु के चरणों का स्पर्श पा कर जी उठी ! भगवान के चरणों की महिमा इस पद में एक ही स्थान पर बड़े ही सजीले शब्दों में गायी गयी है ।

[7] "Finding her delight and Strength in Him the soul gains the vigeur and confidence which enable her easily to abandon all other affections It was necessary in her struggle with the attractive froce of her sensual desires, not only to have this love for the Bridegroom, but also to be filled with a burning fervour full of anguish."

—*St. John of the Cross.*

[८]

थे तो पलक उघाड़ो दीनानाथ
मैं हाजिर नाजिर कदकी खड़ी ।।
साजनियो दुसमण होय बैठ्या
सबने लगूँ कडी ।
तुम बिन साजन कोई नही है ।
डिगी नाव मेरौ समद अड़ी ।।
दिन नहि चैन रैण नहिं निदरा
सूखूँ खडी खडी ।
बाण बिरह का लग्या हिये में
भूलूँ न एक घडी ।।
पत्थर की तो अहिल्या तारी
बन के बीच पडीं ।
कहा बोझ मीरा में कहिए
सौ पर एक घडी ।।

[९]

हरि तुम हरो जनकी भीर ।।
द्रोपदी की लाज राखी तुम बढायो चीर ।।
भक्त कारन रूप नरहरि धर्यो आप सरीर ।
हरणाकुस मारि लीन्हौं धर्यो नाहिं न धीर ।

---

[8] "When God loves a man, He endows him with a bounty like that of the sea, a sympathy like that of the sun and a humility like that of the earth No suffering can be too great, no devotion too high for the piercing insight and burnihg faith of a true love."

—*Bayazid Bastami.*

[9]When our lamp is lit we find the house of our being has many chambers and there an corridors there leading into the hearts of others and windows which open into eternity and we can hardly tell where our own being ends and another begins or if there is any end to our being If we brood with love upon this myriad unity to let our mind pervade the whole wide world with heart of love we come more and more to permeate or to be pervaded by lives of others, —*George Russel.*

बूड़तो गजराज राख्यौ कियो बाहर नीर ।।
दासि मीरा लाल गिरधर चरण कँवल पै सीर ।*

[१०]

अब मैं सरण तिहारी जी मोहि राखौ कृपानिधान ।
अजामील अपराधी तारे, तारे नीच सदान ।।
जल डूबत गजराज उबारे गणिका चढी विमान ।
और अधम तारे बहुतेरे, भाखत संत सुजान ।।
कुबजा नीच भीलणी तारी, जाणै सकल जहान ।।
कहँ लग कहूँ गिणत नहि आवै थकि रहे वेद पुरान ।
मीरा दासी सरण तिहारी, सुनिये दोनो कान ।।

[११]

प्रभु जी मैं अरज करूँ छूँ मेरो बेडो लगाज्यो पार ।।
इण भव में मैं दुख बहु पायो संसा-सोग-निवार ।
अष्ट करम की तलब लगी है दूर करो दुख भार ।।
यो ससार सब बह्यो जात है लख चौरासी धार ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर आवागमन निवार ।।

[१२]

हरि बिन कूण गति मेरी ।।
तुम मेरे प्रतिकूल कहिये मैं रावरी चेरी ।
आदि अंत निज नाँव तेरो हीया में फेरी ।।
बेरि बेरि पुकारि कहूँ प्रभु आरति है तेरी ।
यौ संसार विकार-सागर बीच में घेरी ।।
नाव फाटी प्रभु पालि बाँधो बूडत है बेरी ।
विरहणि पिव की बाट जोवै राखि ल्यौ नेरी ।
दासि मीरा राम रटन है मैं सरण हूँ तेरी ।।

---

*पाठान्तर 'दुख जहाँ तहँ पीर'—अर्थात् जब जब भक्तो पर भीर पडती है तो भगवान का हृदय पीडा से बिकल हो जाता है और भक्त का दुःख भगवान से देखा नही जाता । सूरदास का 'हौ भक्तन के भक्त हमारे' पद मिलाइये ।

[१२] राखि ल्यौ नेरी–भगवान की सन्निधि ही भक्त का परम आनन्द है ।

[१३]

हमने सुणी छै हरि अधम उधारण ।
अधम उधारण सब जग तारण, हमने सुणी छै० ।।
गज को अरजि गरजि उठि धाओ ।
संकट पड्यो तब कष्ट निवारण ।।
द्रुपदसुता को चीर बढ़ायो ।
दूसासन को मान मद मारण ।
प्रह्लाद को प्रतग्या राखी,
हरणाकस नख उद्र विदारण ।।
रिखि पतनी पर किरपा किन्हीं,
बिप्र सुदामा की बिपति बिदारण।
मीरा के प्रभु मो बंदी परि
एती अबेरि भई किण कारण ।।

[१४]

हरि मोरे जीवन प्रान अधार ।
और आसिरो नाहीं तुम बिन तीनूं लोक मंझार ।।
आप बिना मोहि कछु न सुहावै निरखौं सब ससार ।
मीरा कहे मैं दासि रावरी दीज्यौ मती विसार ।।

---

[१३] इस पद की अन्तिम दो पक्तियो में 'बदी' शब्द का अर्थ बन्दिनी भी हो सकता है और बदा (भक्त, निजजन) का स्त्री वाचक भी। मीरा अपने को प्रभु की 'बदिनी' मानती है फिर भी दरसन में अबेर होते देख उसे सहसा गज, द्रौपदी, प्रह्लाद, अहल्या और सुदामा का स्मरण हो आता है जिनमे प्रभु की कृपा साक्षात् प्रकट हुई थी फिर इनका नाम लेने के बाद मीरा अपने आप पूछती है—

मीरा के प्रभु मो बदी पर
एती अबेर भई केहि कारण ?

(१४) Prayer in this wide sense is the very soul and essence of religion for religion is an intercourse, a relation entered into by a soul in distress with the mysterious power which it feels itself to depend. This intercourse with God is realized by prayer Prayer is religion in act; that is, prayer is real

[१५]

रावलो विड़द मोहि रूठा लागे, पीड़ित परायें प्राण ।
सगो स्नेही मेरी और न कोई, बैरी सकल जहान ॥
ग्राह गह्यो गजराज उबारयो बूड़ न दियो छे जान ।
मीरा दासी अरज करत है नहिं जी सहारो आन ॥

[१६]

हमरो प्रणाम बाँके बिहारी को ।
मोर मुगट माथे तिलक बिराजै कुण्डल अलकाकारी को ।
अधर मधुर पर बंसी बजावै रीझ रिझावै राधा प्यारी को।
यह छबि देख मगन भई मीरा मोहन गिरवरधारी को ।

[१७]

तनक हरि चितवौ हमरी ओर ।
हम चितवत तुम चितवत नाही दिल के बड़े कठोर ॥
मेरे आसा चितवनि तुमरो और न दूजी दोर ।
तुम से हम कूं एक हो जी हमसी लाख करोर ॥
ऊभी ठाढ़ी अरज करत हूँ अरज करत भयो भोर ।
मीरा के प्रभु हरि अबिनासी देस्यूं प्राण अकोर ॥

---

religion. Wherever this prayer rises and stirs the soul we have living religion.

The Varieties of Religious Experiences 464

[१६] 'रीझ रिझावै राधा प्यारी को'—आज सागर स्वय नदी को रिझाने के लिए उमड पडा है । श्रीकृष्ण आज राधा के रूप पर मुग्ध होकर उन्हे रिझा रहे है, मना रहे है । यह मनुहार-लीला भक्तो का प्राण है जिनमें स्वय भगवान अपनी सारी भगवत्ता छोडकर भक्त के चरण में लोटते हैं और मनाते हैं । मालूम होता है, वृन्दावन आ जाने के बाद मीरा अपने को राधारानी से अलग न पा सकी, राधा-रूप हो गयी, यह देख रही है कि प्यारे ने जो आज इतना सुन्दर शृंगार किया है वह केवल मुझे रिझाने के लिए ही, बलात् अपने प्यार का मधु पिलाने के लिए ही ।

[17] She feels an extraordinary loneliness, finds no companionship in any earthly creature; nor could she I believe among those who dwell in heaven, since they are not her Beloved.

[१८]

राम मोरी बाँहड़ली जी गहो ।
या भव सागर मँझधार में थें ही निभावण हो ।।
म्हा में औगण घणा छे ही प्रभुजो थें ही सहो तो सहो ।
मीरा के प्रभु हरि अविनासी लाज विरद की वहो ।।

[१९]

तुम सुणो दयाल म्हॉरी अरजी ।
भव सागर में बही जात हूँ काढो तो थाँरी मरजी ।
इण ससार सगो नहि कोई साँचा सगा रघुबर जी ।।
मात पिता और कुटुम कबीलो सब मतलब के गरजी ।
मीरा की प्रभु अरजी सुणलो चरण लगावो थाँरी मरजी ।।

[७०]

मेरी मन बसिगो गिरधर लाल सों ।
मोर मुकुट पीताम्बर हो गल बैजंती माल ।।
गउवन के सँग डोलत हो जसुमति को लाल ।

Meanwhile all company is torture to her, She is like a person suspended in mid air who can neither touch the earth, nor mount to heaven She burns with a consuming thirst and cannot reach the water And this is a thirst which cannot be borne, one which nothing will quench nor would she have it quenched with any other waterthan the one that is denied her"

—*St. Teresa*

[१८] सभी अवगुण गुण नहि कोई ।
क्यो करि कत मिलावा होई ।।
ना मै रूप न बके नैणा ।
ना कुछ ढंग न मीठे बैणा ।।
सहज सिंगार कामिनि करि आवै ।
ता सुहागिनि जा कत भावै ।।

—नानक

मन परतीत न प्रेम रस ना इस तन में ढग ।
क्या जानू उस पीवसू कैसे रहसी रग ।।

—कबीर

कालिन्दी के तीर हो कान्हा गउवाँ चराय ।।
सीतल कदम की छहियाँ हो मुरली बजाय ।।
जसुमति के दुवरवा हो ग्वालिन सब जाय ।
बरजहु आपन दुलरुवा हो हमसो अरुझाय ।।
वृन्दावन क्रीड़ा करै हो गोपिन के साथ ।
सुर नर मुनि मन मोहे हो ठाकुर जदुनाथ ।
इन्द्र कोप घन बरखो मूसल जलधार ।।
बूडत ब्रज को राखे हो मोरे प्राण अधार ।।
मीरा के प्रभु गिरधर हो सुनिये चित लाय ।
तुम्हरे दरस की भूखी हो मोहि कछु न सुहाय ।।

[२१]

अब तो निभायां सरेगी, बाँह गहे की लाज ।
समरथ सरण तुम्हारी सइयां, सरब सुधारण काज ।।
भव सागर ससार अपर बल जा में तुम हो जहाज ।
निरधारां आधार जगत गुरु तुम बिन होय अकाज ।।
जुग जुग भीर हरी भगतन की दीनी मोक्ष समाज ।
मीरा सरण गही चरणन की लाज राखो महराज ।।

[२२]

म्हाँने चाकर राखो जी ।
गिरधर लाल चाकर राखो जी ।।
चाकर रहसूँ बाग लगासूँ नित उठ दरसण पासूँ ।
बिद्रावन की कुज गलिन में गोविन्द लीला गासूँ ।।
चाकरी में दरसण पाऊँ सुमिरन पाऊँ खरची ।
भाव भगति जागीरी पाऊँ, तीनों बाताँ सरसी ।।
मोर मुकुट पीताम्बर सोहै, गल बैजती माला
बिद्राबन में धेनु चरावै, मोहन मुरली वाला ।।
हरे हरे नित बाग लगाऊँ, बिच-बिच राखूँ क्यारी ।*
साँवरिया के दरसण पाऊँ, पहर कुसुम्भी सारी ।।

पाठान्तर* ऊँचे-ऊँचे महल बनाऊँ, बिच बिच राखूँ बारी ।

जोगी आया जोग करण कूं, तप करणे संन्यासी।
हरी भजन कूं साधू आया, बिंद्राबन के वासी।।
मीरा के प्रभु गहरि गभीरा * हृदे रहो धीरा।
आधी रात प्रभु दरसण देहैं, *प्रेमनदी के तीरा।।

[२३]

प्यारे दरसण दीज्यो आय
तुम बिन रह्योइ न जाय।।
जल बिन कमल चद बिन रजनी
ऐसे तुम देख्यां बिन सजनी।
आकुल व्याकुल फिरूँ रैन दिन
विरह कलेजो खाय।।
दिवस न भूख नींद नहिं रैना,
मुख सूँ कहत न आव बैना।
कहा कहूँ कछु कहत न आवै
मिलकर तपन बुझाय।।
क्यूँ तरसावो अतरजामी
आय मिलो किरपा करस्वामी।
मीरा दासी जनम जनम की
पडी तुम्हारे पाय।।

---

* सदा *यमुनाजी

[२२] अपने जीवनधन के साहचर्य-सुख के लिये मीरा उनके बाग की मालिन बनने का अधिकार मांगती है जिसमे नित उठ दरसन का सुख मिला करे। यह दरसन ही उसकी मजूरी होगी भगवान् का स्मरण उसकी खर्ची होगी, और भाव भगति जागीर होगी। 'जोगी आया ' आदि में योग और तप से भी बढ़ कर भजन की महिमा बतायी गयी है और भी साथ में वृन्दावन वास हो तो फिर क्या पूछना ?

अन्त में मीरा अपने हृदय को ढाढस देती हुई समझाती है, रे हृदय धैर्य रख अपने प्रेम की बाती जलाये रख आधी रात में जब चारो ओर सन्नाटा हो जायगा तब प्रेम रूपी यमुना के तट पर प्राणाधार श्रीकृष्ण तुम्हें मिलेंगे, अवश्य मिलेंगे।

[२३] 'क्यू तरसावो अतरजामी'—

,,Think not that God will be always caressing His children or shine upon their head or kindle their hearts as He does act

[२४]

पिया तेरे नाम लुभाणी हो ।
नाम लेत तिरता सुण्या जैसे पाहन पाणी हो ।।
सुकिरत कोई ना कियौ, बहु करम कुमाणी हो ।
गणिका कीर पढ़ावतां बैकुण्ठ बसाणी हो ।।
अरध नाम कुंजर लियो वाको अवध घटानी हो ।
गरुड छाँड़ि हरि धाइया पसुजूण मिटाणी हो ।।
अजामेल से ऊधरे जमत्रास नसानी हो ।
पुत्र हेते पदवी दइ जग सारे जाणी हो ।।
नाम महातम गुरु दियो परतीत पिछाणी हो ।
मीरा दासी रावली अपणी कर जाणी हो ।।

[२५]

म्हारे नैणां आगे रहो जी, स्याम गोबिन्द ।।
दास कबीर घर बालद जो लाया नामदेव को छान छबंद
दास धना को खेत निपजायो गज की टेर सुनंद ।।
भीलणी का बेर सुदामा का तंदुल भर मुठड़ी बुकंद ।
करमा बाइ को खीचड अरोग्यो होइ परसण पाबंद ।।
सहस गोप बिच स्याम बिराजे ज्यों तारा बिच चंद ।
सब संतों का काज सुधारा मीरा सूँ दूर रहंद ।।

---

the first. He does so only to lure us to Himself as the falconer lures the falcon with its gay hood... ...."

—*Taular*

[२४] "नाम महातम गुरु दियो" जाणी हो" श्री गुरुमुख से प्राप्त 'नाम' के द्वारा ही साधक के हृदय में भगवान् के लिए 'प्रतीति' होती है और इस प्रतीति से ही 'प्रीति' होती है, 'बिन परतीति प्रीति नहीं होइ'। इस प्रीति के उदय होने हो साधक का भगवान् के साथ संबन्ध स्थापित हो जाता है और वह भगवान् का तथा भगवान् उसके हो जाते हैं।

"In the emotional approaches to God the sense of a Divine presence is so strong that even the senses and desires are transmuted. The burden of sin is grievous; neither good deeds nor knowledge, neither yoga meditation nor asceticism can avail against it. Only by the water of faith and love is the interior stain effaced." —*Theory and Art of Mysticism*

रूप-राग

[२६]

या मोहन के मैं रूप लुभानी ।

सुंदर वदन कमल दल लोचन बाँकी चितवन मंद मुसकानी ।।

जमुना के नीरे तीरे धेनु चरावै बंसी में गावैं मीठी बानी ।

तन मन धन गिरधर पर वारूं चरण कवल मीरा लपटानी ।।

---

[२६] जिस रूप पर मीरा का हृदय लुभाया है वह जगत को लुभानेवाला है । इस सुन्दर रूप पर इस बाँकी चितवन और मंद-मंद मुसकान पर कौन न लुट जाय ? और फिर यमुना के तीर पर गायों को चराते-चराते वह वंशी में मीठी बानी गाने लगता है—'नामसमेत कृतसंकेत वादयते मृदुवेणुम्' । कैसे न मीरा इस संकेत भरी मुरली के स्वर को सुनकर अपना तन, मन और प्राण उस गिरधर नागर पर न्योछावर करके उन्हीं के सुभग शीतल कमल कोमल त्रिविधज्वालाहरण चरणों से लिपट जाय ?

[26]-[40] 'Ravishing' says Rolle, as it is showed in two ways is to be understood. One manner, forsooth, in which a man is ravished out of fleshly feeling, Another manner of ravishing there is that is lifting of mind into God by contemplation and this manner of ravishing is in all that are perfect lovers of God and in none of them but that love God'.

[२७]

निपट बंकट छवि अटके ।।

मेरे मैना निपट बंकट छवि अटके ।
देखत रूप मदन मोहन को पियत मयूखन मटके ।।
वारिज भवा अलक टेढी करि मुरली टेढी पाग लर लटके ।।
मीरा प्रभु के रूप लुभानी गिरधर नागर नट के ।।

[२८]

जब से मोहिं नंदनदन दृष्टि पड्यो माई ।
तब से परलोक लोक कछू ना सोहाई ।।
मोरन की चन्द्रकला सीस मुकुट सोहै ।
केसर को तिलक भाल तीन लोक मोहै ।।
कुंडल की अलक झलक कपोलन पर छाई ।
मनो मीन सरवर तजि मकर मिलन आई ।।
कुटिल भृकुटि तिलक भाल चितवन में टौना ।
खजन अरु मधुप मीन भूले मृगछौना ।।
सुदर अति नासिका सुग्रीव तीन रेखा ।
नटवर प्रभु भेष धरे रूप अति विसेखा ।।
अधर बिंब अरुन नैन मधुर मंद हाँसी ।
बसन दमक दाड़िम दुति चमके चपला सी ।।
छुद्रघट किंकनी अनूप धुनि सोहाई ।
गिरधर के अंग अंग मीरा बलि जाई ।।

[२९]

श्री गिरधर आगे नाचूँगी ।
नाचि नाचि पिव रसिक रिझाऊँ प्रेमी जनकूँ जाचूँगी ।
प्रेम प्रीति की बाँधि घूंघरू सुरत की कछनी काछूँगी ।

'Oh Wonder of wonders' cries Eckhart, when I think of the union the soul has with God! He makes the enraptured soul to flee out of herself, for she is no more satisfied with any thing that can be named. The spring of Divine Love flows out of the soul and draws her out of herself into the unnamed Being into her first source which is God alone.

—*Eckhart, 'On the steps of the soul.'*

लोक लाज कुल की मरजादा या में एक न राखूँगी ।
पिव के पलगा जा पौढ़ूँगी मीरा हरि रंग राचूँगी ।

[३०]

नैणा लोभी रे बहुरि सके नहिं आइ ।
रूँम रूँम नख सिख सब निरखत ललकि रहे ललचाइ ।
मैं ठाढी ग्रिह आपणे री मोहन निकसे आइ ।।
वदन चंद परकासत हेली मंद मंद मुसकाइ ।
लोक कुटुंबी बरजि बरजि रहीं बतियाँ कहत बनाइ ।।
चंचल निपट अटक नहिं मानत परहथ गये बिकाइ ।
भली कहौ कोइ बुरी कहौ मैं, सब लई सीस चढ़ाइ ।।
मीरा कहे प्रभु गिरधर के बिन पलभर रह्यौ न जाइ ।।

[३१]

आली री मेरे नैणाँ बाण पड़ी ।
चित्त चढ़ी मेरे माधुरी मूरत उर बिच आन अड़ी ।
कब की ठाढ़ी पंथ निहारूँ अपने भवन खड़ी ।।
कैसे प्राण पिया बिन राखूँ जीवन मूर जड़ी ।
मीरा गिरधर हाथ बिकानी लोग कहे बिगड़ी ।।

---

[29] All things then I forgot,
My cheek on Him who for my coming came,
All ceased and I was not
Leaving my cares and shame
Among the lilies, and forgetting them.
—*St. John of the cross*

[३१] एक बार, बस एक बार उस 'साजन' के दर्शन क्षण भर के लिए हो पाये थे। वह 'माधुरी मूरत' आँखो की खिड़की से हृदय के अन्तःपुर में आ घुसी, उसे देखते ही लोक परलोक की सारी लाज और सारे सम्बन्ध पटापट टूट गए और मीरा उसके हाथ बिक गयी, अपना लोक परलोक सब कुछ उसके चरणो में निछावर कर दिया और अब लोग उसे 'बिगडी' कहते हैं, कहते रहें। भारतीय नारी के लिए लोक लाज की तिलांजली देना बहुत कठिन है; आर्यपथ का त्याग 'दुस्त्यज' कहा गया है इसी लिए भगवत्प्रेम के पथ में यह बहुत बड़ी बाधा, बहुत बड़े विघ्न के रूप में खड़ा रहता है।

[३२]

मैं तो म्हांरा रमैया ने देखबो करूँरी ।
तेरो ही उमरण तेरो ही सुमरण तेरो ही ध्यान धरूँ री ।।
जहँ जहँ पांव धरूँ धरणी पर तहँ तहँ निरत करूँ री ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरणां लिपट परूँ री ।।

[३३]

अस पिया जाण न दीजै हो ।
तन मन धन करि बारणै हिरदे धरि लीजै हो ।।
आव सखी मुख देखिये नैनां रस पीजै हो ।
जिह जिह बिधि रीझै हरि सोई विधि कीजै हो ।
सुंदर स्याम सुहावणा देख्यां जीजै हो ।
मीरा के प्रभु राम जी बड़ः भागण रीझै हो ।।

---

[32] In my heart Thou dwellest, else with blood, will drench it,
In mine eye Thou glowest, else with tears I will quench it
Only to be one with Thee my soul desireth-
Else from out my body, I will wrench it,

—Abu Said

'In the bridal chamber of Unity God celebratea the mystical marriage of the soul'

—The mystcs of Islam

Jesus has come to take up his abode in my heart It is not so much a habitation, or an association as a sort of fusion. Oh new and blessed life, life which becomes each day mre uminous, The wall before me darks few moments since, is splendid at this hour because the sun shines on it Wherever its rays fall they light up a conflagration of glory, the smallest speck of glass sparkles, each grain of sand emits fire, even so there is a royal song of triumph in my heart because the Lord is there... ..

Formerly the day was dulled by the absence of the Lord- Todays he is with me I feel the pressure of his hand I feel some thing else which fills me with a serene joy, Shall I dare to speak it out ? Yes for it is the true expression of what I experience. Thy Holy Spirit is not merely makfng me a visit, it is no more dazzling apparition which may from one moment to another spread its wings and leave me in my night It is a permanent habitation He can depart only if he takes me with him,

Quoted from the MS. 'of an old man' by Wilfred Monod.

[३४]

मै तो साँवरे के रंग राँची ।
साजि सिगार बाँधि पग घुंघरु लोक लाज तजि नाची ।।
गई कुमति लई साधुकी सङ्गति भगत रूप भई साँची ।
गाय गाय हरि के गुन निस दिन काल व्याल से बाँची ।।
उण बिन सब जग खारो लागत और बात सब काँची ।
मीरा श्री गिरधरन लाँल सूँ भगति रसीली जाँची ।।

[३५]

मै तो गिरधर के घर जाऊँ ।
गिरिधर म्हारो साँचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊँ ।।
रैण पड़ै तबहीं उठि जाऊँ भोर भये उठि आऊं ।
रैण दिना वाके संग खेलूँ ज्यूँ त्यूँ वाहि रिझाऊं ।।
जो पहिरावै सोई पहिरूँ जो दे सोई खाऊँ ।।
मेरी उनकी प्रीति पुराणी उण बिन पल न रहाऊँ ।
जित बैठावे तितही बैठूँ बेचै तो बिक जाऊँ ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर बार बार बलि जाऊँ ।।

[३६]

मै गिरधर रंगराती सैयां, मै गिरधर रग राती ।।
पच रंग चोला पहर सखी मै झिरमिट खेलन जाती ।
ओह झिरमिट मां मिल्यो सांवरों खोल मिली तन गाती ।।
जिनका पिया परदेस बसत है लिख लिख भेजै पाती ।
मेरा पिया मेरे हीय बसत है ना कहुँ आती जाती ।।

---

[३६] खोल मिली तन गाती—आवरण हटा कर, निरावरण होकर प्राणवल्लभ, हृदयरमण से मिली । 'मेरा पिया मेरे हीय बसत है' में कितनी निगूढ मधुर अनुभूति का संकेत है ।

If the soul were stripped of all her sheaths, God would be discovered all naked to her view and would give Himself to her all her withholding nothing As long as the soul has not thrown off veils, however thin she is unable to see God.

—*Meister Eckhart*

'Naked follow the naked Christ'.
'कुलशील लज्जाभय परिहरे समुदय:' ।

चंदा जायगा सूरिज जायगा जायगी धरणि अकासी।
पवन पाणी दोनो हिं जायेंगे अटल रहै अविनासी।।
सुरत निरत का दिवलो संजोले मनसा की करली बाती।
अगम घाणि को तेल बनायो बाल रही दिन राती।।
और सखी मद पी पी माती मैं बिन पीयाँ ही माती।
प्रेम भटी को मैं मद पीयो छकी फिरूँ दिन राती।।
जाऊँ न पीहर जाऊँ न सासर हरि सूं सैन लगाती।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर हरि चरणा चित लाती।।

[३७]

मैं अपणे सैयाँ संग साँची।
अब काहे की लाज सजनी परगट ह्वै नाची।
दिवस भूख न चैन कबहूं नींद निसि नासी।
बेधि वार पार ह्वैगो ग्यान गुह गाँसी।।
कुल कुटुंबी आन बैठे मनहु मधुमासी।
दासि मीरा लाल गिरधर मिटी सब हाँसी।।

[३६-३७] With thy sweet soul this soul of mine
Hath mixed as water doth with wine,
Who can the water and wine part
Or me and Thee when are combined ?
Thy love has pierced me through and through
Its thrill with bone and nerve entwine
I rest a flute laid on Thy lips,
A lute, I on Thy breast recline.
Breathe deep in me that I may sigh
Yet strike my strings and tears shall shine.
—*Jalalu'd Din, "The festival of spring."*

[३७] जब साजन के साथ खुले रूप में नाचा ही तो अब लज्जा किस बात की, परवाह किसको ? हृदय मे यह दृढ विश्वास है कि मैं अपने सैया के संग साँची हूँ, तब फिर किसी व्यक्ति था वस्तु का अपेक्षा क्यो हो ?

[३८]

कोई कछू कहे मन लागा ।
ऐसी प्रीत लगी मनमोहन ज्यूं सोना में सोहागा ।
जनम जनम का सोया मनुआँ सतगुरु सब्द सुण जागा ।।
मात पिता सुत कुटुम कबीला टूट गयो ज्यूं तागा ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर भाग हमारा जागा ।।

[३९]

माई री मैं तो लियो गोबिन्दो मोल ।
कोई कहै छाने कोई कहै चुपके लियो री बजता ढोल ।।
कोई कहै महंगो कोई कहै सहंगो लियो री तराजू तोल ।
कोई कहै कारो कोई कहै गोरो लियो री अमोलक मोल ।।
कोई कहै घर में कोई कहै बन में राधा के संग किलोल ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर आवत प्रेम के मोल ।।

---

[३८] 'ज्यों सोना में सोहागा'—

Thy spirit is mingled in my spirit even as wine is mingled with pure water.
When any thing touches Thee it touches me Lo, in every case Thou art I
I am He whom I love, and He whom I love is I.
We are two spsrits dwelling in one body.
If thou seest me, thou seest Him,
And if thou seest Him, thou seest us both.

—Mansur Hallaj

[३९] प्रेमी अपने प्रियतम को कितनी दृढ़ता के साथ बाँध लेता है—इस भाव का इस पद में बड़ा ही भव्य एवं सुन्दर विन्यास हुआ है। 'छीन बजंता ढोल' में कितनी मीठी गर्वोक्ति है !

Upon my flowery breast
Wholly for Him and save Himself for none
There did I give sweet rest
To my Beloved One:
The fanning of the cedars breathed thereon.
All things I then forgot
My cheek on Him who for my wooing came...
All ceased and I was not
Leaving my cares and shame
Among the lilies and forgetting them.

—St. John of the Cross

[४०]

बड़े घर ताली लागी रे म्हाराँ मन री उणारथ भागी रे।
छीलरिये म्हाँरो चित्त नहीं रे डाबरिये कुण जाव।
गंगा जमना सूं काम नहीं रे मैं तो जाय मिलूं दरियाव ॥
हाल्यां मोल्यां सूं काम नहीं रे सीख नहीं सिरदार।
कामदाराँ सूं काम नहीं रे मैं तो जाब करूं दरबार ॥
काच कथीर सूं काम नहीं रे लोहा चढे सिर भार।
सोना रूपां सूं काम नहीं रे म्हाँरे हीरां रो बौपार ॥
भाग हमारो जागियो रे भयो समद सूं सीर।
इम्रित प्याला छांड़ि कै कुण पीवै कड़वो नीर ॥
पीपा कूं प्रभु परचो दीन्हो दिया रे खजीना पूर।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर धणि मिल्या छै हजूर ॥

---

[४०] उणारथ = लालसा, कामना, संकल्प-विकल्प।

गुरुकृपा और प्रीतिदान

[४१]

मोहि लागी लगन गुरु चरनन की ।
चरन बिना कछुवै नहिं भावै जग माया सब सपनन की ।।
भव सागर सब सूखि गयो है फिकर नहीं मोहिं तरनन की ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर आस वही गुरु सरनन की ।।

[४१–७०] जिस प्रकार पूर्ण योग का परम शास्त्र प्रत्येक मनुष्य के हृदय में छिपा हुआ वेद है उसी प्रकार इसके परम-पथ प्रदर्शक और गुरु वे ही अन्तर्यामी जगद्गुरु है जो हमारे अन्दर गुप्त रूप से विराजमान है । वे ही अपने भास्वर ज्ञानदीप से हमारे तम का नाश करते है । उनका जो मुक्त आनन्दमय, प्रेममय, सर्वशक्तिमय, अमृतस्वरूप है उसे वे क्रमश हमारे अन्दर खोल कर दिखला देते है । साधक की प्रकृति के अदर जो उंची से ऊँची शक्तियाँ और गतियाँ हो सकती है उन्हे सहज भाव से सुव्यवस्थित करना ही उनकी विधि है । गुरु मौन रह कर भी शिष्य के अन्दर वही चीज डालता रहता है जो वह स्वय है और जो उसके अधिकार में है । गुरु भगवदीय दायित्व के निर्वाह मे केवल एकमात्र भाजन और प्रतिनिधि मात्र है । वे अपने भाइयो के सहायक एक मनुष्य है, बच्चो को ले चलने वाले एक बालक है, अन्य दीपो को प्रज्वलित करने वाले एक दीप-ज्योति है, आत्माओं को जगाने वाले एक आत्मा है—अधिक से अधिक भगवान् की अन्य शक्तियो को अपने पास बुलानेवाली एक शक्ति या सत्ता है ।

—श्रीअरविन्द

[४२]

री मेरे पार निकस गया सतगुरु मार्या तीर।
बिरह भाल लागी उर अंदर व्याकुल भया सरीर॥
इत उत चित्त चलै नहिं कबहूँ डारी प्रेम जंजीर।
कै जाणै मेरो प्रीतम प्यारो और न जाणै पीर॥
कहा करूँ मेरो बस नहि सजनी नैन झरत दोउ नीर।
मीरा कहै प्रभु तुम मिल्यां बिन प्राण धरत नहिं धीर॥

[४३]

भर मारी रे बानां मेरे सतगुरु बिरह लगाय के।
पाँवन पंगा कानन बहिरा सूझत नाहिं न नैना॥
खडी खड़ी रे पंथ निहारूँ मरम न कोई जाना।
सतगुरु औषध ऐसी दीन्हीं रुम रुम भई चैना॥
सतगुरु जस्या बैद न कोई पूछो बेद पुराना।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर अमर लोक में रहना॥

[४४]

मैंने नाम रतन धन पायो।
बसत अमोलक दी मेरे सतगुरु करि किरपा अपणायो॥
जनम जनम की पूंजी पाई जग में सबै खोवायो।
खरचै नहिं कोई चोर न लेवै दिन-दिन बढ़त सवायो॥
सत्त की नांव खेवटिया सतगुरु भवसागर तरि आयो।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर हरखि हरखि जस गायो॥

---

[४४] श्री गुरुदेव के मुख से 'नाम' रत्न की प्राप्ति होती है और वही नाम का मणि-दीप अन्तस को तेजोद्दीप्त करके भगवान् का साक्षात्कार करा देता है। नाम का रस ऐसा है कि जितना पिया जाय उतना ही और पीते रहने की इच्छा बढती है। वह इच्छा परम मगलमयी है अमृतमयी है। 'हरख हरख जस गायो' मे कैसा दिव्य उल्लास है! 'स मोदते मोदनीय हि लब्ध्वा'! यह 'राम—खुमारी' भी क्या गजब की है।

[४५]

लगी मोहि राम खुमारी हो।
रमझम बरसै मेहड़ा भीजै तन सारी हो।
चहुँ दिस चमकै दामणी गरजै घन भारी हो ।।
सतगुरु भेद बताइया खोली भरम किवारी हो ।।
सब घट दीसै आतमा सबहीं सूँ न्यारी हो।
दीपग जोऊँ ग्यान का चढूँ अगम अटारी हो ।।
मीरा दासी राम की इमरत बलिहारी हो ।।

---

(४५) श्री गुरुदेव की कृपा और शिष्य की श्रद्धा—इन पवित्र धाराओ का सगम ही दीक्षा है। गुरु का आत्मदान और शिष्य का आत्मसमर्पण—एक की कृपा और दूसरे की श्रद्धा से ही सम्पन्न होता है। दान और क्षय यही दीक्षा का अर्थ है। ज्ञान, शक्ति, और सिद्धि का दान एव अज्ञान, पाप और दारिद्र्य का क्षय—इसी का नाम 'दीक्षा' है सभी साधकों के लिये यह दीक्षा अनिवार्य है। दीक्षा से ही शरीर की समस्त अशुद्धियाँ मिट जाती है और देह-शुद्धि होने से देव-पूजा का अधिकार मिल जाता है।

सामान्यत: दीक्षा के तीन भेद माने जाते हैं—शाक्ती, शाम्भवी और मान्त्री। मान्त्री दीक्षा ही 'रुद्रयमल' आदि ग्रथो में आणवी के नाम से प्रसिद्ध है। शाक्ती दीक्षा में परम चेतना रूपा कुण्डलिनी ही शक्ति मानी जाती है। उसको जागरित करके ब्रह्म नाडी में से हो कर परम शिव में मिला देना ही शाक्ती दीक्षा है। इस दीक्षा में श्रीगुरुदेव ही शिष्य की अन्तर्देह मे प्रवेश करके कुण्डलिनी शक्ति को जागरित करते है और अपनी शक्ति से ही उसको मिला देते हैं। इसमें शिष्य को अपनी ओर से कोई क्रिया नही करनी पड़ती।

वायवीय सहिता में शाम्भवी दीक्षा का विवरण इस प्रकार मिलता है-'श्री गुरुदेव अपनी प्रसन्नता से दृष्टि अथवा स्पर्श के द्वारा एक क्षण मे ही स्वरूप-स्थित कर देते हैं। गुरु की दृष्टि मात्र से शिष्य का हृदय प्रफुल्लित हो जाता है और वह समाधिस्थ हो कर कृतकृत्य हो जाता है।

मान्त्री दीक्षा, मंत्र, पूजा, आसन, न्यास, ध्यान, आदि साधना से होती है। इसमें गुरुदेव शिष्य को मन्त्रोपदेश करते है। मांत्री दीक्षा से शक्तिपात की पात्रता प्राप्त होती है और मंत्रदेवतात्मक शक्ति से सिद्धि भी प्राप्त होती है।

[४६]

म्हांरा सतगुरु बेगा आज्या जी म्हांरे सुखरी सीर बुझाज्यो जी ।
तुम विछड़ियाँ दुख पाऊँ जी मेरा मन मांही मुरझाऊँ जी ।।
मैं कोइल ज्यूँ कुरजाऊँ जी कुछ बाहरि कहिं न जणाऊँ जी ।।
मोहि बाघण बिरह सतावै जी कोई कहियाँ पार न पावै जी ।।
ज्यूँ जल त्यागा मीना जी तुम दरसण बिन खीना जी ।
ज्यूँ चकवी रैण न भावै जी वा ऊगो भाण सुहावै जी ।।
ऊ दिन कदै करोला जी म्हांरे आंगण पाव धरोला जी ।
अरज करै मीरा दासी जी गुरु पद रज की मैं प्यासी जी ।।

इस मन्त्री अथवा अथर्वी दीक्षा के दस भेद मिलते हैं, यथा—स्मार्ती मानसी, यौगी, चाक्षुषी, स्पार्शिकी, वाचिकी, मान्त्रिकी, हौत्री, शास्त्री और अभिषेचिका । स्मार्ती में गुरु शिष्य का स्मरण करता है और उसके त्रिविध पापों को भस्म कर देता है । और पुन: लययोग से उसे परम शिव में स्थित कर देता है । मानसी दीक्षा स्मार्ती के समान ही है । यौगी दीक्षा में गुरु शिष्य के शरीर में प्रवेश कर उसकी आत्मा को अपने शरीर में लाकर एक कर लेता है । चाक्षुषी दीक्षा में श्री गुरुदेव करुणार्द्र दृष्टि से शिष्य की ओर देखते हैं और इतने से ही शिष्य के सारे दोष नष्ट हो जाते हैं । स्पार्शिकी में गुरुदेव शिष्य के सिर का स्पर्श करते हैं उस स्पर्श मात्र से शिष्य का शिवत्व अभिव्यक्त हो जाता है । मान्त्रिकी में गुरुदेव अपने शरीर में से शिष्य के शरीर में मन्त्र का सक्रमण करते हैं । हौत्री में होत्र से ही दीक्षा सफल होती है । शास्त्री में शिष्य के योग्यतानुसार शास्त्रीय पदों के द्वारा दीक्षा दी जाती है । अभिषेचिका दीक्षा में गुरुदेव एक घट में शिव और शक्ति की पूजा करते हैं फिर उसके जल से शिष्य का अभिषेक करते हैं ।

[४६] मीरा उस दिन की प्रतीक्षा में है जब उसके प्राणाधार उसके आँगन में आकर अपने आलिंगन के पाश में उसे बाँध लेंगे । बुल्ला ने भी इसी प्रकार 'सावन' को गुहराया है—

देखो पिया काली घो पै भरी ।
सुन्नि सेज भयावन लागी मरौं बिरह की जारी ।।

[४७]

मीरा मन मानी सुरत सैल असमानी।
जब जब सूरत लगे वा घर की पल पल नैनन पानी।
ज्यों हिये पीर तीर सम सालत कसक कसक कसकानी।।
रात दिवस मोहि नींद न आवत भावै अन्न न पानी।
ऐसी पीर बिरह तन भीतर जागत रैन बिहानी।।
ऐसा बैद मिलै कोइ भेदी देस बिदेस पिछानी।
तासो पीर कहूँ तन केरी फिर नहि भरमों खानी।।
खोजत फिरौं भेद वा घर को कोई न करत बखानी।
रैदास संत मिले मोहि सतगुरु दीन्ही सुरत सहदानी।।
मै मिली जाय पाय पिय अपना तब मोरी पीर बुझानी।
मीरा खाक खलक सिर डारी मै अपना घर जानी।।

प्रेम प्रीति यह रीति चरण लगु पल छिन नाहिं विसारी।
चितवत पथ अत नही पायो जन बुल्ला बलिहारी।।

कबीर भी बड़ी उत्सुकता से इस दिनकी प्रतीक्षा में हैं—

वे दिन कब आवेंगे माइ।
जो कारणि हम देह धरी है मिलियो अग लगाइ।।

[४७] नाम का तीर जब हृदय को पूरी तरह बेध देता है तब हृदय में भगवान् के लिये बेकली हो उठती है—यह व्याकुलता ही प्रेम-साधना की प्राण है। राम की खुमारी भगवत्प्रेम का नशा जब चढता है तब साधक की विचित्र दशा हो जाती है। आनन्द की रिमझिम रिमझिम फुहियाँ बरसने लगती हैं और उसका समस्त शरीर-मन-प्राण उस फुहार मे भीग जाता है। मेघ गरजने लगता है और चारो ओर से विद्युत का प्रकाश होने लगता है। साधक इस प्रेम-वर्षा में आनन्द से झूमने लगता है। गुलाल साहब का एक पद इसी भाव का है—

आनन्द बरखत बुंद सुहावन।
उमगि उमगि सत गुरु बर राजित समय सुहावन भावन।।
चहूँ ओर घनघोर घटा आई सुन्न भवन मन भावन।
तिलक तत बेंदी पर झलकत जगमग जोति जगावन।।
गुरु के चरण मन मगन भयो जब बिमल बिमल गुन गावन।
कहै गुलाल प्रभु कृपा जाहि पर हरदम भादो सावन।।

[४८]

मिलता जाज्यो हो गुरु ज्ञानी थाँरी सूरत देखि लुभानी ॥
मेरो नाम बूझि तुम लीज्यो मैं हूँ बिरह दिवानी ।
रात दिवस कल नाहिं परत है जैसे मीन बिन पानी ॥
दरस बिना मोहिं कछु न सुहावै तलफ तलफ मर जानी ।
मीरा तो चरणन की चेरी सुन लीजै सुखदानी ॥

[४९]

सतगुरु म्हाँरी प्रीत निभाज्यो जी ।
थे छो म्हारा गुण रा सागर औगण म्हारो मति जाज्यो जी ।
लोक न धीजै (म्हारो) मनना पतीजे मुखड़ा रा सबद सुणाज्यो जी ॥
म्हे तो दासी जनम जनम को म्हारे आँगण रमिता आज्यो जी ।
मीरा के प्रभु हरि अबिनासी बेड़ो पार लगाज्यो जी ॥

[५०]

स्याम तेरी आरति लागी हो ।
गुरु परतापे पाइया तन दुरमति भागी हो ॥
या तन को दियना करो मनसा करो बाती हो ।
तेल भरावो प्रेम का बारो दिन राती हो ।
पाटी पारों ज्ञान की मति माँग संवारी हो ।
तेरे कारन साँवरे धन जोवन वारों हो ॥

हृदय मे पभु का नित्य ध्यान हो, मुख से उनका नाम-कीर्तन हो, कानो मे सदा उनकी हो कथा गूँजती हो प्रेमानन्द से उनकी ही पूजा हो, नेत्रो में हरि की मूर्त्ति बिराज रही हो, चरणों से उनके ही पावन स्थानो की यात्रा हो, रसना में प्रभु के ही नाम का रस हो, भोजन हो तो वह प्रभु का प्रसाद ही हो, साष्टाङ्ग नमन हो उनके ही प्रति, आलिंगन हो अह्लाद से उनके ही भक्तो का और एक क्या आधा पल भी उनकी सेवा के बिना व्यर्थ न जाय । सब धर्मो मे यह श्रेष्ठ धर्म है ।

[५०] यह प्रेम अनुभवगम्य है, इन्द्रियग्राह्य नही । परन्तु प्रेम की विकलता इन्द्रियो की प्यास बढा देती है, वे भी कुछ चाहती है । वे बादलो को देख कर ही संतुष्ट नही हो जाती । वे उसकी वर्षा मे अपने को भीगा हुआ पाया चाहती है । जिस रस की अनुभूति हृदय करता है ऑखें उसके रूप

या सेजिया बहु रंग की बहू फूल बिछाये हो।
पंथ मैं जोहौं स्याम का अजहूँ नहिं आये हो॥
सावन भादो ऊमडा बरखा रितु आई हो।
भौंहें घटा घन घेरि के नैनन झरि लाई हो॥
मात पिता तुम को दियो तुम ही भल जागो हो।
तुम तजि और भतार को मन मे नहीं आनो हो॥
तुम प्रभु पूरन ब्रह्म हो पूरन पद दीजै हो।
मीरा व्याकुल विरहिनी अपनो कर लीजै हो॥

[५१]

जोगिया जी निसिदिन जोऊँ थारी बाट।
पाँव न चालै पथ दुहेलो आड़ा औघट घाट॥
नगर आइ जोगी रम गया रे मो मन प्रीत न पाइ।
मैं भोली भोलापन कीन्हीं राख्यो नहीं बिलमाइ॥
जोगिया कूँ जोवत भोत दिन बीता अजहूँ आयो नाहिं।
बिरह बुझावण अन्तरि आगे तपन लगी तन माँहिं॥
कै तो जोगी जग में नहीं कैर बिसारो मोय।
कांई करूं कित जाऊँ री सजनी नैण गुमायो रोय॥
आरति तेरे अंतर मरे आवो अपनी जाणि।
मीरा व्याकुल बिरहिणी रे तुम बिन तलफत प्राणि॥

[५२]

तेरो मरम नहिं पायो रे जोगी।
आसण मारि गुफा में बैठो ध्यान हरी को लगायो॥
गल विच सेली हाथ हाजरियो अंग भभूत रमायो।
मीरा के प्रभु हरि अविनासी भाग लिख्यो सोही पायो॥

को सामन देखना चाहती है। किन्तु, वह असीम सामने कब आ सकता है? इसलिये प्रेम के ऐसे गंभीर पथिक के लिए एक सभ्रम, एक विस्मय, एक उलझन की बात सदा रहती है कि अन्तर मे रहनेवाले से प्रवासी का सा अन्तर क्यो बना हुआ है? एक ही बास के बसने पर भी विदेश हो रहा है, मिले होने पर भी कोई अमिल कैसे रहता है?

'घनानन्द' पृ० १३

[५३]

कबहूँ मिलोगे मोहि आई रे तूं जोगिया।
तेरे ही कारण जोग लियो है घरि-घरि अलख जगाई।।
दिवस न भूख रैण नांहि निद्रा तुम बिन कुछ न सुहाई।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर मिलि करि तपनि बुझाई।।

[५४]

जोगी मत जा मत जा मत जा, पाइ परूँ मैं चेरी तेरी हौं।।
प्रेम भगति कौ पैंड़ो ही न्यारो हम कूँ डौल बता जा।
अगर चँदण की चिता बणाऊँ अपणे हाथ जला जा।।
जल बल भइ भस्म की ढेरी अपणे अंग लगा जा,
मीरा कहै प्रभु गिरधर नागर जोत में जोत मिला जा।।

[५५]

हो जी म्हांराज छोड़ मत जाज्यो जी।
मैं अबला बल नांहि गुसाईं तुमहि मेरे सिरताज।
मैं गुणहीन गुण नांहि गुसाईं तुम समरथ महराज।।
रावली होइ के किण रे जाऊँ तुम हो हिवड़ारो साज।
मीरा के प्रभु और न काई राखो अब के लाज।।

---

[५२] मीरा के कई पदो मे किसी योगी का वर्णन आया है जिससे मीरा के हृदय में प्रेम की पीर जगाई है। योग की कतिपय क्रियाओ तथा सीग, सेली, भभूत आदि कनफटे योगियो के बाह्य प्रतीको का भी उल्लेख यत्र तत्र आया है यद्यपि है वह अधूरा ही। योग की किसी सुव्यवस्थित साधना-प्रणाली का अनुसरण मीरा ने किया था ऐसा मीरा के पदो से प्रतीत नही होता परन्तु कुछ सुनी-सुनाई बातो की ओर मीरा का मन लपका था जरूर। पीछे जाकर प्रेम के उपप्लव मे मीरा का सारा योग-भोग बह गया। प्रेम की साधना में योग की क्रियाएँ एक हद तक ही चल सकती है, आगे जाकर वे छूट जाती है। प्रेम एक स्वय महायोग है जिसमें अन्य सभी योगो का लय हो जाता है। आत्मा मे परमात्मा का रमण और परमात्मा में आत्मा का रमण—प्रेम की भाषा मे प्रिया और प्रियतम का एकमेक हो कर रमण—यह आत्मरमण, आत्मक्रीडा, आत्ममिथुन ही प्रेम-योग की परमावधि है।

[५६]

एसी लगन लगाय कहाँ तू जासी।
तुम देखे बिन कल न परति है तलफि-तलफि जिव जासी ।।
तेरे खातिर जोगण हूँगी करवत लूँगी कासी।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कंवल की दासी ।।

[५७]

जोगिया से प्रीत कियाँ दुख होइ।
प्रीत किया सुख ना मोरी सजनी जोगी मित न कोई।
राति दिवस कल नांहि परत है तुम मिलिया बिन मोई ।।
ऐसी सूरत या जग मोही फेरि न देखी सोइ।
मीरा के प्रभु कब रें मिलोगे मिलियां आणद होइ ।।

[५८]

जोगिया री प्रीतड़ी है दुखड़ा रो मूल।
हिलमिल बात बणावत मीठी पाछे जावत भूल ।।
तोड़त जेज करत नहिं सजनी जैसे चमेली के फूल।
मीरा कहे प्रभु तुमरे दरस बिन लगत हिवड़ा में सूल ।।

[५९]

जावो निरमोहिया जाणी थारी प्रीत।
लगन लगी जद प्रीत और ही अब कुछ और ही रीत ।।
इमरित प्याय के बिष क्यूँ दीजै कूण गाँव की रीत।
मीरा के प्रभु हरि अविनासी अपनी गरज के मीत ।।

[६०]

जाबा दे जाबा दे जोगी किसका मीत।
सदा उदासि रहै मोरि सजनी निपट अटपटी रीत।
बोलत बचन मधुर से मीठे जोरत नाहीं प्रीत ।।
मैं जाणूँ या पार निभैगी छाँडि चले अधबीच।
मीरा के प्रभु स्याम मनोहर प्रेम पियारा मीत ।।

[६१]

कोई दिन याद करोगे रमता राम अतीत ।
आसण मार अडिग होय बैठा याही भजन की रीत ।
मैं तो जाणूँ जोगी संग चलैगा छांड़ चला अधबीच ।।
आत न दीसे जात न दीसे जोगी किसका मीत ।
मीरा कहै प्रभु गिरधर नागर चरणन आवे चीत ।।

[६२]

धूतारा जोगी एकर सूँ हँसि बोल ।
जगत बदीत करी मनमोहन कहा बजावत ढोल ।
अंग भभूत गले म्रिघछाला तू जन गुढिया खोल ।।
सदन सरोज बदन की सोभा ऊभी जोऊँ कपोल ।
सेली नाद बभूत न बटवो अजूँ मुनी मुख खोल ।।
चढती बैस नैण अनियारे तू घरि-घरि तम डोल !
मीरा के प्रभु हरि अविनासी चेरी भई बिन मोल ।।

[६३]

जोगिया री सूरत मन में बसी ।
नित प्रति ध्यान धरत हूँ दिल में निस दिन होत खुसी ।
कहा करूँ कित जाऊँ मोरी सजनी मानो सरप डसी ।
मीरा कहै प्रभु कबरे मिलोगे प्रीति रसीली बसी ।।

[६४]

जोगिया जी छाय रहा परदेस ।
जबका बिछड़्या फेर मिलिया बहोरी न दियो सदेस ।
या तन ऊपरि भसम रमाऊँ खोर करूँ सिर केस ।।
भगवा भेख धरूँ केहि कारण ढूंढत च्यारूं देस ।
मीरा के प्रभु राम मिलन कूँ जावनि जनम अनेस ।।

---

[६१] अतीत = अथीथ, योगी (यह शब्द 'अतिथि' से बिगड कर इस रूप मे रूढ हो गया है—ऐसा प्रतीत होता है ।

[६५]

जोगी मम्हाने दरस दिया सुख होइ ।
नातरि दुख जग माँहि जीवड़ो निस दिन झुरै तोइ ।।
दरस दिवानी भई बावरी डोली सब ही देस ।
मीरा दासी भई है पंडर पलटाया काला केस ।।

[६६]

मीरा लागो रंग हरी सब रग अटक परी ।
चूड़ी म्हारे तिलक अरु माला सील बरत सिणगारो ।
और सिंगार म्हारे दाय न आवै यो गुर ग्यान हमारो ।।
कोई निन्दो कोई बिन्दो म्हें तो गुण गोबिंद का गास्याँ ।
जिण मारग म्हारा साध पधारे उण मारग म्हें जास्या ।।
चोरी न करस्याँ जिव न सतास्यां कांई करसी म्हारो कोई
गजसे उतर के खर नहिं चड़स्यां ये तो बात न होई ।।

[६७]

मेरो मन लागो हरि सूँ अब न रहूँगी अटकी ।।
गुरु मिलिया रैदास जी दीन्हीं ग्यान की गुटकी ।
चोट लगी निज नाम हरी की म्हांरे हिवड़े खटके ।।
मोती माणिक परत न पहिरूँ मै कब की नट की ।
गणो तो म्हांरे माला दोवडी और चंदन की कुटकी ।।
राज कुल की लाज गमाई साधाँ के संग मै भटकी ।
नित उठ हरि जी के मंदिर जास्याँ नाच्याँ दे दे चुटकी ।।
भाग खुल्यो म्हाँरो साध सगत सू साँवरिया की बटकी ।
जेठ बहू की कहण न मानूँ घूँघट पड़ गई पटकी ।
परम गुराँ के सरण में रहस्याँ परणाम कराँ लुट की ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर जनम मरण सूँ छुटकी ।।

[६८]

म्हारे घर रमतो ही आई रे तू जोगिया ।
कानो बिच कुंडल गले बिच सेली अंग भभूत रमाई रे ।।
तुम देख्यां बिन कल न पड़त है ग्रिह अंगणो न सुहाई रे ।
मीरा के प्रभु हरि अविनासी दरसण द्यो मोकूँ आई रे ।।

[६९]

जोगिया जी आवो थें या देश ।
नैणज देखूं नाथ मेरो ध्याइ करूं ,आदेस ।
आया सावण मास सजनी भरे जल थल ताल ।।
रावल कुण विलमाइ राखो बिरहनि है बैहाल ।
बीछड़ियाँ कोई भौ भयो रे जोगी ऐ दिल अहुला जाइ ।।
एक बेरी देह केरी नगर हमारे आइ ।
वा मूरति मेरे मन बसे रे जोगी छिन भरि रह्यौइ न जाइ ।।
मीरा के प्रभु हरि अविनासी दरसण द्यौ हरि आइ ।।

[७०]

जोगिया ने कहज्यो जी आदेश ।
जोगियो चतुर सुजण सजनी ध्यावै संकर सेस ।।
आऊँगी मैं नांहि रहूँगी रे म्हारा पीव बिना परदेस ।
करि किरपा प्रतिपाल मो परि राखो न अपणे देस ।।
माला मुदरा मेखला रे बाला खप्पर लूँगी हाथ ।
जोगणि होइ जुग ढूंढसू रे, म्हारा रावलिया री साथ ।।

---

[७०] आदेस = प्रणाम (योगियो में प्रचलित प्रणाम-पद्धति)

इस पद में मीरा के सामने योगिनी का जो कल्पित वेश है उसमे माला, मुंदरी, मेखला, खप्पर आदि उपकरण है जिससे यह स्पष्ट है कि मीरा के सामने नाथ पंथी योगिनी का ही रूप है । उन दिनो राजस्थान में नाथ पंथ का खूब दौर-दौरा था और उनके चमत्कारो से अधिकाश मत-पथ और सम्प्रदाय प्रभावित भी हो गये थे ।

प्रेमाभिलाषा

[७१]

नैनन बनज बसाऊँ री जो मै साहिब पाऊँ ।।
इन नैनन मेरे साहिब बसता डरती पलक न लाऊँ री ।
त्रिकुटी महल में बना है झरोखा तहां से झाँकी लगाऊँ री ।।
सुन्न महल में सुरत जमाऊँ सुख की सेज बिछाऊँ री ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर बार बार बलि जाऊँ री ।।

[७१-८६] किसी मनुष्य के प्रति जब हमारा अनुराग होता है तब उसे देखने, सुनने और स्पर्श करने के लिए मन मे एक प्रबल आग्रह हुआ करता है । इसीका नाम 'प्यार' है । यह प्यार जब ईश्वर मे अर्पित कर दिया जाता है तब उसी को वैष्णवगण 'अनुराग' कहते है । फिर आग्रह बढते-बढ़ते यह दशा हो जाती है कि उससे मिले बिना काम ही नही चलता, सब कुछ सूना-सूना-सा लगता है । मन के इस अत्यधिक अनुराग को 'आसक्ति' कहते है । तदनन्तर जब वह प्यार जम जाता है तब एक अतलस्पर्शी व्याकुलता अवतीर्ण होकर मन-प्राण को आनन्द महासिधु में बहा ले जाती है । फिर अपने ऊपर अपना शासन नही रहता । समस्त विश्व मे उस प्रेम-मय के स्पर्श का ही अनुभव होने लगता है । इस अवस्था मे प्रेमी भक्त क्षण भर का भी प्रियतम का विरह नही सह सकता । उसका हृदय नित्य नूतन हर्ष से अधीर और उन्मत्त रहता है । वह भगवान को सब कुछ समर्पण करके निश्चिन्त हो जाता है । किसी बात के लिए उसका चित्त चचल नही होता । जगत के धन-जन-मान-प्रतिष्ठा आदि कुछ भी उसे मोहित नही कर सकते ।

[७२]

राणाजी म्हें तो गोविन्द का गुण गास्याँ ।
चरणामृत को नेम हमारो नित उठ दरसण जास्या ।।
हरि मंदिर में निरत करास्याँ घुघरिया घमकास्यां ।
राम नाम का झांझ चलास्याँ भवसागर तर जास्यां ।
यह ससार बाड़ का काटाँ ज्याँ संगत नहिं जास्यां ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर निरख परख गुण गास्या ।।

[७३]

पियाजी म्हारे नैणां आगे रहज्यो जी ।।
नैणा आगे रहज्यो जी म्हांने भूल मत जाज्यो जी ।
भवसागर में बही जात हूँ वेग म्हांरी सुध लीज्यो जी ।।
राणा जी भेज्या विष का प्याला सो इमरित कर दीज्यो जी ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर मिल बिछुड़न मत कीज्यो जी ।।

[७४]

थाँने काईं कह समझाऊं म्हारा बाला गिरधारी ।
पूर्व जनम की प्रीत हमारी अब नहिं जात निवारी ।।
सुंदर बदन जोवते सजनी प्रीत भई छे भारी ।
म्हारे घरे पधारो गिरधर मगल गावै नारी ।।

---

[७२] यह पद सभवत उस समय का है जब राणा ने मीरा को अन्त-पुर से बाहर जाने से मना कर दिया था और कहलाया था कि साधु-महात्माओ की भीड इकट्ठी करना उचित नही है । इस पद मे मीरा ने बडी दृढता से कहा है कि जो कुछ निश्चय मै कर चुकी हूँ वही करुंगी चाहे ज्यो हो जाय ।

[७३] न मिले थे तब तक तो कोई बात न थी मुझे पता ही न था कि मिलन का सुख कैसा होता है । परन्तु अब मिल कर मिलन का जो अमृत-सुख तुमने दिया अब बिछुड़ कर उसे विघटाओ मत, मिलन के बाद यह बिछोह मुझसे सहा न जायगा ।

पर जिस प्यारे ने प्रीति-परवश होकर विष के प्याले को अमृत कर दिया वह भला अब मुझे मेरी बाँह पकड़ कर यो मँझधार में छोड देगा ? ऐसा हो नही सकता ।

मोती चौक पुराऊँ वाल्हा तन मन तो पर वारी ।
म्हारो सगपण तो सूँ साँवलिया जुगसूँ नहीं विचारी ।।
मीरा कहे गोपिन के वाल्हो हमसूँ भयो ब्रह्मचारी ।
चरण सरण हूँ दासी तुम्हारी पलक न कीजे न्यारी ।।

[७५]

जागो म्हारा जगपति राइक हँसो बोलो क्यूँ नहो ।
हरि छो जी हिरदा माँहि पट खोलो क्यूँ नहीं ।।
तन मन सुरति संजोई सीस चरणो धरूँ ।
जहाँ जहाँ देखूँ म्हारो राम तहाँ सेवा करूँ ।।
सदकै करूँ जी सरीर जुगै जुग वारणै ।
छोड छोड़ी कुल की लाज साहिब तेरे कारणो ।।
थोड़ि थोड़ि लिखूँ सिलाम बहुत करि जाणज्यौ ।
हाँ हो म्हारा नाथ सुनाथ बिलम नहिं कीजियै ।
मीरा चरणो की दास दरस अब दीजियै ।।

[७६]

देखो सहियाँ हरि मन काटो कियो ।
आवन कह गयो अजूँ न आयो करि करि बचन गयो ।
खान पान सब सुध बुध बिसरी कैसे करि मैं जियो ।।
बचन तुम्हारे तुमही बिसारे मन मेरो हर लियो ।
मीरा कहै प्रभु गिरधर नागर तुम बिन फटत हियो ।।

[७७]

पिया मोहि दरसण दीजै हो ।
बेर बेर मैं टेरहूँ अहे किरपा कीजे हो ।।
जेठ महीने जल बिना पछी दुख होई हो ।
मोर असाढ़ों कुरलहे घन चात्रग सोई हो ।।
सावण में झड लागियो सखि तीजाँ खेलै हो ।
भादरवै नदिया बहै दूरी जिन मैले हो ।।

---

[७४] 'मीरा कहे गोपिन के बाल्हो हम सूँ भयो ब्रह्मचारी' में कितना निगूढ व्यंग्य है !

[७५] जहाँ-जहाँ देखूँ म्हाँरो राम—

'There is nothing unholy on this earth for God's feet are everywhere'

सीप स्वाति ही झेलती आसोजाँ सोई हो।
देव काती में पूजहे मेरे तुम होई हो।।
मगसर ठंढ बहोती पड़ै मोहि वेगि सँभालो हो।
पोस मही पाला घणा अबही तुम न्हालो हो।।
महामही बसंत पचमी फागाँ सब गावै हो।
फागुण फागा खेलहूं बणराइ जरावै हो।।
चैत चित्त में ऊपजी दरसण तुम दीजै हो।
वैसाख बणराई फूलवै कोइल कुरलीजै हो।।
काग उड़ावत दिन गया बूझूँ पंडित जोसी हो।
मीरा बिरहणि व्याकुली दरसण कद होसी हो।।

[७८]

म्हाँरे घर आज्यो प्रीतम प्यारा तुम बिन सब जग खारा।।
तन मन धन सब भेंट करूं औ भजन करूं मैं थाँरा।
तुम गुणवंत बडे गुण सागर मैं हूं जी औगणहारा।।
मैं निगुणीं गुण एको नाहीं तुझ में जी गुण सारा।
मीरा कहैं प्रभु कबहि मिलोगे बिन दरसण दुखियारा।।

(७९]

वारी वारी हो राम हूँ वारी, तुम आज्या गली हमारी।
तुम देख्याँ बिन कल न पडत है जोऊँ बाट तुम्हारी।।
कूण सखी सूं तुम रंग राते हम सूं अधिक पियारी।
किरपा कर मोहि दरसण दीज्यो सब तकसीर बिसारी।।
तुम सरणागत परम दयाला भवजल तार मुरारी।
मीरा दासी तुम चरणन की बार बार बलिहारी।।

[८०]

तुम आज्यो जी रामा आवत आस्याँ सामा।
तुम मिलिया मैं बहु सुख पाऊँ सरै मनोरथ कामा।
तुम बिच हम बिच अंतर नाहीं जैसे सूरज घामा।
मीरा मन के और न माने चाहे सुंदर स्यामा।।

[''] इस 'बारह मासे' में मीरा का दर्द भरा हृदय घुलता दीख रहा है। अंत में 'काग उड़ावत दिन गया' में कितनी गहरी उदासी है!

[८१]

कोई कहियो रे प्रभु आवन की।
आवन की मनभावन की, कोई ॥
आप न आवै लिख नहि भेजै बाँण पड़ी ललचावन की।
ए दोइ नैना कह्यो नहि मानै नदिया बहै जैसे सावन की ॥
कहा करूँ कछु नहि बस मेरो पाँख नही उड़ जावन की।
मीरा कहे प्रभु कबरे मिलोगे चेरी भई हूँ तेरे दाँवन की ॥

[८२]

भींजे म्हाँरो दांवन चीर सावणियो लूम रह्यो रे।
आपतो जाय बिदेसों छाये जिवड़ो धरत न धीर ॥
लिख लिख पतियाँ संदेसा भेजूँ कब घर आवै म्हाँरो पीव।
मीरा के प्रभु गिरधार नागर दरसन दोने बलबीर ॥

[८३]

मेरे प्रीतम प्यारे राम कूं लिख भेजूं रे पाती ॥
स्याम सनेसो कबहुं न दीन्हौ जानि बुझि गुझवाती।
डगर बुहारूँ पंथ निहारूँ रोय रोय अँखियाँ राती ॥
तुम देख्या बिन कल न पड़त है हीयो फटत मेरी छाती।
मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे पूरब जनम का साथी ॥

---

[८१] यह मीरा के सर्वोत्तम गीतो में सर्वश्रेष्ठ है। इसके सगीत और लय पर ध्यान दीजिये—विरहिणी का रूप सामने आ जाता है, विरह से विदग्ध पर पुनदर्शन की मधुमयी आशा मे—इस उत्सुक अभिलाषा में कि अब कोई आवे और 'उन'के आने की खबर दे दे।

बाँण = आदत। दाँवन = दामन।

[८३] 'पूरब जनम का साथी'

Emotional mysticism begins with personal affection, The earthly beloved becomes too good for human nature's daily food, arouses aesthetic delight and becomes the subject and later the symbol of aesthetic contemplation Gradually the symbol empties itself of its earthly associations and we have a glorious Vision of Beauty bedecked with light that never was on sea and land It is still the Beloved, but both the earthly lover and the Beloved are now transformed. I am the lover and Thou art the Beautiful. Beauty appears in ever new guise and yet the eyes do not have their fill.

गुझवाती = मन ही मन घुघुआना।

[८४]

गोबिंद कबहूँ मिलै पिया मेरा ।
चरण कवल कूँ हँसि हँसि देखूँ राखूँ नैणाँ नेरा ।
निरखण कूँ मोहि चाव घणेरो कब देखूँ मुख तेरा ।।
व्याकुल प्राण धरत नाहि धीरज मिलि तूँ मीत सबेरा ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर ताप तपन बहु तेरा ।

[८५]

राम मिलण रो घणो उमावो नित उठ जोऊँ बाटडियाँ ।
दरसन बिना मोहि कछु न सुहावै जक न पडत हैं आँखिडियाँ ।।
तलफत तलफत बहु दिन बीता पडी बिरह की पासडियाँ ।
अब तो बेगि दया करि साहिब मैं तो तुम्हारी दासडियाँ ।
नैण दुखी दरसण कूँ तरसै नागिन बैठे साँसडियाँ ।
राति दिवस यह आरति मेरे कब हरि राखै पासडियाँ ।
लगी लगनि छूटण की नाही अब क्यूँ कीजै आँटडियाँ ।
मीरा के प्रभु कबरे मिलोगे पूरौ मन की आसडियाँ ।।

[८६]

आवो सहेल्या रली कराँ हे पर घर गवण निवारी ।
झूठा माणिक मोतिया री झूठी जगमग जोति ।
झूठा सब आभूषणा री साँची पियाजी री प्रीति ।
झूठा पाट पटंबरा रे झूठा दखणी चीर ।
साँची पियाजी री गूदड़ी जामें निरमल रहे सरीर ।।

---

[८५] घणो उमावो = तीव्र लालसा, प्रबल उमग । प्राणेश्वर की प्रीति के अतिरिक्त सब कुछ व्यर्थ है । उस 'अविनासी वालम' को वरण कर जीवन 'अचल सुहाग' पा जाता है । गोपियो ने कहा है—'प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा' ।

Let Him kiss me with the kisses of His mouth
For thy love is better than wine
Behold Thou art fair, my Beloved, yea plesant
Also our bed is green.. . ...
His left hand is under my head
And His right hand doth embrace me.

—*Old Testament.*

छप्पन भोग बुहाइ दे हे इन भोगनि में दाग ।
लूण अलूणो ही भलो हे अपणे पियाजी रो साग ।।
देखि विराणे निवाण कूँ हे, क्यूँ उपजावै खीज ।
कालर अपणे ही भलो हे जामें निपजै चीज ।।
छैल विराणो लाख को हे अपणे काज न होइ ।
ताके सग सिधारणाँ हे भला न कहसी कोइ ।।
वर हीणो अपणो भलो हे कोढी कुष्टी कोइ ।
जाके सग सिधारताँ हे भला कहै सब लोइ ।।
अबिनासी सूँ बालमा हे जिन सूँ साँची प्रीति ।
मीरा कूँ प्रभु मिलिया हे, एही भगति की रीति ।।

---

[८६] प्रियतम के सान्निध्य एव सस्पर्श के कारण सब कुछ सुखद एवं सुंदर लगता है । पदार्थों में अपनी सुन्दरता नही है । उसकी सुन्दरता का एकमात्र हेतु यही है कि वह प्यारे की प्रीति में सराबोर है ।

अभिसार

[८७]

चलो अगम के देस काल देखत डरै।
वहाँ भरा प्रेम का हौज हँस केल्याँ करै॥
ओढण लज्जा चीर धीरज को घाँघरो।
छिपता काँकण हाथ सुमति को मून्दरो॥
दिल दुलडी दरियाव साँच को दोवड़ो।
उबटन गुरु को ज्ञान ध्यान को धोवणो॥
कान अखोटा ज्ञान जुगत को झूटणो।
बेसर हरि को नाम चूडो चित ऊजलो॥
जीहर सील संतोष निरत को घुंघरो।
बिंदली गज अरु हार तिलक गुरुग्यान को॥
सज सोलह सिणगार पहरि सोनें राखडी।
साँवलियाँ सूँ प्रीति औेर सूँ आखडी॥
पतिबरता की सेज प्रभूजी पधारिया।
गावे मीरा बाई दासी कर राखिया॥

[87 112] The wild tale of pathos shall ever remain writ large on the Temple of love She lived on tears and she slept on tears. this shall be the language of love in which Mira will go down to posterity This child of the Lord, nursed in the heart of worldly circumstances feeling disgusted with the obstruction placed on her meeting freely her Divine Beloved directed her course to those very regions where His kingdom lay; where the

[८८]

गली तो चारों बद हुई मैं हरि सूँ मिलूँ कैसे जाइ।
ऊंची नीची राह रपटीली पॉव नहीं ठहराइ॥
सोच सोच पग धरूँ जतन से बार बार डिग जाइ।
ऊँचा नीचा महल पिया का हमसे चढ़ा न जाइ॥
पिया दूर पथ म्हॉरों झीणो सुरत झकोला खाइ॥
कोस कोस पर पहरा बैठ्या पंड पंड बटमार।
हे बिधना कैसी रच दीन्हीं दूर बसायो म्हॉरो गॉव॥
मीरा के प्रभु गिरधर नागर सतगुर दई बताय।
जुगन जुगन से बिछड़ी मीरा घर मे लीन्ही लाय॥

[८९]

तेरो कोई नहि रोकणहार मगन होइ मीरा चली।
लाज सरम कुल की मरजादा सिर सै दूरि करी॥
मान अपमान दोऊ घर धरके निकली हूँ ग्यान गली।
ऊँची अटरिया लाल किंवडिया निरगुण सेज बिछी॥
पचरगी झालर सुभ सोहै फूलन फूल कली।
बाजूबंद कडूला सोहै सिन्दुर माँग भरी॥
सुमिरण थाल हाथ मे लीन्हा सोभा अधिक खरी॥
सेज सुखमणा मीरा सोहै सुभ है आज घरी
तुम जावो राणा घर अपणे मेरी तेरी नहीं सरी।

---

mad raving of the world could not reach her She had started in search of a place where she could lie undisturbed in the thoughts of her Beloved, While freedom was her creed and liberty her watchword the slaves of forms, formalities and dogmas could not understand her. Her bondage lay in her love for the Beloved and the subtle chains of love that she put on herself were not visable to many eyes.

—*The Story of Mirabai*

[८९] आज पिय की सेजपर पौढने की शुभ घडी आ गई है। मीरा ने आज सोलहो शृगार किया है और वह प्रीतम से मिलने के लिये अभिसार कर रही है। इस समय इसे रोकनेवाला भला कौन है ?

[९०]

बरजी मैं काहू की नाहिं रहूँ ।
सुनोरी सखी तुम चेतन होइ कै मन की बात कहूँ ।।
साधसगति करि हरि सुख लीजै जग सूँ दूरि रहूँ ।
तन धन मेरे सबही जावो भलि मेरो सीस लहूँ ।।
मन मेरो लागो सुमिरण सेती सबका मैं बोल सहूँ ।
मीरा के प्रभु हरि अबिनासी सतगुरु सरण गहूँ ।।

[९१]

राणा जी म्हाने या बदनामी लागे मीठी ।
कोई निन्दो कोई बिन्दो मैं चलूँगी चाल अनूठी ।।
सांकली गली में सतगुर मिलिया क्यूँ कर फिरूँगी अपूठी
सतगुर जी सूँ बाताँ करसाँ दुरजन लोगो ने दीठी ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर दुरजन जलो जा अगीठी ।।

[९२]

सूरत दीनानाथ सूँ लगी तूँ तो समझ सुहागन नार ।
लगनी लहँगो पहर सुहागण बीती जाय बहार ।
धन जोबन है परवणा री मिलै न दूजी बार ।
रामनाम को चूडलो पहिरो प्रेम को सुरमो सार ।
नकबेसर हरिनाम की री उतर चलोनी परले पार ।।
ऐसे वर को क्या वरूँ जो जन्मै ओ मर जाय ।
वर बरियो एक सांवरो री (मेरो) चुड़लो अमर होय जाय ।।
मैं जान्यो हरि मैं ठग्यो री हरि ठग ले गयो मोय ।
लख चौरासी मोरचा री छिन में गेरया छै विगोय ।।
सुरत चली जहाँ मैं चली री कृष्ण नाम झणकार ।
अबिनासी की पोल पर जी मीरा करै छै पुकार ।।

---

[९०] स्मरण का चसका ऐसा है कि जब लग जाता है तब लाख कोई मना करे या बरजे वह एक क्षण के लिये भी छूटता ही नही । उस रस में शरीर, मन, प्राण सभी के सभी सराबोर हो जाते है—बाहर आने की इच्छा ही नही होती । यही इस 'अमल' की विशेषता है ।

[९३]

इन सरवरियाँ पाल मीरा बाई साँपडे ।।
सांपड़े क्यिो असनान सुरज स्वामी जप करे ।
होय बिरंगी नार डगरां बिच क्यूँ खड़ी ।।
कहाँ थारो पीहर दूर घराँ सासू लड़ी ।
नाहिं म्हारो पीहर दूर ना घरां सासू लडी ।।
चल्यो जा रे असल गुंवार तनै म्हारी के पडी ।।
गुरु म्हाँरां दीनदयाल हीरां रा पारखी ।
दियो म्हांनें ग्यान बताय सगत कर साध री ।
इन सरवरिया रा हँस सुरग थारी पाखड़ी ।।
राम मिलन कद होय फड़वकै म्हारो आखड़ो ।
राम गये बनबास कूँ सब रग ले गये ।
ले गये म्हांरी कायाको सिंगार तुलसी री माला दे गये ।।
खोई कुल की लाज मुकुंद थारे कारणे ।
बेगही लीज्यो संभाल मीरा पडी बारणे ।।

[९४]

नहि भावै थारो देसलडो रगरूडो ।।
थारा देसां में राणा साध नहीं छै लोग बसै सब कूड़ो ।
गहणा गांठी राणा हम सब त्याग्या लाग्यो करारो चूड़ो ।।
काजल टीकी हम सब त्याग्या त्यायो है बांधन जूड़ो ।
मेवा मिसरी मैं सब ही त्याग्या त्याग्या छै सक्कर बूरो ।।
तन की आस कबहुँ नहि कीनी ज्यूँ रण माही सूरो ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर बर पायो मैं पूरो ।।

[९५]

आज हमारो साधुजन नो संगरे राणा म्हांरा भाग भल्याँ ।
साधु जननो संग जो करिये चढे ते चौगणों रग रे ।
साकट जनन तो संग न करिये पड़े भजन में भंग रे ।
अड़सठ तीरथ संतों ने चरणे कोटि कासी ने सोय गग रे ।।
निन्दा करसे नरककुंड मां जासे थासे आँधला अपग रे ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर संतों नी रज म्हारे अंग रे ।।

[९६]

राम तने रगराची राणा मैं तो साँवलिया रग राची रे ।
ताल पखावज मिरदग बाजा साधां आगे नाची रे ।।
कोई कहे मीरा भई बावरी कोई कहे मदमाती रे ।
विष का प्याला राणा भेज्या अमृत कर आरोगी रे ।।
मीरा कहे प्रभु गिरधर नागर जनम जनम की दासी रे ।।

[९७]

राणा जी थे क्या ने राखो म्हासू बैर ।
थे तो राणाजी म्हाने ईसडा लागो ज्यो ब्रच्छन में कैर
म्हैल अटारी हम सब त्याग्गा त्याग्या थांरो वसनो सहर
काजल टीकी राणा हम सब त्याग्या भगवों चादर पहर ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर इमरित कर दियो जहर ।।

[९८]

सिसोद्यो रूठ्यो तो म्हारो कांइ करलेसी ।
म्हे तो गुण गोविंद का गास्या हो माई ।
राणा जी रूठ्यो थांरो देस रखासी ।
हरि रूठ्यां कुम्हलास्या हो माई ।।
लोक लाज की काण न मानूं
निरभै निसाण घुरास्या हो माई ।।
राम नाम का झाझ चलास्यां
भवसागर तर जास्यां हो माई ।।
मीरा सरण सावल गिरधर की ।
चरण कवल लपटास्या हो माई ।।

[९९]

राणाजी म्हारी प्रीत पुरबली मैं काई करूँ ।
राम नाम बिन घड़ी न सुहावे राम मिले म्हारा हियरा ठराय ।
भोजनिया नाहिं भावै म्हाने नींदलड़ी नहिं आय ।।
विष को प्यालो भेजियो जी जावो मीरा पास ।
कर चरणामृत पी म्हारे गिरधर रो बिस्वास ।।

विष का प्याला पी गई जी भजन करे राठोर।
थारी मारी न मरूँ म्हारो राखणहारो और।।
छापा तिलक बनाविया जी मन में निस्चय धार।
रामजी काज सवारिया म्हाने भावे गरदन मार।।
पेट्या वासुकि भेजिया जी यो छै मोती डोरो हार।
नाग गले में पहिरिया म्हारे महलां भयो उजार।।
राठौडारी धीयड़ी जी सींसोद्यांरे साथ।
ले जाती बैकुंठ कूं म्हारी नेक न मानी बात।
मीरा दासी राम की जी राम गरीबनिवाज।
जन मीरा को राखज्यो कोई बाँह गहे की लाज।।

[१००]

राणाजी थें जहर दियौ म्हे जाणी।

जैसे कंचन दहत अगिन में निकसत बारह बाणी।
लोक लाज कुल काण जगत की दइ बहाय जस पाणी।।
अपने घर का परदा करले मैं अबला बौराणी।
तरकस तीर लग्यो मेरे हियरे गरक गयो सनकाणी।।
सब सतन पर तन मन वारो चरण कँवल लपटाणी।
मीरा को प्रभु राखि लई है दासी अपणी जाणी।।

[१०१]

यो तो रग धत्तां लग्यो ए माए।

पिया पियाला अमर रस का चढ़ गई घूम घुमाय।
यां तो अमल म्हांरे कबहुँ न उतरे कोटि करो उपाय।।
साँप पिटारी राणा जी भेज्यो द्यो मेडतणी गल डार।
हँस हँस मीरा कँठ लगायो यो तो म्हांरे नौसर हार।।
विष को प्यालो राणाजी भेज्यो द्यो मेड़तणी प्याय।
कर चरणामृत पा गई रे गुण गोविन्द रा गाय।।
पिया प्याला नामका रे और न रंग सोहाय।
मीरा कहे प्रभु गिरधर नागर कांचो रग उड़ जाय।।

[१०२]

मैं गोविन्द गुण गास्यां।
राजा रूठै नगरी राखै हरि रूठ्यां कहँ जास्यां।
राणै भेज्या जहर पियाला इमरित करि पी जाणा॥
डबिया में भेज्या ज भुवगम सालिगराम करि जाणा।
मीरा तो अब प्रेम दिवाणी सांवलिया वर पाणा॥

[१०३]

म्हाँसूं हरि बिन रह्यो इ न जाय।
सास लड़ै मेरी ननद खिजावै राणा रह्या रिसाय।
पहरो भी राख्यो चौकी बिठार्यो ताला दियो जड़ाय॥
पूर्व जनम की प्रीत पुराणी सो क्यूं छोड़ी जाय।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर और न आवे म्हारी दाय।

[१०४ [

अब नहि बिसरूँ म्हारे हिरदे लिख्यो हरि नाम।
म्हारे सतगुरु दियो बताय अब नहि बिसरूँ रे॥
मीरा बैठी महल मे रे ऊठत बैठत राम।
सेवा करस्यां साध की म्हारे और न दूजा काम॥
राणाजी बतलाइया कांइ देणो जवाब
मण लागो हरिनाम सूँ म्हारो दिन दिन दूना लाभ॥
सीप भरयो पाणी पिवे रे टाँक भरयो अन्न खाय॥
बतलाया बोलो नहीं रे राणोजी गया रिसाय।
विषरा प्याला राणाजी भेज्या दीजो मेडतणी हाथ।
कर चरणामृत पी गई म्हारां सबल धणी का साथ॥
विषको प्यालो पी गई भजन करे उस ठौर।
थाँरा मारी ना मरूँ म्हांरा राखणहारो और॥
राणोजी मो पर कोप्यो रे मारूँ एक न सेल।
मारयां पराछित लागसी म्हाने दीजो पीहर मेल।
राणो मोपर कोप्यो रे रती न राख्यो मोद।
ले जाती बैकुंठ में यो तो समझ्यो नहीं सिसोद।
छापा तिलक बनाइया तजिया सब सिंगार।
म्हें तो सरणे राम के भल निन्दो ससार॥

माला म्हाँरे देवडी सील बरत सिंगार ।
अबके किरिपा कीजियो, हूँ तो फिर बाँधू तलवार ।।

[१०५]

रथाँ बैल जुताय कै ऊटाँ कसियो भार ।
कैसे तोडूँ राम सूँ म्हाँरो भो भो रो भरतार ।।
राणो साँड्यो मोकल्यो जाज्यो एके दौड ।
कुल की तरण अस्तरी या तो मुरड़ चली राठौड ।।
साँड्यो पाछो फेर्यो रे परत न देस्याँ पाँव ।
कर सूरापण नीसरी म्हाँरे कुण राणे कुण राव ।।
संसारी निन्दा करे रे दुखियो सब ससार ।
कुल सारो हो लाजसी मीरा थे जो भया जो ख्वार ।।
राती माती प्रेम की विष भगत को मोड़ ।
राम अमल माती रहै धन मीरा राठोड ।।

[१०६]

मीरा—माई म्हाँने सुपणो में परण गया जगदीस ।
सोती को सुपना आविया जी सुपना विस्वा बीस ।।
मा— गैली दीखे मीरा बावली सुपणा आल जञ्जाल ।
मीरा—माई म्हाँने सुपने में परण गया गोपाल ।।
अग अग हल्दी मै करी जी सूधे भीज्यो गात ।
माई म्हाँने सुपने में परण गया दीनानाथ ।।
छप्पन कोटि जहाँ जान पधारे दुलहा श्री भगवान् ।
सुपने में तोरन बाँधियो जी सुपने में आई जान ।।
मीरा को गिरधर मिल्या जी पूर्व जनम के भाग ।
सुपने में म्हाँने परण गया जी हो गया अचल सुहाग ।।

[१०७]

कैसे जिऊँ री माई हरि बिन कैसे जिऊँ री ।
उदक दादुर पीनवत है जल से ही उपजाई ।
पल एक जल कूँ मीन बिसरै तलफत मर जाई ।

पिया बिन पीली भई रे ज्यों काठ घुन खाय ।।
औषध मूल न सचरै रे (बाला) बैद फिर जाय ।
उदासी होय बन बन फिरूँ रे बिथा तन छाई ।।
दासि मीरा लाल गिरधर मिल्या हैं सुखदाई ।

[१०८]

तू मत गरजे माइ री साधाँ दरसण जाती ।
राम नाम हिरदै बसै म्हाँहिले मदमाती ।।
माई कहै सुन धीहड़ी काहे गुण फूली ।
लोक सोवै सुख नीदडी थें क्यो रैणज भूली ।।
गेली दुनिया बावली ज्याँ कूँ राम न भावै ।
ज्यां रे हिरदे हरि बसे त्याकूँ नीद न आवै ।।
चौवास्याँ की बावडी ज्याकूँ नीर न पीजै ।
हरि नाले अमृत भरै ज्याँकी आस करीजै ।।
रूप सुरगा रामजी मुख निरखत जीजै ।
मीरा व्याकुल विरहिणी अपणी कर लीजै ।।

[१०९]

म्हाँना गुरु गोविन्द री आण गोरल ना पूजाँ ।
ओर ज पूजै गोरज्याँ जी थें कूँ पूजो न गोर ।
मन बंछत फल पावस्यो जी थें क्यूँ पूजे ओर ।।
नहिं हम पूज्याँ गोरज्याँ जी नहि पूजाँ अनदेव ।
परम सनेही गोबिंदो थे कांई जानो म्हाँरो भेव ।।
बाल सनेही गोबिंदो साध संताँ को काम ।
थें बेटी राठोड़ की थांने राज दियो भगवान् ।।
राज करे ज्यांना करणे दीज्यो मैं भगतारी दास ।
सेवा साधू जनन की म्हांरे राम मिलण की आस ।।
लाजै पीहर सासरो माइतणो मोसाल ।
सबही लाजै मेड़तिया जी थांसू बुरा कहे ससार ।।
चोरी करौ न मारगी नहिं मैं करूँ अकाज ।
पुन्न के मारग चालताँ झक मारो ससार ।।

नहिं मैं पीहर सासरे नहीं पियाजी रो साथ ।
मीरा ने गोबिंद मिल्या जी गुरु मिलिया रैदास ।।

[११०]

ऊदा—थाँने बरज बरज मैं हारी भाभी मानो बात हमारी ।
राणे रोस कियो थाँ ऊपर साधाँ में मत जा री ।।
कुल को दाग लगै छै भाभी निन्दा हो रही भारी ।
साधाँ रे संग बन बन भटको लाज गमाई सारी ।।
बडा घर थे जनम लियो छै नाचो दे दे तारी ।
बर पायो हिंदवाणै सूरज थे कांई मन धारी ।।
मीरा गिरधर साध संग तज चलो हमारी लारी ।

मीरा—मीरा बात नही जग छानी ऊदा समझो सुघर सयानी ।
साधू मात पिता कुल मेरे सजन सनेही ग्यानी ।।
सत चरण की सरण रैण दिन सत्त कहत हूँ बानी ।
राणाने समझावो जावो मैं तो बात न मानी ।।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर संताँ हाथ बिकानी ।।

ऊदा—भाभी बोलो बात बिचारी ।
साधाँ की संगत दुख भारी मानो बात हमारी ।
छापा तिलक गलहार उतारो पहिरो हार हजारी ।।
रतन जड़ित पहिरो आभूषण भोगो भोग अपारी ।
मीरा जी थें चलो म्हैल में थांनें सोगन म्हारी ।।

मीरा—भाव भगत भूषण सजे सोळ संतों सिंगार ।
ओढ़ी चूनर प्रेम की म्हाँरो गिरधर जी भरतार ।।
ऊदाबाई मन समझ जावो अपने धाम ।
राज पाट भोगो तुम्हीं, हमें न तासूँ काम ।।

[१११]

मीरा मगन भई हरि के गुण गाय ।
साँप पिटारा राणा भेज्यो मीरा हाथ दियो जाय ।
न्हाय धोय जब देखण लागी सालिगराम गई पाय ।
जहर का प्याला राणा भेज्या अमृत दीन्ह बनाय ।
न्हाय धोय जब पीवण लागी हो अमर अँचाय ।।

सूल सेज राणा ने भेजी दीज्यो मीरा सुलाय।
सांझ भई मीरा सोवन लागी मानो फूल बिछाय।।
मीरा के प्रभु सदा सहाई राखे बिघन हटाय।
भजन भाव में मस्त डोलती गिरधर पै बलि जाय।।

[११२]

मुझ अबलाने माटी नीरांत थई।
सामलो घरेनु म्हारे साँचे रे।।
वाली गढ़ाऊँ बीठल वर केरी हार हरि ने म्हाँरो हइये रे।
बीन माल चतुरभुज चूड़लो सिद सोनी घरे जइये रे।।
झाँझरिया जगजीवन केरा किस्न गलाँ री कठी रे।
बिछुवा घुंघरा राम नरायण अनवट अंतरजामी रे।।
पेटी घड़ाऊँ पुरुषोतम केरो टीकम नाम नूँ तालो रे।
कूँची कराऊँ करुनानन्द केरी तेमाँ घैणानूँ मारूँ रे।।
सासर बासो सजोने बैठी हवे नथी काइ काँचूँ रे।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर हरिनूँ चरणे जाचूँ रे।।

---

[११२] नीरात = आश्रय, आधार, भरोसा, अवलम्ब।

मिलन और आनन्दोन्माद

[११३]

पग घुँघरू बाँध मीरा नाची रे

मैं तो मेरे नारायण की आपहि हो गई दासी रे।

लोग कहैं मीरा भई बावरी न्यात कहैं कुलनासी रे॥

विष का प्याला राणाजी भेज्या पीवत मीरा हाँसी रे।

मीरा के प्रभु गिरधर नागर सहज मिले अविनासी रे॥

[११४]

रंग भरी रग भरी रंग सूँ भरी री।

होली आई प्यारी रंग सूँ भरी री॥

उड़त गुलाल लाल भये बादल पिचकारिनि की लगी झरी री।

चोवा चन्दन और अरगजा केसर गागर भरी धरी री॥

मीरा कहै प्रभु गिरधर नागर चेरी होय पायन में परी री॥

[113-15] "No words can express the wonderful love and the ecstasy of happiness that was shed abroad in my heart. I wept aloud with joy and love and I do not know but I should say I literally bellowed out the unutterable gushings of my heart. These waves came over me and over me and over me one after the other, until I recollect I cried out. I shall die if these waves continue to pass over me."

President Finnes's acounts in The Varieties Religious Experiences 255

The difference between trance and transport (ecstasy) is this. In a trance the soul gradually dies to outward things, losing the senses and living unto God But a transport came on by one sole act of His Majesty wroght in the innermost part of the soul with such swiftness that it is as if the higher part

[११५]

बदला रे तू जल भरि ले आयो ।
छोटी छोटी बूंदन बरसन लागी कोयल सबद सुनायो ।
गाजै बाजै पवन मधुरिया अंबर बदराँ छायो ।।
सेज संवारी पिया घर आये हिलमिल मंगल गायो ।
मीरा के प्रभु हरि अविनासी भाग भलो जिन पायो ।।

[११६]

जोसीड़ा ने लाख बधाई रे अब घर आये स्याम ।
आजि आनन्द उमगि भयो है जीव लहै सुखधाम ।।
पाँच सखी मिलि पीव परसि कै आनँद ठामूँ ठाम ।
बिसर गई दुख निरखि पिया कूँ सुफल मनोरथ काम ।।
मीरा के सुख सागर स्वामी भवन गवन कियो राम ।

---

thereof were carried away and the soul were leaving the body Rapture comes in general as a shockquick and sharp, before you can collect your thoughts or help yourself in any way. You see and feel it as a cloud, or a strong eagle rising upward and carrying you away on its wings You feel and see yourself carried away, you know not whither. This supreme state of ecstasy never lasts long, but although it ceases it leaves the will so inebriated and the mind so transported out of itself that such a person is incapable of attending to any thing, although wide awake. She seems asleep as regards all earthly matters"

—*St Teresa*

(११५) बरसात तो यो सर्वत्र ही सुखद और सुहावनी होती है पर राजस्थान मे उसका और ही आनन्द है क्योकि मेघ के दर्शन वहाँ दुर्लभ होते है । मेघ उधर गरजे-लरजने लगते है इधर मोर बोलने लगते हैं और पख पसार कर नाचने लगते है । मिलन के समय यह सारा दृश्य मीरा के हृदय को गुदगुदा रहा है क्योकि 'सेज सँवारी पिय घर आये हिलमिल मगल गायो' । समस्त प्रकृति इस मिलन-बेला मे मधु घोल रही हैं । मीरा का सारा वातावरण सुहावना और सजीला हो गया है क्योकि यह प्रिय-मिलन का समय है ।

(११६) इस पद मे मिलन जन्य आनन्दोल्लास का बडा ही भव्य एव मनोहारी चित्रण है 'बिसरि गई दुख निरखि पिया को' मे कितनी स्वाभाविक उल्लासपूर्ण सुखानुभूति की दिव्य व्यजना है । 'उसे' पाकर जन्म-जन्म के प्यासे प्राण जुडा गये, परितृप्त हो गये !

[११७]

रे सांवलिया म्हारे आज रँगीलो गणगोर छै जी ।
काली पीली बदली में बिजली चमके मेघ घटा घनघोर छै जी ।।
दादुर मोर पपीहा बोले कोयल कर रही सोर छै जी ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरणो में म्हाँरो जोर छै जी ।।

[११८]

झुक आई बदरिया सावन की, सावन की मन भावन की ।
सावन में उमंग्यो मेरो मनवा भनक सुनी हरि आवन की ।
उमड घुमड़ चहुँ दिसि से आयो दामिण दमक झर लावन की ।
नान्हीं नान्ही बूँदन मेहा बरसै शीतल पवन सोहावन की ।।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर आनँद मंगल गावन की ।

[११९]

सावण दे रह्या जोरा रे घर आयो जी स्याम मोरा रे ।
उमड घुमड़ चहुँ दिसि से आया गरजत है घनघोरा रे ।
दादुर मोर पपीहा बोलै कोयल कर रही सोरा रे ।।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर जो वारूँ सो ही थोरा रे ।।

[१२०]

साजन घर आवो मिठबोला ।
कब की ठाढ़ी पथ निहारूँ थाँ हीं आया होंसी भला ।
आवो निसंक संक मत मानो आयाै ही सुख रहला ।
तन मन वार करूँ न्यौछावर दीजो स्याम मोहेला ।।
आतुर बहुत बिलम नहिं करणा आयाँ ही रंग रहेला ।
तेरे कारण सब रंग त्यागा काजल तिलक तमोला ।।
तुम देख्याँ बिन कल न परत है कर धर रही कपोला ।
मीरा दासी जनम जनम की दिल की घुन्डी खोला ।।

[१२१]

सहेलियाँ साजन घर आया हो ।
बहोत दिनाँ की जोवती बिरहणि पिव पाया हो ।
रतन करूँ नेवछावरी ले आरति साजूँ हो ।
पिया का दिया सनेसड़ा ताहि भोत निवाजूँ हो ।।

पाँच सखी इकठी भई मिलि मगल गावै हो।
पिय का रली बधावणाँ आंणद अंगि न आवै हो।।
हरि सागर सूँ नेहरो नेणां बँध्या सनेह हो।
मीरा सखी के आगणै दूधाँ बूठा मेह हो।।

[१२२]

म्हाँरो ओलगिया घर आया जी।
तन की ताप मिटी सुख पाया हिल मिल मगल गाया जी।।
घन की धुन सुनि मोर मगन भया यूँ आणद आया जी।
मगन भई मिलि प्रभु अपणाँ सूँ भौ का दग्घ मिटाया जी।।
चद कूँ देखि कमोदनी फूलें हरखि भया मेरी काया जी।
रग रग सीतल भई मोरि सजनी हरि मेरे महल सिधाया जी।।
सब भगतन का कारज कीन्हा सोई प्रिय मे पाया जी।
मीरा विरहणि सीतल होई दुख दुन्द न्हसाया जी।।

[१२३]

म्हें तो राजी भई मेरे मन में मोहि मिया मिले इक छिन मे।
पिया मिल्या मोहि किरिपा कीन्हीं दीदार दिखाया हरि ने।।
सतगुरु सबद लखायो असरी ध्यान लगाया धुन में
मीरा के प्रभु गिरधर नागर मगन भई मेरे मन में।।

---

(१२१) विरहिणी युग-युग से प्रीतम प्यारे की प्रतीक्षा मे थी आज वह 'उसे' पाकर निहाल हो रही है। इस मधुर मगल मिलन में आनन्द उमडा-उमडा फिरता है, हृदय में अमा नही रहा है। पिया ने आने को सदेश भेजा था, वह आज सच निकला, और इसलिये विरहिणी कह रही है कि मै अपने प्यारे के सदेश का बहुत आदर करती हूँ क्योकि वह मेरा प्रियतम अपनी बात का सच्चा है। आज आनन्द-मगल का क्या कहना! जिस प्रकार सागर से बूँदे उठ कर फिर मेघ रूप में कही बरस जाती है इसी प्रकार हरि रूपी सागर से नेह की बूदे उठ कर आज मीरा के आँगन मे झमाझम बरस रही है।

(१२२) एक बार प्रभु के शीतल अमृत स्पर्श का अनुभव कर लेने पर तन का सारा ताप, हृदय की सारी व्यथा मिट जाती है और जन्म-जन्म के सकट क्षण मे दूर हो जाते है। हृदय के अदर एक अपूर्व आधार और भरोसा बना रहता है। चद्रमा को देख कर जिस प्रकार कुमदिनी खिल उठती है वैसे ही मीरा का हृदय, मन, प्राण, उसका रोम-रोम खिल उठा है, रग रग शीतल हो गया है।

[१२४]

चाला वही देस प्रीतम चाला वाही देस ।
कहो कसूमल साड़ी रँगावा कहो तो भगवा भेस ।
कहो तो मोतियन माँग भरावा कहो छिटकावा केस ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर सुणज्यो बिड़द नरेस ।।

[१२५]

फागुन के दिन चार रे होरी खेल मना रे ।
बिन करताल पखावज बाजे अनहद की झनकार रे ।
बिन सुर राग छतीसूँ गावै रोम रोम रग सार रे ।।
सील सतोख की केसर घोली प्रेम प्रीत पिचकारी रे ।
उडत गुलाल लाल भए बादल बरसत रंग अपार रे ।।
घट के पट सब खोल दिए है लोक लाज सब डार रे ।
होरी खेलि पीव घर आये सोइ प्यारी प्रिय प्यार रे ।।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कँवल बलिहार रे ।।

[१२६]

बाल्हा मैं वैरागिण हूँगी हो ।
जीं जीं भेष म्हारो साजन रीझै सोइ भेष धरूँगी हो ।।
सील सतोष धरूँ घट भीतर समता पकड़ रहूँगी हो ।
जाको नाम निरजण कहिये ताको ध्यान धरूँगी हो ।।
गुरू ग्यान रगूँ तन कपड़ा मन मुद्रा फेरूँगी हो ।
प्रेम प्रीत सूँ हरिगुण गाऊँ चरणन लिपट रहूँगी हो ।।
या तन की मैं करूँ कीगरी रसना राम रटूँगी हो ।
मीरा कहे प्रभु गिरधर नागर साधा संग रहूँगी हो ।।

---

(१२४) मीरा कह रही है ऐ मेरे साजन चलो तुम्हारे देश चलूँ । कहो तो कुसुम्भी साडी पहन लूँ, कहो तो भगवा वेश धारण करलूँ, कहो तो माँग मोतियो से भरा लूँ या कहो तो केश बिखेर लूँ ।

राजस्थान में प्रायः सुहागिनें काली चौडी पाटियो पर मोतियो की लडियो से माँग सजती है ।

[१२७]

तूँ नागर नन्दकुमार तोस्यो लाग्यो नेहरा ।
मुरली तेरी मन हरयो बिसरयो ग्रिह व्योहार ।।
जब ते स्रवननि धुनि परी ग्रिह अंगना न सुहाइ ।
पारधि ज्यूँ चूकै नहीं मृगी बेधि दई आई ।।
पानी पीर न जाणई मीन तलफि मरि जाई ।
रसिक मधुप के मरम को नहि समझत कंवल सुभाइ ।।
दीपक को जू दया नहीं उडि उडि मरत पतंग ।
मीरा प्रभु गिरधर मिले जैसे पाणी मिल गयो रग ।।

[१२८]

हमरे रौरे लागलि कैसे छूटै ।
जैसे हीरा हनत निहाई तैसे हम रौरे बनि आई ।।
जैसे सोना मिलत सोहागा तैसे हम रौरे दिल लागा ।
जैसे कमल नाल बिच पानी तैसे हम रौरे मन मानी ।।
जैसे चँदहि मिलत चकोरा तैसे हम रौरे मिल जोरा ।
जैसे मीरा पति गिरधारी तैसे मिलि रहु कुंज बिहारी ।।

---

(१२७) सच्चा प्रेमी इस बात की ओर नहीं देखता कि उसका प्रियपात्र उससे प्रेम करता है या नहीं, वह प्रेम करने में ही आनन्द पाता है । प्रेम का नशा बहुत ही मादक रोता है । हरिणी वीणा के स्वर पर आनन्द-विभोर होकर मृत्यु की गोद में छलाँग मार जाती है । जल के बिना मछली का जीवन असभव है परन्तु जल को उसकी व्याकुलता का क्या पता ? भौरा काठ छेद देता है पर कमल-कोष में बन्दी हो जाता है और घुट-घुट कर प्राण दे देता है परन्तु कमल उस पर क्यो प्रीति करता है ? शलभ दीपक पर अपने को निछावर कर देता है और भस्म हो जाता है परन्तु निर्मम दीपक को उससे क्या गरज ? इसी प्रकार वह 'निठुर' (हाय, 'निठर' कहते भी तो नही बनता जो प्राणो को इतना प्रिय और इतना 'अपना' है उसे 'निठुर' कैसे कहा जाय ?) भले ही द्रवित न हो अपना हृदय तो प्यार किये बिना नही मानता । मीरा कहती है कि मैं तो अपने साँवरे के रग मे यो घुल गई जैसे पानी मे रग घुल जाता है ।

[128] Nothing can show God's grace more than that He pines for man, His chosen bride whose wordliness and pride refuse to surrender to the soft alluring melodies of the flute of a reed ever resounding since man's separation from God God

[१२९]

म्हांरो जमन मरण को साथी थाने नहिं विसरूं दिन राती ।
तुम देख्यां बिन कल न पड़त है जानत मेरी छाती ॥
ऊँची चढ़ चढ पथ निहारूं रोय रोय अँखिया राती ।
यो संसार सकल जग झूठो झूठा कुलरा न्याती ॥
दोउ कर जोडयां अरज हूँ सुण लीज्यो मेरी बाती ।
यो मन मेरो बड़ो हरामी ज्यूँ मदमाती हाथी ॥
सदगुरु हस्त धर्यो सिर ऊपर आकुस दे समझाती ।
पल पल तेरा रूप निहारूं निरख निरख सुख पाती ॥
मीरा के प्रभु गिरधर नागर हरि चरणों चित राती ।

[१३०]

आली म्हाने लागे बृदाबन नीको ।
घर घर तुलसी ठाकुर पूजा दरसण गोबिंद जी को ।
निरमल नीर बहत जमना में भोजन दूध दही को ॥
रतन सिंघासण आप बिराजे मुगट धर्यो तुलसी को ।
कुंजन कुजन फिरत राधिका सबद सुनत मुरली को ॥
मीरा के प्रभु गिरधर नागर भजन बिना नर फीको ।

---

lays aside all His godliness in order to win over man, He tries all the arts and wills The climax is reached when we read in Jaideva's. 'Gita Govinda' of God cajoling man by saying, "Oh Thou ! surrender to me, thy generous lotus feet !"
'देहि में पदपल्लवमुदारम्' ।

—*Theory and Art of Mysticism*

[१३०] यह पद तब का मालूम होता है जब मीरा न अपने 'साजन' से मिलने के लिए 'अभिसार' किया था और वृन्दावन आई थी । इस पद मे मीरा के आनन्द का कितना सुन्दर और स्वभाविक उल्लासपूर्ण वर्णन है । 'कुंजन कुंजन फिरत राधिका सबद सुनत मुरली को' में कितनी गभीर व्यजना है । यह स्वयं मीरा के हृदय की स्थिति है—स्वय मीरा मुरली की मोहिनी मे एक कु ज से दूसरे कु जो मे भटक रही है, उस 'न मिलने वाले', उस 'ना ना की मधुर मूरत' को भर आँख देख पाने के लिए । वृन्दावन के वे कु ज अब भी प्रिया-प्रीतम की मिलन माधुरी से उल्लसित और सुवासित है ।

[१३१]

चलो मन गगा जमना तीर ।
गगा जमना निरमल पानी सीतल होत सरीर ।
बसी बजावत गावत कान्हो संग लियो बलवीर ।।
मोर मुगट पीतांबर सोहै कुडल झलकत हीर ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कमल पर सीर ।।

[१३२]

हो कान्हा किन गूँथी जुल्फाँ कारियाँ ।
सुघर कला प्रवीन हाथन सूं जसुमतिजू ने सँवारियाँ ।।
जो तुम आओ मेरी बाखरियाँ जरि राखूं चदन किवारियाँ ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर इन जुलफन पर वारियाँ ।।

[१३३]

गोकुला के वासी भले ही आए गोकुला के बासी ।।
गोकुल की नारि देखत आनंद सुखरासी ।
एक गावत एक नाचत एक करत हाँसी ।।
पीताम्बर फेटा बांधे अरगजा सुबासी ।
गिरधर से सुनवल ठाकुर मीरा सी दासी ।।

[१३४]

सखी म्हारो कानूड़ो कलेजे की कोर ।
मोर मुगट पीताबर सोहै कुडल की झकझोर ।।
बिंद्रावन की कुज गलिन में नाचत नन्द किसोर ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कँवल चितचोर ।।

[१३५]

जागो बसीवारे ललना जागो मेरे प्यारे ।
रजनी बीती भोर भयो है घर घर खुले किवारे ।
गोपी दही मथत सुनियत है कँगना के झनकारे ।।

---

[१३५] प्रिय-जागरण का कितना मनोहर दृश्य है । सवेरा हो गया है । घर घर के किवाड़ खुल गए हैं । ग्वालिनें दही मह रही हैं और दही महते समय उनके हाथों के कगन और चूडियाँ बज रही हैं । ग्वाल बाल

उठो लाल जी भोर भयो है सुर नर ठाढ़े द्वारे।
ग्वालबाल सब करत कुलाहल जय जय सबद उचार।
माखन रोटी हाथ में लीनी गउवन के रखवारे।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर शरण आया कूं तारे।।

[१३६]

गोहनें गुपाल फिरूँ ऐसी आवत मन में।
अवलोकत बारिज बदन बिबस भई तन में।।
मुरली कर लकुट लेऊँ पीत बसन धारूँ।
काछी गोप भेष मुकट गोधन सँग चारूँ।।
हम भई गुल्म लता बृन्दाबन रैनाँ।
पसु पछी मरकट मुनी श्रवन सुनत बैना।।
गुरुजन कठिन कानि कासो री कहिए।
मीरा प्रभु गिरधर मिलि ऐसे ही रहिए।।

[१३७]

स्याम म्हांसूं ऐंडो डोले हो।
औरन सूं खेले धमार म्हांसूं मुख हूं न बोले हो।।
म्हाँरी गलियाँ ना फिरे बाके आँगण डोले हो।
म्हाँरी अँगुरी ना छुवे वाँकी बहियाँ मोरे हो।।
म्हाँरो अँचरा ना छुवै बाको घूंघट खोलै हो।
मीरा के प्रभु सांवरो रगरसिया डोले हो।।

आकर शोर मचा रहे है—सबके सब हाथ मे रोटीमाखन लिए हुए गाय चराने के लिए अपने प्यारे सखा कन्हैया को बुलाने आये है। ऐसे भोर के समय मीरा अपने प्राणाधार श्री गिरधर नागर को जगा रही है—'जागो वंसीवाले ललना, जागो मेरे प्यारे।' यह यशोदा का अपने कुँवर का जगाना नहीं है, यह प्रिया का अपने प्रियतम को जगाना है।

[१३७] इस पद मे प्रणय-जन्य ईर्ष्या का कितना सुन्दर एव भावपूर्ण मर्मस्पर्शी चित्र है जिसमे प्रेमिका अपने प्रणय देवता की 'निष्ठुरता' की मीठी-मीठी शिकायत कर रही है।

[१३८]

आली साँवरो की दृष्टि मानो प्रेम की कटारी है ।
लागत बेहाल भई तन की सुधि बुधि गई ।।
तन मन व्यापो प्रेम मानो मतवारी है ।
सखियाँ मिलि दुइ चारी बावरी सी भई न्यारी ।।
हो तो वाको नीको जानो कुंज को बिहारी है ।
चंद को चकोर चाहै दीपक पतंग दाहै ।।
जल बिना मीन जैसे तैसे प्रीत प्यारी है ।
विनती करो हे स्याम लागों मैं तुम्हारे पाँव ।।
मीरा प्रभु ऐसे जानो दासी तुम्हारी है ।

[१३९]

प्रेमनी प्रेमनी रे मन लागे कटारी प्रेमनी रे ।
जल जमुना मां भरवा गया तां हतो गागर माथे हेमनी रे ।।
काचे ते तातणे हरिजी ए बाँधो जेम खिचे तेम तेमनी रे ।
मीरा कहे प्रभु गिरधर नागर साँवली सूरत सुभ एमनी रे ।।

[१४०]

माई मेरो मोहने मन हर्यो ।
कहा करूँ कित जाऊँ सजनी प्राण पुरुस सूँ वरयो ।।
हूँ जल भरने जात थी सजनी कलस माथे धरयो ।
साँवरी सी किसोर मूरत कछुक टोनो कर्यो ।।
लोक लाज बिसारि डारो तबही कारज सर्यो ।
दासि मीरा लाल गिरधर छान ये वर वर्यो ।।

---

[138] The mystic sees a light that never was no sea and land He hears a sound which ear has not heard, He conquers space and time He becomes luminous in his ecstasy and exhales sweet perfumes. Even the birds and beasts of the forest love him such is the tenderness that he diffuses all around, Strange feelings surge frome the unfathomable depths of his heart The voice of the whole humanity is uttered in his prayer'

—*Theory and Art of Mysticism*

[१४१]

छांड़ो लँगर मोरी बहियाँ गहो ना ।
मे तो नार पराये घर की मेरे भरोसे गुपाल रहो ना ।
जो तुम बहियाँ मेरो गहत हो, नयन जोर मोरे प्राण हरो ना ।।
वृन्दावन की कुंज गली में रीत छोड़ अनरीत करो ना ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कमल चित टारे टरो ना ।।

[१४२]

आवत मोरी गलियन में गिरधारी मै तो छुप गई लाज की मारी ।
कुसुमल पाग केसरिया जामा ऊपर फूल हजारी ।
मुकुट ऊपर छत्र बिराजे कुंडल की छवि न्यारी ।।
केसरी चीर दरयाई को लहँगो ऊपर अंगिया भारी ।
आवत देखी किसन मुरारी छुप गई राधा प्यारी ।।
मोर मुकुट मनोहर सोहे नथनी की छवि न्यारी ।
गल मोतिन की माल विराजे चरण कमल बलिहारी ।।
ऊभी राधा प्यारी अरज करत है सुणजे किसन मुरारी ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कमल पर वारी ।।

[१४३]

भई हों बावरी सुन के बाँसुरी हरि बिन कछु न सुहाये माई ।
स्रवन सुनत मेरी सुध बुध बिसरी लगी रहत तामें मनकी गाँसुरी ।
नेम धरम कोन कीनी मुरलिया कोन तिहारे पासु री ।
मीरा के प्रभु बस कर लीने सप्त सुरन तानन की फाँसु री ।।

[१४४]

आज अनारी ले गयो सारी बैठ कदम की डारी हे माय ।
म्हारे मेल पडया गिरधारी हे माय, आज अनारी० ।
मैं जल जमुना मां भरन गई थी आ गयो कृष्ण मुरारी हे माय ।
ले गयो सारी अनारी म्हारी जल में ऊभी उघारी हे माय ।
सखी सयानी मोरी हंसत है हंसि हंसि दे मोहि तारी हे माय ।।
सास बुरी अरु ननद हठीली लरि लरि दे मोहि गारी हे माय ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कमल की वारी हे माय ।।

[१४५]

या ब्रज में कछू देख्यो री टोना ।
ले मटुकी सिर चली गुजरिया आगे मिले बाबा नन्दजी के छोना ।
दधि को नाम बिसरि गयो प्यारी ले लेहु री कोई स्याम सलोना ।।
बिद्रावन की कुंज गलिन में आँख लगाइ गयो मनमोहना ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर सुन्दर स्याम सुघर रसलोना ।।

[१४६]

कोई स्याम मनोहर लो री, सिर धरें मटुकिया डोलै ।
दधि को नाम बिसरि गई ग्वालिन हरि ल्यो, हरि ल्यो बोलै ।।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चेरी भई बिन मोलै ।
कृष्ण रूप छकी है ग्वालिनि औरहिं और औरै बोलै ।।

[१४७]

कमल दल लोचना तैंने कैसे नाथ्यो भुजग ।
पैसि पियाल कालीनाग नाथ्यो फण फण निर्त करंत ।।
कूद पर्‌यो न डर्‌यो जल माहीं और काहूँ नहिं संक ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर श्री बृन्दावनचद ।।

[१४८]

होली खेलत है गिरधारी ।
मुरली चग बजत डफ न्यारो संग जुवति ब्रजनारी ।
चंदन केसर छिरकत मोहन अपने हाथ बिहारी ।

[१४५-१४६] ये भोरी अहीरिने भी कितनी भाग्यशालिनी थी जिनकी चुटकियो पर श्यामसुन्दर नाचे । इनके पूर्व पुण्य का हिसाब कौन लगा सकता है जिन्होने हरि को खेलाया—अन्त सुख से खेलाया और वाह्य सुख से भी उन्हे पाकर मुख का चुम्बन दिया । भगवान् ने उन्हे अन्तः सुख दिया, जिन्होने एकनिष्ठ भाव से उन्हे भजा । श्री कृष्ण मे जिनका तन मन लग गया, जो घर और द्वार और पति पुत्र तक को भूल गयी, जिनके लिए धन मान और स्वजन विष से हो गये वे एकान्त में वन बसाने लगी ।

इन ग्वालिनो के प्रेम का कोई क्या बखान करे ? दही बेचने चली है, राह मे श्यामसुन्दर मिल जाते है, फिर सारी सुध-बुध भूल जाती है—'लो दही, लो दही' के बजाय 'लो गोपाल लो गोपाल' कहने लगती है ।

सूरदास का 'कब की मह्यो लिये सिर डोलै' पद इसी भाव का बड़ा ही सुन्दर है ।

भरि भरि मूठी गुलाल लाल चहुँ देत सबन पै डारी ।
छैल छबीले नवल कान्ह सँग स्यामा प्राण पियारी ।
गावत चार धमार राग तहँ दै दै कल करतारी ।

[१४९]

नदनदन बिलमाई बदरा मे घेरी माई ।
इत घन गरजे उत घन लरजे चमकत बिज्जु सवाई ।
उमड़ उमड चहुँ दिसि से आया पवन चलै पुरवाई ।।
दादुर मोर पपीहा बोलै कोयल सबद सुणाई ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कमल चित लाई ।।

[१५०]

सुनी हो मैं हरि आवन की आवाज ।
म्हैल चढ़े चढ़ि जोऊ मेरी सजनी कब आवै महराज ।।
दादुर मोर पपइया बोलै कोइल मधुरे साज ।
उमंग्यो इन्द्र चहुँ दिसि बरसै दामणि छोड़ी लाज ।।
धरती रूप नवा नवा धरिया इन्द्र मिलन कै काज ।
मीरा के प्रभु हरि अबिनासी बेगि मिलो महराज ।।

---

[१४९] इस पद की गति और ध्वनि पर, लय और ताल पर ध्यान दीजिये । काव्य-रचना की दृष्टि से मीरा के गीतो में यह बहुत ही पुष्ट है । उमडती हुई मेघमाला के साथ पुरवैया ने वर्षा काल का एक बहुत ही सजीला चित्र उपस्थित कर दिया है । सारग राग में यह बड़े ही मीठे ढग से गाया जा सकता है ।

[१५०] समस्त प्रकृति निरावृत होकर, रस में सराबोर होकर, अपने प्राण-वल्लभ से मिल रही है उस समय मीरा को हरि का वियोग और खलने लगता है और बार बार वह महल पर चढ कर 'उन' के आगमन की प्रतीक्षा कर रही है । 'दामिणि छोडी लाज' मे कितना गम्भीर सकेत है—आज समस्त प्रकृति लज्जा छोडकर अपने प्रिय से मिल रही है, इन्द्र से मिलने के लिए पृथ्वी ने नयी हरी साडी पहन ली है । ऐसे समय में—जब चारो ओर मिलन का समा बँधा हो प्रियतम के विरह मे मीरा झुलस रही है । वह प्रतीक्षा में है क्योकि मिलन के इन उपकरणो में वह प्यारे की पगध्वनि सुन रही है, पैरो की वह पहचानी हुई आहट सुन रही है ।

❀

प्रेम की पीर

[१५१]

सजन सुध ज्यूँ जानै त्यूँ लीजै हो ।
तुम बिन मोरे ओर न कोई क्रिपा रावरी कीजै हो ।
दिन नहिं भूख रैन नहिं निंदरा यूँ तन पलपल छीजै हो ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर मिल-बिछड़न मत कीजै हो ।।

[१५१-२००] भगवान आनन्दमय है, रसस्वरूप है और फिर भी विशेषता यह कि रस पाकर ही वह आनन्दी होता है—'रसो वै सः । रस ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'। स्वय रसरूप होकर भी वह रस का चाहक है और स्वयं आनन्दरूप होकर भी तब तब तक आनन्दवान नही होता जब तक उसे 'रस' न मिल जाय । भगवान् स्वय इस लीला का जाल पसारे हुए है इसलिए स्पष्ट ही उसे प्रेम की भूख है । इसी लीला के लिये प्रेम-भिखारी साँई राह चलते भक्त पर रग डाल देता है । जो दुनियादार है और जिनकी वृत्तियाँ बहिर्मुखी है वे उस रग की लीला का अनुभव ही नही करते, अपने रास्ते चले जाते है । पर जो अनुभवी हैं वे व्याकुल हो जाते हैं । उन्हे एक व्याकुल पुकार सुनाई देती है । जैसे प्रियतम ने छेडखानी करके एक ऐसी पुकार फेकी है जिस की चोट सँभालना मुश्किल है । यह पुकार सारे शरीर को बेध डालती है । इसकी कोई औषध नही, मत्र नही, जडी नही, बूटी नही,—बेचारा वैद्य क्या कर सकता है ? इस प्रकार की चोट जिसे लगी वही अभिभूत हो गया । साई के इस रग की चोट खाया मनुष्य सब रंगो से रग जाता है और फिर भी उसका रंग सब रगो से न्यारा होता है ।

धन्य है जो प्रिय के साथ एकमेक होकर फाग खेलती है, धन्य है वे जो उसकी मनभावती है और अभागिन है वह सखी जो ऐचा-तानी में ही रह गई । और प्रिय का रूप क्या वणन किया जाय ? प्रेम-दीवानी प्रेमिका उसे अलग से कैसे समझावे ? वह तो उसी मे समा गई है,—तन्मय हो गई है । वह कहने की चीज नही है, अनुभव करने की चीज है,—अकथ कहानी है—विरलो के नसीब मे इस परम सुख का अनुभव बदा है ।

—'कबीर' पृ० १७८

[१५२]

म्हांरी सुध ज्यूं जानो त्यूं लीजो जी ।
पल पल भीतर पंथ निहारूँ दरसण म्हांनें दीजो जी ।।
में तो हूँ बहु औगणहारी औगण चित मत दीजो जी ।
में तो दासी थांरे चरण कंवल की मिल बिछुरन मत कीजो जी ।
मीरा तो सतगुर जी सरणे हरि चरणां चित दीजो जी ।।

[१५३]

म्हांरे घर होता जाज्यो राज ।
अब के जिन टाला दे जावो सिर पर राखूं विराज ।।
म्हे तो जनम जनम की दासी थें म्हारा सिरताज ।
पावणडा म्हां के भलां ही पधारी सब ही सुधारण काज ।।
म्हे तो बुरी छां थांके भली छै घणेरी तुम हो एक रसराज ।
थांनें हम सबहिन की चिंता तुम सब के हो गरिबनिवाज ।।
सबके मुगट सिरोमनि सिर पर भानूं पुण्य की पाज ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर बांह गहे की लाज ।।

[१५४]

में जाण्यो नहीं प्रभु को मिलन कैसे होई री ।
आये मेरे सजना फिर गये अँगना मे अभागण रही सोइ री ।।
फाड़ूंगी चीर करूं गल कथा रहूंगी बैरागण होइ री ।
चुरिया फोरूं माग बखेरूं कजरा मे डारूं धोइ री ।।
निस बासर मोहि बिरह सतावै कल ना परत पल मोइ री ।
मीरा के प्रभु हरि अबिनासी मिलि बिछरो मत कोइ री ।।

[१५५]

प्रभु जी थें कहां गया नेहड़ो लगाय ।
छोड गया बिस्वास संघातो प्रेम की बाती बराय ।।
बिरह समंद में छोड़ गया छो नेह की नाव चलाय ।
मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे तुम बिन रह्योइ न जाय ।।

---

[१५४] इसमें 'मुग्धा' का रूप सामने आता है । एकबार सपने में 'वह' आया मिलने के लिए भुजाएँ बढायी ही कि वह 'छलिया' खिसक गया । मिलन का 'सुख' कैसा होता है यह जान ही न पाई ।

[१५६]

डारि गयो मनमोहन पासी ।
आंबा की डारि कोयल इक बोलै मेरो मरण अरु जग केरी हाँसी ।
बिरह की मारी मैं बन बन डोलूँ प्रान तजूँ करवत ल्यूँ कासी ।
मीरा के प्रभु हरि अबिनासी तुम मेरे ठाकुर मैं थारी दासी ।।

[१५७]

माई म्हारी हरिहू न बूझी बात ।
पिंड मासू प्राण पापी निकसि क्यूँ नहि जात ।।
पाट न खाल्या मुखाँ न बोल्या साँझ भई परभात ।
अबोलण जुग बीतण लागो तो काहे की कुसलात ।।
सावण आवण कह गया रे हरि आवण की आस ।
रैंण अँधेरी बीज चमकै तारा गिणत निराम
लेइ कटारो कठ सारूँ मरूँगी बिष खाइ ।
मीरा दासी राम राती लालच रही ललचाइ ।।

[१५८]

परम सनेही राम की निति ओलूँ री आवै ।
राम हमारे हम है राम के रि बिन कछु न सुहावै ।।

---

[१५६] 'मेरो मरण अरु जगकेरी हाँसी' में कितनी निगूढ व्यथा की सकेतभरी व्यजना है ! विरहिणी व्यथा मे जल रही है, मर रही है, और दुनिया तमाशा देख-देखकर हंस रही है । उस वेदना को जगत क्या समझे; क्यों दुनिया समझे ! उसे समझने की क्या पडी है ?

[१५७] इस पद मे प्रिय की उपेक्षा पर प्राणो की खीझ का कितना सुंदर एवं भावपूर्ण वर्णन है । साँझ हुई, सबेरा हुआ, रात आई, रात गई दिन आया पर एक बार भी 'वह' मुझसे मुँह खोलकर बोला तक नही, और इस प्रकार विना बोले युग पर युग निकल गया । सावन भादो मे आने की बात थी पर वह वायदा भी वायदा मात्र रह गया । रात अधेरी है, बिजली रह-रह कर चमक उठती है और प्राणो के हाहाकार को उकसा रही है । ऐसा जी करता है कि कटार लेकर छाती मे घुसेड लूँ । परन्तु तुरत स्मरण हो आता है, नही नही 'वह' आने को कह गये है, कभी न कभी, एक न एक दिन मेरे भाग्य खुलेगे, उनके दर्शन होगे । इसी आशा भरे लालच मे मीरा 'अपघात' नही करती ।

श्रावण कह गये अजहुँ न आये जिवड़ो अति अकुलावै ।
तुम दरसण की आस रमैया कब हरि दरस दिखावै ।।
चरण कँवल की लगन लगी नित बिन दरसण दुख पावै ।
मीरा कूँ प्रभु दरसन दीज्यो आणंद बरण्यूँ न जावै ।।

[१५९]

रमइया बिन रह्यो इ न जाय ।
खान पान मोहि फीको सो लागै नैणा रहे मुरझाइ ।।
बार बार मैं अरज करत हूँ रैण गई दिन जाइ ।।
मीरा कहै हरि तुम मिलिया बिन तरस तरस तन जाइ ।।

[१६०]

हेरी मैं तो दरद दिवाणी मेरो दरद न जाणै कोइ
घाइल की गति घाइल जाणै कि जिण लाई होइ ।
जौहरी की गति जौहरी जाणै की जिण जौहर होइ ।।
सूली ऊपरि सेज हमारी सोवणा किस विध होइ ।।
गगन मडल पै सेज पिया की किस विध मिलणा होइ ।
दरद की मारी बन बन डोलूँ बैद मिल्या नहिं कोइ ।
मीरा की प्रभु पीर मिटैगी जब बैद साँवलिया होइ ।।

[१६१]

पिया बिन रह्यो इ न जाइ ।
तन मन मेरो पिया पर वारूँ बार बार बलि जाइ ।।

---

[१६१] 'लीज्यौ कंठ लगाइ'
बाला सेज हमारी रे तूँ आव हौ बारी रे दासी तुम्हारी रे ।
तेरा पथ निहरूँ रे सुन्दर सेज सवारूँ रे जियरा तुम पर वारूँ रे ।
तेरा अँगना पेखो रे, तेरा मुखडा देखो रे तब जीवन लेखो रे ।।
मिलि सुखडा दीजे रे, यह लहर लीजे रे, तुम देखे जीजे रे ।
तेरे प्रेम कर माती रे तेरे रगडे राती रे, दादू बारणे जाती रे ।।
—दादू

बाल्हा आब हमारे गेह रे तुम बिन दुखिया देह रे ।
सब कोइ कहै तुम्हारी नारी मोको कहै अदेह रे ।
एकमेंक ह्वै सग न सूती तब लग कैसा नेह रे ।।
है कोइ ऐसा पर उपकारी हरि सो कहै सुनाइ रे ।
ऐसे हाल कबीर भए है बिन देखे जिव जाइ रे ।।

निस दिन जोहूँ बाट पिया की कब रे मिलोगे आइ ।
मीरा के प्रभु आस तुम्हारी लीज्यो कंठ लगाइ ।।

[१६२]

मै बिरहिणि बैठी जागूं जगत सब सोवै री आली ।
बिरहिणि बैठी रंगमहल में मोतियन की लड पोवै ।
इक बिरहिणि हम ऐसी देखी अँसुवन की माला पोवै ।।
तारा गिण-गिण रैण बिहानी सुख की घड़ी कब आवै ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर मिल के बिछुड न जावै ।।

[१६३]

सखी मेरी नींद नसानी हो ।

पिया के पंथ निहारत सिगरी रैण बिहानी हो ।।
सब सखियन मिल सीस दई मन एक न मानी हो ।
बिन देख्यां कल नांहि पडत जिय ऐसी ठानी हो ।।
अंगि अंगि व्याकुल भई मुख पिय पिय बानी हो ।
अंतर वेदन विरह की वह पीड न जानी हो ।।
ज्यूं चातक घन कूं रटै मछरी जिमि पानी हो ।
मीरा व्याकुल विरहिणी सुध-बुध बिसरानी हो ।।

[१६४]

मै हरि बिन क्यूं जीवूं री माइ ।।

पिय कारण बौरी भई ज्यूं काठहि घुन खाइ ।
ओखद मूल न सचरै मोहि लाग्यौ बौराह ।।
कमठ दादुर बसत जल में जलहिं तै उपजाइ ।
मीन जलके बीछुरै तन तलफि करि मरि जाइ ।।
पिव ढूँढन बन बन गई कहुँ मुरली धुन पाइ ।
मीरा के प्रभु लाल गिरधर मिलि गए सुखदाइ ।।

[१६५]

प्रभु बिना सरै माई ।
मेरा प्राण निकस्या जात हरि बिन ना सरै माई ।।
कमठ दादुर बसत जल मे जल से उपजाई ।
मीन जल से बाहर कीना तुरत मर जाई ।।
काठ लकरी बन परी काठ घुन खाई ।
ले अगन प्रभु डारि आये भसम हो जाई ।।
बन बन ढूढत मैं फिरी आली सुधि नहि पाई ।
एक बेर दरसण दीजै सब कसर मिटि जाई ।।
पात ज्यूँ परी पीरी अरु विपत तन छाई ।
दासि मीरा लाल गिरधर मिल्या सुख छाई ।।

[१६६]

रमया बिन नीद न आवै ।
नीद न आवै विरह सतावे प्रेम की आँच ढुलावै ।
बिन पिया जोत मन्दिर अँधियारो दीपक दाय न आवै ।।
पिया बिना मेरी सेज अलूनी जागत रैण विहावै ।
पिया कब रे घर आवै ।

दादुर मोर पपीहा बोलै कोयल सबद सुणावै ।
घुंमट घटा ऊलर होइ आई दामिन दमक डरावै ।
नैना झर लावै ।

---

[१६५] इस पद से मीरा के सजीले हृदय का भोलापन फूट निकला है । 'मीन जल से बाहर कीना तुरत मर जाई' मे मीरा की स्वाभाविक असहायावस्था का चित्रण है । मीरा की अल्हड़ लालसा कितनी स्वाभाविक, कितनी सहज है ! —'एक बेर दरसण दीजै सब कसर मिटि जाई' तथ 'मिल्या सुख छाई' ।

कमल जो बिगसा मानसर
बिनु जल गएउ सुखाइ ।
सूखि बेलि पुनि पलुहै
जो पिउ सीचै आइ ।।

कहा करूँ कित जाऊँ मेरी सजनी वेदन कूण बुतावै ।
बिरह नागण मोरी काया डसी है लहर लहर जिव जावै ।
जडी घस लावै ।
को है सखी सहेली सजनी पिया कू आन मिलावै ।
मीरा कूँ प्रभु कब रे मिलोगे मनमोहन मोहि भावै ।
कबै हँस कर बतलावै ।

[१६७]

सोवत ही पलका में मैं तो
पलक लगी पल में पिय आये ।
मैं जु उठी प्रभु आदर देण कूँ
जाग परी पीव ढूँढ न पाये ।
और सखी पिव सोइ गमाये
मैं जु सखी पिव जागि गमाये ।

[१६८]

आये आये जी म्हाँरो म्हाराज आये ।
निज भक्तन के काज बनाये ।
तज बैकुंठ तज्यो गरुड़ासन पवन बेग उठ धाये ।
जब ही दृष्टि पडे नदनंदन प्रेम भगति रस धाये ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कमल चित लाये ।।

[१६९]

पतियाँ मैं कैसे लिखूँ लिख ही न जाइ ।
कलम धरत मेरो तन काँपत हिरदो रहो थर्राइ ।
बात कहूँ मोहि बात न आवै नैन रहै झर्राइ ।।
किस बिध चरण कमल मैं गहिहौं सबहि अग थर्राइ ।
मीरा कहै प्रभु गिरधर नागर सब ही दुख बिसराइ ।।

---

[१६७] सुघर स्याम सखि स्वप्न मिलि सपदि सिरायो जीव ।
वै जिमि सोय गँवावती जागि गमायो पीव ।।
—अर्जुन दास

आजु सखी सपने हरि आये री ।
और सखी पिय सोइ गमावत हौं सखि साजन जागि गमायो री ।।
—सूरदास

[१७०]

प्रीतम कूँ पतियाँ लिखूँ कउवा तू ले जाइ ।
जाइ प्रीतम जी सूँ यूँ कहै थाँरी विरहणि धान न खाइ ।।
मीरा दासी ब्याकुली रे पिव पिव करत बिहाइ ।
बेगि मिलो प्रभु अंतरजामी तुम बिन रह्यौ इ न जाइ ।।

[१७१]

नींदलडी नहिं आवै सारी रात किस बिधि होइ प्रभात ।।
चमक उठी सपने सुध भूली चद्रकला न सोहात ।
तलफ तलफ जिव जाय हमारो कब रे मिलो दिनानाथ ।।
भइहूँ दिवानी तन सुध भूली कोई न जानी म्हाँरी बात ।
मीरा कहै बाताँ सोइ जानै मरण जीवण उण हाथ ।

[१७२]

नातो नाम का रे मोसो तनक न तोड़्यो जाइ ।
पानाँ ज्यूँ पीली पडी रे लोग कहे पिंड रोग ।।
छानें लाँघण में किया रे राम मिलन के जोग ।
बाबल बैद बुलाइया रे पकड़ दिखाइ म्हाँरी बाँह ।।
मूरिख बैद मरम नहिं जाणं करक कलेजा माँह ।
जा बैदाँ घर आपणे रे मेरो नांव न लेइ ।।
मैं तो दाधी बिरह की रे तूँ काहे को औषद देइ ।
मांस गले गल छीजिया रे करक रह्या गल आहि ।
आँगलिया रो मूदड़ो म्हाँरे आवण लागो बाँहि ।।
रहो रहो पापी पपीहरा रे पिव को नाम न लेइ ।
जे कोइ विरहणि साम्ले पिव कारण जिव देइ ।।
खिण मंदिर खिण आँगणे रे खिण खिण ठाढ़ी होइ ।
घायल ज्यूँ घूमूँ सदा री म्हारी बिथा न बूझै कोइ ।।
काढ़ि कलेजो मैं धरूँ रे कौवा तू ले जाइ ।
ज्याँ देसाँ म्हारो पिव बसै वै देखै तू खाइ ।।
म्हाँरे नातो नांव को रे और न नातो कोइ ।
मीरा व्याकुल बिरहिणी रे पिया दरसण दीजो मोइ ।।

[१७३]

राम मिलण के काज सखी मेरे आरति उर में जागी री।
तलफत तलफत कल न परत है विरह बाण उर लागी री।
निस दिन पथ निहारूँ पीव को पलक न पल भरि लागी री।
पीव पीव मैं रटूँ रात दिन दूजो सुधि बुधि भागी री।
विरह भुवंग मेरो डस्यो है कलेजो लहरि हलाहल जागी री॥
मेरी आरति मेटि गोसाईं आइ मिलौ मोहि सागी री।
मीरा व्याकुल अति उकलाणी पिया की उमगि अति लागी री॥

[१७४]

राम नाम मेरे मन बसियो रसियो राम रिझाऊँ ए माय।
मैं मदभागिण करम अभागिण कीरत कैसे गाऊँ ए माय॥
बिरह पिंजर की बाढ सखी री उठ कर जी हुलसाऊँ ए माय।
मन कूँ मार सजूँ सतगुरु सूँ दुरमत दूर गमाऊँ ए माय॥
जाको नाम सुरत की डोरी कड़ियाँ प्रेम चढ़ाऊँ ए माय।
सान को ढोल बन्यो अति भारी मगन होय गुण गाऊँ ए माय॥
तन करूँ ताल मन करूँ मोरचग सोती सुरत जगाऊँ ए माय।
निरत करूँ मैं प्रीतम आगे अमरापुर पाऊँ ए माय॥
मो अबला पर किरपा कीज्यो गुण गोविन्द के गाऊँ ए माय।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर रज चरणाँ की पाऊँ ए माय॥

[१७५]

स्यामसुंदर पर वार।
जीवडा मैं वार डारूँगी स्यामसुन्दर॥०॥
तेरे कारण जोग धारणा लोक लाज कुल डार।
तुम देख्याँ विन कल ना पड़त है नैन चलत दोऊ वार॥
कहा करूँ कित जाऊँ मोरी सजनी कठिन बिरह की धार।
मीरा कहै प्रभु कब रे मिलोगे तुम चरणाँ आधार॥

[१७६]

पिया इतनी विनती सुण मोरी कोई कहियो रे जाय।
औरन रसबतियाँ करत हो हम सूँ रहे चित चोरी॥

तुम बिन मेरे और न कोई मैं सरणागत तोरी।
आवन कह गये अजहुँ न आये दिवस रहे अब थोरी।
मीरा कहे प्रभु कबरे मिलोगे अरज करूँ कर जोरी।।

[१७७]

करणां सुणि स्याम मेरी।
मैं तो होइ रही चेरी तेरी।
दरसण कारण भई बावरी बिरह बिथा तन घेरी।
तेरे कारण जोगण हूँगी दूँगी नग्र बिच फेरी।
कुंज सब हेरी हेरी।।
अंग भभूत गले म्रिग छाला यो तन भसम करूँगी।
अजहुँ न मिल्या राम अबिनासी बन बन बीच फिरूँगी।
रोऊँ नित टेरी टेरी।।
जन मीरा को गिरधर मिलिया दुख मेटण सुख भेरी।
रूम रूम साता भइ उर में मिट गई फेरा फेरी।।

७८]

पिया अब घर आज्यो मेरे तुम मोरे हूँ तोरे।
मैं जन तेरा पथ निहारूँ मारग चितवत तोरे।।
अवधि बदी तो अजहूँ न आये दुतियन सूँ नेह जोरे।
मीरा कहे प्रभु कब रे मिलोगे दरसन बिन दिन दोरे।।

[१७९]

भुवनपति तुम घर आज्यो हो।
बिथा लगी तन मांहिने म्हारी तपन बुझाज्यो हो।।
रोवत रोवत डालताँ सब रैण बिहावै हो।
भूख गई निदरा गई पापी जीव न जावै हो।।
दुखिया कूँ सुखिया करो मोहि दरसण दीजै हो।
मीरा व्याकुल बिरहिणि अब बिलम न कीजै हो।।

[१८०]

आवो मनमोहना जी जोऊँ थांरी बाट।
खान पान मोहि नेक न भावै नैण न लगे कपाट।
तुम आया बिन सुख नहिं मेरे दिल में भोत उचाट।।
मीरा कहै मै भई रावरी छांड़ो नांहि निराट।।

[१८१]

आवो मनमोहना जी मीठा थाँरो बोल ।
बालपना की प्रीत रमयाजी कदे नाँहि आयो थाँरो तोल ।
दरसण बिन मोहि जक न परत हैं चित मेरो डाँवाडोल ।
मीरा कहै मैं भई रावरी कहो तो बजाऊँ ढोल ।।

[१८२]

घड़ी एक नहिं आवड़े तुम दरसण बिन मोय ।
तुम हो मेरे प्राण जी कासूँ जीवण होय ।।
धान न भावै नींद न आवै विरह सतावै मोहि ।
घायल सी घूमत फिरूँ रे मेरो दरद न जाणै कोय ।।
दिवस तो खाय गमाइयो रे रैण गमाई सोय ।
प्राण गमाइया झूरतां रे नैण गमाया रोय ।।
जो मैं ऐसा जाणती रे प्रीत कियाँ दुख होय ।
नगर ढिंढोरा फेरती रे प्रीत करो मत कोय ।।

[१८३]

दरस विन दूखन लागे नैण ।
जब से तुम बिछुरे प्रभु मोरे कबहुँ न पायो चैन ।।
सबद सुणत मोरि छतिया काँपे मीठे लागे बैन ।
बिरह बिथा कासूँ कहूँ सजनी बह गई करवत ऐन ।।
एक टक टकी पंथ निहारूँ भई छमासी रैण ।
मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे दुख मेटण सुख दैण ।।

---

[१८३] मीरा के सर्वोत्तम पदों मे यह एक अन्यतम है—इसके एक एक शब्द में मीरा के घायल हृदय की तस्वीर उतर आई है ।

'छमासी रैण'—बिरह की रात इतनी लम्बी होती है कि काटे नहीं कटती । सूरदास में भी विरह की 'छमासी रैन' का उल्लेख कई स्थलों पर आया है ।

[१८४]

तुमरे कारण सब सुख छाड़्या अब मोहि क्यूं तरसावौ हो ।
बिरह बिथा लागी उर अंतर सो तुम आय बुझावौ हो ।।
अब छोड़त नहि बणै प्रभूजी हँसि करि तुरत बुझावौ हो ।
मीरा दासी जनम जनम की अंग से अग लगावौ हो ।।

[१८५]

पिय बिना सूनो छै जी म्हाँरो देस ।
ऐसा है कोई पीव कूं मिलावै तन मन करूँ सब पेस ।
तेरे कारण बन बन डोलूं कर जोगण को भेस ।
अवधि बदी थी अजूंन आये पंडर हो गया केस ।
मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे तजि दियो नगर नरेस ।।

[१८६]

हो गये स्याम दुइज के चंदा ।
मधुवन जाइ भए मधुवनिया हम पर डारो प्रेम को फदा ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर अब तो नेह परो कछु मंदा ।।

---

[१८४] अग से अंग लगावौ हो'।

Thus does God, when he raises a soul to union with Himself suspend the natural action of all her faculties. She neither sees, hears, nor understands so long as she is united with God God establishes Himself in the interior of this soul in such a way that when she returns to herself it is wholly impossible for her to doubt that she has been in God and God in her

—*St. Thresa*

[१८५] प्रियतम के बिना मेरे लिए यह सारा संसार सूना है, उजडा है । यदि कोई मुझे उस प्रणरमण से मिला दे तो उसके हाथो बिक जाऊँ क्योंकि उन्होंने आने की जो अवधि दी थी वह बढती ही जा रही है । राह देखते-देखते बाल सफेद हो चले । प्रतीक्षा की भी हद है !

[१८७]

हो जी हरि कित गये नेह लगाय ।
नेह लगाय मेरो मन हर लीन्हो रस भरी टेर सुनाय ।
मेरे मन में ऐसी आवै मरूँ जहर बिस खाय ।।
छाँड़ि गए बिसवास सँघाती करि नेह की नाव चढ़ाय ।
मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे रहे मधुपुरी छाय ।।

[१८८]

सखी री लाज बैरण भई ।
श्रीलाल गोपाल के संग काहे नाहि गई ।।
कठिन क्रूर अक्रूर आयो साजि रथ कहँ नई ।
रथ चढ़ाय गोपाल लैगो हाथ मीजत रही ।।
कठिन छाती स्याम बिछुरत बिरहते तन तई ।
दासि मीरा लाल गिरधर बिखर क्यूँ ना गई ।।

---

[१८७] रस भरी टेर सुनाकर उसने मन मोह लिया और जब प्राण व्याकुल होकर उसके पथ मे चल पडे तो फिर उसका 'विश्वासघात' ही हाथ आया क्योकि वह 'नेह' लगा कर 'मधुपुरी' में छाये हुए है ।

यह देखना चाहिए कि भगवान् की अनेकानेक लीलाओ में से केवल मथुरागमन की लीला ही मीरा के प्रेमप्रवण हृदय को अधिक स्पर्श कर सकी क्योकि विरह को—अनन्त और अवधिहीन विरह को उभारनेवाली यह सबसे गभोर लीला है । १८६ वें पद में 'मधुवन जाइ भए मधुबनिया' में कितनी गभीर व्यग्याक्ति है—'मधुबनिया'—(मधुवन निवासी, मधु का 'बनिया') शब्द के श्लिष्टार्थ पर ध्यान दीजिए ।

[१८८] 'लाज बैरण भई'—'देखत बनै न देखते बिन देखे अकुलाहिं'—आँखो की इस बेवसी का अनुभव सभी प्रेमियो को है । प्राणनाथ को देखे बिना चैन नही मिलती और, जब 'वे' सामने आ जाते है तो आँखें लाज के मारे झप जाती है । फिर जब वह हृदयरमण आँखो से ओझल हो जाता है तो जी तडपने लगता है और मन ही मन हम अपने को धिक्कारने लगते है कि उसके विरह में अभी तक प्राणों का भार क्यो ढो रहे है । जब 'वे' आयें तो आँखे चूक गयी जब 'वे' चले गये तो फिर आँसुओं की रिमझिम !

[१८९]

अपने करम को छै दोस काकूं दीजं रे ऊधो, अपणे ॥०॥
सुणियो मेरी भैण पड़ोसण गेले चलत लागी चोट ।
पहली ग्यान मान नहि कीन्हो मैं ममता की बाँधी पोट ॥
मैं जाण्यूँ हरि नाहि तजेगे करम लिख्यो भलि पोच ।
मीरा के प्रभु हरि अविनाशी परो निवारो नी सोच ॥

[१९०]

कुण बाँचे पाती बिना प्रभु कुण बाँचे पाती ।
कागद ले ऊधोजी आए कहाँ बाल रह्या साथी ॥
आवत जावत पाँव घिस्या रे अखियाँ भई राती ।
कागद ले राधा बांचण बैठी भर आई छाती ।
नैण नीरज में अब बहे रे (बाला) गगा बहि जाती ।
पानाँ ज्यूँ पीली पड़ी रे (बाला) अन्न नहिं खाती ।
हरि बिन जिवड़ो यूँ जलै रे (बाला) ज्यूँ दीपक संग बाती
म्हांने भरोसा राम को रे (बाला) डूब तिर्यो हाथी ।
दासि मीरा लाल गिरधर सांकडारो साथी ॥

---

[१८९] अक्रूर श्रीकृष्ण और बलराम को लेकर चले गये है उस समय का यह पद है। गोपियो ने उस समय कहा था—यह अक्रूर ! इस महाक्रूर का नाम भला अक्रूर किसने रखा, प्यारे प्राणवल्लभ को रथ पर बिठा कर लिये जा रहा है। अब यह दुख सहना तो दूर रहा हमारा जीवित रहना भी कठिन है। जो सायकाल के समय गोधूलि से धूसरित माला पहने, वशी बजाते हुए बलरामजी के साथ गोपों से घिरे हुए ब्रज में प्रवेश करते समय मद मद मुसकान और कटाक्षयुक्त अवलोकन से हमारे चित्त को हरते थे उन श्रीकृष्ण के बिना हम कैसे जीवेंगी ?

'सूरसागर' मे इस स्थल के पद बडे ही मर्मिक तथा हृदय हिला देनेवाले है।

[१९०] इस पद में विरहिणी राधा का बडा ही सजीला चित्र है। कागद ले राधा बाँचण बैठी भर आई छाती'' में विप्रलभ का कितना मर्मस्पर्शी वर्णन है ! आँखो से गंगा-जमुना बह रही हैं—आँसुओ की इस धारा को देख कर मीरा कहती है—'नैण नीरज मे अबु वहे रे'—

[१९१]

लागो सोही जाणै कठण लगण दी पीर ।
विपति पड्या कोई निकट न आवै सुख में सबको सीर ।
बाहरि घाव कछू नहिं दीसै रोम रोम दी पीर ।।
जन मीरा गिरधर के ऊपर सदकै करूँ सरीर ।।

[१९२]

हे मेरो मनमोहना ।
आयो नही सखी री हे मेरो मन्मोहना ।
कै कहुँ काज किया संतन का कै कहुँ गैल भुलावना ।
कहा करूँ कित जाऊँ मोरी सजनी लाग्या हूँ बिरह सतावना ।
मीरा दासी दरसण प्यासी हरि चरणो चित लावणा ।।

[१९३]

किण सँग खेलूँ होली पिया तजि गये हैं अकेली ।
माणिक मोती सब हम छोडे गले में पहनी सेली ।
भोजन भवन भलो नहिं लागे पिया कारण भै गेली ।।

कमल-कोष से जल की धारा ढुलक रही है। राधा पके पान की तरह पीली पड गई है और हरि के बिना विरह मे उसका जीवन वैसे ही जल रहा है जैसे दीपक के साथ बाती जलती है । परन्तु तुरन्त मीरा को स्मरण हो आता है कि वह तो 'साकड़ारा साथी' है, सकट का मित्र है ।

चित दै सुनौ स्याम प्रवीन ।
हरि तुम्हारे बिरह राधा मै जु देखी छीन ।।
तज्यो तेल तमोल भूषण अंग बसन मलीन ।
कंकना कर बाम राख्यो गाढ भुज गहि लीन ।।
जब संदेसो कहन सुन्दरि गवन मोतन कीन ।
खसि मुद्रावलि चरण अरुझी गिरि धरनि बलहीन ।।
कंठ वचन न बोल आवै हृदय अँसुवनि भीन ।
नैन जल भरि रोइ दीनो ग्रसित आपद दीन ।।
उठी बहुरि सँभारि भटु ज्यो परम साहस कीन ।
सूर प्रभु कल्याण ऐसे जियहि आसा लीन ।।

मुझे दूरी क्यूं म्हेली ।
अब तुम प्रीत और सूं जोडी हमसे करी क्यूं पहेली ।
बहु दिन बीतें अजहूँ न आये लग रही तालाबेली ।।
किण बिलमाये हेली ।
स्याम बिना जिवड़ो मुरझावे जैसे जल बिन बली ।
मीरा कूं प्रभु दरसण दीज्यो जनम जनम की चेली ।
दरस बिना खड़ी दुहेली ।

[१९४]

इक अरज सुनो पिया मोरी, मैं किन संग खेलूं होरी ।
तुम तो जाय बिदेसां छाये हम से रहे चित चोरी ।
तन आभूषण छोड्या सब ही तज दियो पाट पटोरी ।।
मिलन की लग रही डोरी ।
आप मिल्याँ बिन कल न पड़त है त्यागे तिलक तमोली ।
मीरा के प्रभु मिलज्यो माधो सुणज्यो अरजी मोरी ।
दरस बिन बिरहिन दोरी ।।

[१९५]

होली पिया बिन लागे खारी सुनो री सखी मोरी प्यारी ।
सूनो गाँव देस सब सूनो सूनी सेज अटारी ।
सूनी बिरहिन पिव बिन डोलै तज दई पिव पियारी ।।
भई हूँ या दुख कारी ।
देस विदेस सदेस न पहुँचै होय अदेसा भारी ।
गिणताँ गिणताँ घिस गई रेखा आँगुलियाँ की सारी ।
अजहूँ नहिं आये मुरारी ।
बाजत झाझ मृदंग मुरलिया बाज रही इकतारी ।
आयो बसंत कंत घर नांही तन में जर भया भारी ।
स्याम मन कहाँ विचारी ।
अब तो मेहर करो मुझ ऊपर चित दै सुनो हमारी ।
मीरा के प्रभु मिलिज्यो माधो जनम जनम की कुँआरी ।।
लगी दरसण की तारी ।।

[१९६]

होली पिया बिन मोहि न भावै घर आँगण न सुहावै ।
दीपक जोय कहा करूँ हेलो पिय परदेश रहावै ।
सूनी सेज जहर ज्यूँ लागै सुसक सुसक जिया जावै ।
नींद नहिं आवै ।
कब की ठाढ़ी मैं मग जोऊँ निसदिन विरह सतावै ।।
कहा कहूँ कछु कहत न आवै हिवडो अति अकुलावै ।
पिया कब दरस दिखावै ।
ऐसा है कोई परम सनेही तुरत सदेसो लावै ।
वा बिरियाँ कद होसी मो कूँ हँसकर निकट बुलावै ।
मीरा मिल होली गावै ।।

[१९७]

मतवारो बादल आए रे हरि को सदेसो कछू न लाए रे ।
दादुर मोर पपइया बोलै कोयल सबद सुणाए रे ।
कारी अँधियारी बिजरी चमकै बिरहिन अति डरपाए रे ।
गाजै बाजै पवन मधुरिया मेहा अति झड लाए रे ।
कारी नाग बिरह अति जारी मीरा मन हरि भाए रे ।।

[१९८]

बादल देख झरी हो स्याम मै बादल देख झरी ।
काली पीली घटा उमगी बरस्यो एक घरी ।।
जित जाऊँ तित पाणीहि पाणी हुई सब भोम हरी ।।
जा का पिया परदेस बसत है; भीजूँ बार खरी ।
मीरा के प्रभु हरि अबिनासी कीज्यो प्रीति खरी ।।

[१९९]

पपइया रे पिव की वाणी न बोल ।
सुणि पावेली बिरहणी रे थारो राखैली पाँख मरोड़ ।।

[१९९-२००] मीरा अपने महल मे सोयी थी कि पास के एक वृक्ष पर से 'पपइया' ने 'पी' 'पी' की टेर लगाई । फिर क्या था मीरा ने उस 'छेडनेवाले' को सबोधित कर अपने हृदय का मधु उडेलना शुरू किया क्योकि निश्चय ही वह इस विरह की अवस्था में जले पर नमक छिडक रहा है ।

चोच कटाऊँ पपइया ऊपरि कालर लूण ।
पिव मेरा मैं पिव की रे तू पिव कहै स कूण ।।
थारा सबद सुहावन रे जो पिव मेल्या आज ।
चोच मढ़ाऊँ थारी सोवनी रे तू मेरे सिरताज ।।
प्रीतम को पतियाँ लिखूँ कउवा तू ले जाइ ।
प्रीतम जू सू यूँ कहे रे थाँरी बिरहिणि धान न खाइ ।।
मीरा दासी व्याकुली रे पिव पिव करत विहाइ ।
वेगि मिलो प्रभु अंतरजामी तुम बिन रह्योइ न जाइ ।।

[२००]

रे पपइया प्यारे कब को बैर चितार्यो ।
मैं सूती छी अपने भवन मे पिय पिय करत पुकार्यो ।।
दाध्या ऊपर लूण लगायो हिवडो करवत सार्यो ।
उठि बैठो वृच्छ की डाली बोल-बोल कंठ सार्यो ।।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर हरि चरणाँ चित धार्यो ।

पर वे सारी वस्तुएँ जो विरह के समय दाहक और दारुण प्रतीत होती थी मिलन के समय वे ही सुखद और सुहावनी मालूम होने लगती है । यदि प्रिय मिल जाय तो मीरा पपीहे की चोच को सोने से मढाने की प्रतिज्ञा लेती है । हिन्दी में इसी भाव की बहुत कविताएँ है, मीरा जैसा उनमे दर्द भले न हो । सूरदास ने भी पपीहे को संबोधित कर कई ऐसे पद कहे है ।

स्फुगत

[२०१]

अच्छे मीठे चाख चाख बोर लाई भीलनी।
ऐसी कहा अचारवती रूप नहीं एक रती।
नीच कुल ओछो जात अति ही कुचीलणी।
जूठे फल लीन्हें राम प्रेम को प्रतीत जाण,
ऊँच नीच जाने नहीं रस की रसीलणी।
ऐसी कहा वेद पढी छिन में विमान चढ़ी;
हरि जी सूँ बांध्यो हेत दास मीरा तरै जोइ,
पतितपावन प्रभु गोकुल अहीरिणी।।

[२०२]

देखत श्याम हँसे सुदामाँ कूँ देखत श्याम हँसे।
फाटी तो फूलड़ियां पांव उभाणे चलतें चरण घसे।
बालपणे का मीत सुदामा अब क्यूँ दूर बसे।।
कहा भावज ने भेंट पठाई तादुल तीन पसे।
कित गई प्रभु म्हारी टूटी टपरिया हीरा मोती लाल कसे।।
कित गई प्रभु मोरी गउवन बछिया द्वारा बिच हसती फसे।
मीरा के प्रभु हरि अविनासी सरने तोरे बसे।।

[२०३]

बंदे बंदगी मत भूल।
चार दिना की करले खूबी ज्यूँ दाडिमदा फूल।
आया था ए लोभ के कारण मूल गमाया भूल।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर रहना है बे हजूर।

[२०४]

राम नाम रस पीजे मनुआं राम नाम रस पीजे।
तज कुसग सतसग बैठ नित हरि चरणाँ सुख लीजै।।
काम क्रोध मद लोभ मोह कूँ चित से बहाय दीजे।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर ताहि के रग में भीजे।

[२०५]

मेरो मन रामहि राम रटै रे ।
राम नाम जप लीजे प्राणी कोटिक पाप कटै रे ।
जनम जनम के खत जु पुराने नामहि लेत फटै रे ।।
कनक कटोरे इम्रित भरियो पीवत कौन नटै रे ।
मीरा कहै प्रभु हरि अबिनासी तन मन ताहि पटै रे ।।

[२०६]

भज मन चरण कँवल अबिनासी ।
जेतइ दीसे धरण गगन बीच तेतइ सब उठ जासी ।
कहा भयो तीरथ व्रत कीन्हे कहा लिए करवत कासी ।।
इस देही का गरब न करणा माटी में मिल जासी ।
यो ससार चहर की बाजी साँझ पड़्या उठ जासी ।।
कहा भयो है भगवा पहर्याँ घर तज भये सन्यासी ।
जोगी होय जुगति नहि जाणी उलटि जनम फिर आसी ।।
अरज करो अबला कर जोरे स्याम तुम्हारी दासी ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर काटो जम की फाँसी ।।

---

[२०५] सभी सत, महात्मा, भक्त, ज्ञानी, वैरागी, योगी, यती, संन्यासी, औलिया, फकीर, दरवेश, आउल, बाउल, शास्त्र, पुराण, कुरान एक स्वर से नाम का महिमा गाते है । नाम के सम्बन्ध मे दो मत नही है । मीरा ने नाम-स्मरण को 'अमृत पान' कहा है ।

[२०६] इस क्षण-क्षण विध्वसी अनित्य जगत् मे प्रभु के चरणो मे शरणापन्न हो जाना ही परम पुरुषार्थ है । सन्यास या वैराग्य लेकर मन को मारना और अपनी इच्छाओ को जीतना बहुत कठिन कर्म है । मन को कही न कही टिकाव चाहिये ही । यह चचल मन कोई न कोई आधार ढूँढता है अतएव यहाँ के नाम और रूप से हटाकर प्रभु के नाम और रूप म इस मतवाले मन को डुबो दिया जाय तभी परम शान्ति मिल सकती है ।

यहाँ, इस धरती और आकाश के बीच का जब सब कुछ नश्वर ही है तो ममत्व किस पर किया जाय ? इस उटती पैठ का क्या भरासा ?

इन विरागात्मक पदो में ससार के प्रति उदासीनता का जो भाव है उसे वैरागियो की उदासीनता न समझकर भक्त की ईश्वरोन्मुखता तथा एकान्त भगवदासक्ति समझनी चाहिए । मीरा के विराग का अर्थ है भगवान के प्रति अटूट अनुराग ।

दीसे = दीखता है । जासी = जायेगा ।

'सी' प्रत्यय राजस्थानी मे सामान्य भविष्यत् में लगता है ।

[२०७]

करम गति टारे नाहि टरे ।
सतवादी हरिचद से राजा (सो तो) नीच घर नीर भरे ।।
पाँच पाडु अरु सती द्रौपदी हाड़ हिमालै गिरे ।
जग्य कियो बलि लेण इन्द्रासन सो पाताल धरे ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर बिख ते अम्रित करे ।।

[२०८]

नहि ऐसो जन्म बारंबार ।
का जानूँ कछु पुण्य प्रगटे मानुसा अवतार ।।
बढ़त छिन छिन घटत पल पल जात न लागे बार ।
बिरछ के ज्यूँ पात टूटे बहुरि न लागे डार ।।
भौसागर अति जोर कहिये अनत ऊँड़ी धार ।
राम नाम का बाँध बेडा उतर परले पार ।।
ज्ञान चौसर मडी चौहटे सुरत पासा सार ।
या दुनियाँ में रची बाजी जीत भावै हार ।।
साधु सत महंत ज्ञानी चलत करत पुकार ।
दासि मीरा लाल गिरधर जीवणाँ दिन चार ।।

---

[२०७] कर्म की गति बडी गहन है—इस सम्बन्ध मे कई दृष्टान्त देकर अन्त मे मीरा का ध्यान अपने पर जाता है तो वह सकुचा जाती है क्योंकि उसके लिये तो प्रभु ने हलाहल को अमृत कर दिया ।

[२०८] मीरा मे विरागात्मक पद बहुत थोडे मिलते है । मीरा मे वैराग्य वही मिलता है जहाँ जीवन की तुच्छता तथा अपने गम्भीर दायित्व का ध्यान आया है । ज्यो ज्यो अवस्था बढती है त्यो त्यो आयु घटती जाती है और मनुष्य मृत्यु के निकट आता जाता है । इस ससार सागर की लहरे बड़ी विकराल है । इसमे पड़ कर बडे बडे चकनाचूर हो गये । इस नश्वर ससार में केवल भगवान की भक्ति और उसमे अनन्य श्रद्धा ही मनुष्य का एकमात्र आधार है और इस महासागर से पार होने के लिये एकमात्र भगवान की कृपा का ही आसरा है ।

[२०६]

जग में जीवणा थोडा राम कुण कह रे जंजार ।
मात पिता तो जन्म दिया है करम दियो करतार ।
कइरे खाइयो कइरे खरचियो कइरे कियो उपकार ।।
दिया लिया तेरे संग चलेगा और नहीं तेरी सार ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर भज उतरो भव पार ।।

[२१०]

मनुखा जन्म पदारथ पायो एसी बहुत न आती ।
अबके मोसर ज्ञान बिचारो राम नाम मुख गाती ।
सतगुरु मिलिया सुज पिछाणी ऐसा ब्रह्म मैं पाती ।।
सतगुरु सूरा अमृत पीवे निर्गुण प्यासा जाती ।
मगन भया मेरा मन सुख में गोविद का गुण गाती ।।
साहब पाया आदि अनादी नातर भव में जाती ।
मीरा कहे इक आस आप की औराँ सूँ सकुचाती ।।

[२११]

लेताँ लेताँ राम नाम रे लोकड़िया तो लाजाँ मरे छै ।
हरि मंदिर जाताँ पाँवलिया रे दूखे फिरि आवे सारो गाम रे ।
झगड़ो थाय त्या दौडी ने जाय रे मूकी ने घर ना काम रे ।
भाँड भवैया गणिका नृत करताँ बेसी रहे चार जाम रे ।
मीराँना प्रभु गिरधर नागर चरण कमल चित हाम रे ।।

[२१२]

यहि विधि भगति कैसे होय ।
मन की मैल हिये तें न छूटी दियो तिलक सिर धोय ।
काम कूकर लोभ डोरी बाँधि मोहि चंडाल ।
क्रोध कसाई रहत घट में कैसे मिले गोपाल ।।
विलार विषया लालची रे ताहि भोजन देत ।
दीन हीन ह्वै छुधा रत से राम नाम न लेत ।।
आपहि आप पुजाय के रे फूले अंग न समात ।
अभिमान टीला किए बहु कहु जल कहाँ ठहरात ।।

जो तेरे हिय अंतर की जानै तासों कपट न बनै ।
हिरदे हरि को नाम न आवे मुखतें मनिया गनै ।।
हरी हितु से हेत कर संसार आसा त्याग ।
दासि मीरा लाल गिरधर सहज कर वैराग ।।

[२१३]

रमइया बिन यौ जिवडो दुख पावै ।
कहो कुण धीर बँधावै ।
यौ संसार कुबुधि को भाड़ो साध संगति नहिं भावै ।।
राम नाम बिन मुकुति न पावै फिर चौरासी जावै ।
साध सगति में कबहुं न जावै मूरख जनम गमावै ।

[२१४]

मेरे मन राम नामा बसी ।
तेरे कारण स्याम सुन्दर सकल लोगाँ हंसी ।।
कोई कहै मीरा भई बावरी कोई कहै कुलनासी ।
कोई कहै मीरा दीप आगरी नाम पिया सूँ रसी ।
खांड़ धार भक्ती की न्यारी काटिहै जम फँसी ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर सब्द सरोवर धसी ।।

[२१५]

गोबिन्द सूँ प्रीत करत तबहिं क्यूँ न हटकी ।
अब तो बात फैल पड़ी जैसे बीज बटकी ।।
बीच को बिचार नाहि छाँय परी तटकी ।
अब चूको तो ठौर नांही जैसे कला नटकी ।
जल के बूड़ी गाँठ परी रसना गुन रटकी ।
अब तो छुड़ाय हारी बहुत बार झटकी ।।
घर घर में घोल मठोल बानी घट घट की ।
सब ही कर सीस धारि लोक-लाज पटकी ।।
मद की हस्ती समान फिरत प्रेम लटकी ।
दासि मीरा भक्ति बुन्द हिरदय बिच गटकी ।।

[२१६]

हेली सुरत सोहागिन नार सुरत मेरी राम से लगी।
लगनी लहँगा पहिर साहागन बीती जाय बहार।
धन जोबन दिन चार का है जात न लागे वार।।
झूठे वर को के बरूँ अध बिच मे तज जाय।
बर बरिये वह साँवरो म्हारो चूडलो अमर हो जाय।।
राम नाम का चूडलो हो निरगुन सुरमो सार।।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर हरि चरणाँ बलिहार।

।। श्रीकृष्णार्पणमस्तु ।।

शब्दानुक्रमणिका

अ

आ

इ

ई

उ

प

म

य

ष

स

ह